बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी द्वारा पी-एच० डी०
की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

प्रकाशक :

सोहनलाल जैनधर्म प्रचारक समिति
गुरु बाजार
अमृतसर

प्राप्ति-स्थान :

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
आई० टी० आई० रोड, वाराणसी-५

प्रकाशन-वर्ष :

सन् १९८१

मूल्य :

तीस रुपये

मुद्रक :

एजूकेशनल प्रिंटर्स
गोला दीनानाथ, वाराणसी-२२१००१

प्रकाशकीय

डा० अर्हद्दास बन्डोबा दिघे पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी के शोध-छात्र रहे है। इन्हे जैन साहित्य विकास मण्डल, बम्बई के द्वारा प्राप्त आर्थिक सहयोग से शोध छात्रवृत्ति प्रदान की गई थी। आपने "जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन" नामक विषय पर परिश्रम-पूर्वक अपना शोध-प्रबन्ध लिखा था, जिस पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के द्वारा सन् १९७० मे पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई।

यद्यपि यह शोध-प्रबन्ध काफी पहले ही प्रकाशित होना चाहिये था किन्तु प्रकाशन हेतु आर्थिक सहयोग उपलब्ध न हो पाने के कारण जैन योग जैसे महत्वपूर्ण विषय पर लिखा गया यह शोध-प्रबन्ध अपने प्रकाशन की लम्बे समय तक प्रतीक्षा ही करता रहा। संस्था के कोषाध्यक्ष श्री गुलाबचन्दजी जैन ने इस शोध-प्रबन्ध के प्रकाशन के सम्बन्ध मे महत्तरा साध्वी श्री मृगावती जी से चर्चा की। उन्होने एवं स्व० प्रो० पृथ्वीराजजी जैन ने श्री आत्मवल्लभ जैन स्मारक शिक्षण निधि के अधिकारियो को प्रेरणा देकर इस शोध-प्रबन्ध के प्रकाशन हेतु ५ हजार रुपये का सहयोग प्रदान करवाया। इसके लिए विद्याश्रम साध्वी श्री जी का, श्री आत्म-वल्लभ जैन स्मारक शिक्षण निधि के अधिकारियो का एवं संस्था के कोषा-ध्यक्ष श्री गुलाबचदजी का अत्यन्त आभारी है कि इन सबके सहयोग के फलस्वरूप आज हम इस शोध-प्रबन्ध को प्रकाशित कर पा रहे है।

आज जब मनुष्य मानसिक तनावो और मानसिक विक्षोभो से आक्रात है और उसकी मानसिक शान्ति उससे छिन चुकी है, आज जब मानवता भौतिक सुख-सुविधाओ की अच्छी दौड मे अपने विनाश के कगार पर खड़ी हुई है, ऐसी स्थिति मे यदि आज मनुष्य को कोई उसकी शान्ति और आनन्द वापस लौटा सकता है तो वह अध्यात्म ही है। आज मनुष्य के सामने भौतिकवाद की व्यर्थता स्पष्ट हो चुकी है और मनुष्यता आध्यात्म की शीतल छाया मे आने के लिए लालायित है, जिसके स्पष्ट संकेत आज हमें पश्चिम के देशों में मिलने लगे हैं।

आज विदेशी लोग भारतीय योग साधना के प्रति अधिकाधिक

आकर्षित हो रहे हैं। जैन योग भारतीय योग परम्परा की ही एक विशिष्ट धारा है जो आचारशुद्धि के साथ-साथ विचारशुद्धि पर भी बल देती है। भारतीय योग परम्परा के सम्यक् अध्ययन के लिए जैन योग का अध्ययन भी आवश्यक है। डॉ० अर्हद्दास बन्डोवा दिगे का जैन योग सबंधी यह शोध प्रबन्ध भारतीय योग परम्परा के अध्येताओं के लिए तो उपयोगी होगा ही साथ ही साथ उन लोगो के लिए भी उपयोगी होगा जो जैन योग के सैद्धान्तिक परिचय के साथ-साथ अध्यात्म की साधना मे आगे बढना चाहते हैं।

हम सस्थान के निदेशक डा० सागरमल जैन के भी आभारी हैं जिन्होने ग्रन्थ के सम्पादन एव प्रकाशन में पूरा सहयोग दिया। साथ ही हम शोधछात्र श्री रविशकर मिश्र एव श्री मगल प्रकाश मेहता तथा एजुकेशनल प्रिटर्स के प्रति भी आभारी हैं जिन्होने इस ग्रन्थ के प्रूफ-रीडिंग एवं मुद्रण आदि कार्यो मे सहयोग देकर इस प्रकाशन को सम्भव बनाया।

भूपेन्द्र नाथ जैन
मन्त्री
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी

समर्पण

परमपूज्य जिनशासन रत्न

आचार्य प्रवर

श्री विजय समुद्र सूरि जी म० सा०

को

सादर समर्पित

जिनकी स्मृति मे यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है

ज्ञान प्रभाकर पजाब केशरी जैनाचार्य

श्री श्री १००८ श्री विजय वल्लभ सूरि जी म० सा०

जन्म	दीक्षा	आचार्य पद	स्वर्गवास
वि० स० १९२७	वि० स० १९४४	वि० स० १९८१	वि० स० २०११

जन-जन वल्लभ आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरीश्वर

मानव-सभ्यता के आदिकाल से ही भारत विश्व का आध्यात्मिक गुरु रहा है। इसे देवभूमि, ऋषिभूमि, धर्मधरा आदि के नाम से याद किया जाता रहा है। पाश्चात्य विद्वान् मैक्समूलर का मत था कि भारतीय शिशु को आध्यात्मिकता वंशपरम्परा से प्राप्त है। उपनिषदो मे उल्लेख है कि जब ऋषि याज्ञवल्क्य अपनी सासारिक संपत्ति का बँटवारा अपनी दो पत्नियो मे करने लगे तो मैत्रेयी ने कहा, 'मै उस संपत्ति को लेकर क्या करूँगी जिससे अमृतत्व की प्राप्ति नही होती।' आत्मजिज्ञासु बालक नचिकेता ने यमराज द्वारा दिए जानेवाले भौतिक वरदानो को ठुकरा कर कहा था कि मुझे तो आत्मविद्या दीजिए। प्रागैतिहासिक काल से प्रवाहित हुई सन्तो और महात्माओ की यह परंपरा इस देवभूमि भारत में अभी भी अक्षुण्ण है।

इसी शृंखला की एक कड़ी हैं ज्ञान-भास्कर, कलिकाल कल्पतरु, भारतदिवाकर, पंजाबकेसरी, युगवीर जैनाचार्य श्री श्री १००८ श्रीमद् विजयवल्लभ सूरीश्वर जी महाराज, जिन्होने प्रातःस्मरणीय, न्याया-म्भोनिधि, नवयुग-प्रवर्तक जैनाचार्य श्री श्री १००८ श्रीमद् विजयानद सूरि जी (प्रसिद्ध नाम श्री आत्माराम जी) के पट्टालंकार बनकर उनके मिशन की पूर्ति के लिए सर्वस्व की बाजी लगा दी थी। चरित्रनायक श्री विजयवल्लभ जी ने जिनधर्म-प्रचार, शिक्षा-प्रसार, जिनमन्दिरोद्धार, साहित्य प्रकाशन, साहित्य सकलन, मध्यमवर्ग उत्कर्ष, जैन एकता, राष्ट्र निर्माण आदि के ऐसे अनेक कार्य किए जो इतिहास के पृष्ठो मे स्वर्णाक्षरो मे सुदीर्घकाल तक अंकित रहेगे।

जीवन रेखा हमारे चरित्र नायक का जन्म कार्तिक शुक्ला द्वितीया (भाईदूज) वि० सं० १९२७ के दिन बड़ोदा मे हुआ था। बाल्यावस्था का नाम छगनलाल था। धर्ममना पूज्य पिताश्री दीपचद का निधन उस समय हो गया जब बालक मात्र ९ वर्ष का था। कुछ समय पश्चात् महायात्रार्थ प्रस्थान करती हुई पूज्या माता से बालक छगनलाल ने

पूछा कि मुझे किसके सहारे छोड़ रही हैं। धर्म से ओत-प्रोत माता का उत्तर था—'अरिहत की शरण'। ये शब्द छगनलाल की आत्मा से अविनाभाव संबध से बद्ध हो गए और ८४ वर्ष की आयु के अंतिम क्षण तक छगनलाल अरिहत के पादपंकजो मे तल्लीन रहे।

बालक गृहवास करता हुआ भी हृदय से संसार-विरक्त था। यही कारण है कि १७ वर्ष की आयु मे उसने तत्कालीन जैन समाज के आध्यात्मिक नेता धुरधर विद्वान् और विश्वविख्यात जैनमुनि श्री आत्माराम जी से 'आत्मधन' की याचना की। अनेक बाधाओ को पार करते हुए वि० सं० १९४४ मे छगनलाल जैनमुनि के रूप में दीक्षित हुए और उनका नाम 'वल्लभविजय' रखा गया। नाम ऐसा गुणानुरूप सार्थक सिद्ध हुआ कि वे अपने आदर्श चरित्र, शासनसेवा, समाजसेवा और राष्ट्रसेवा के कारण जन-जन के हृदय के वल्लभ-प्रिय हो गए। साधु-जीवन मे प्रवेश करते ही उन्होने व्याकरण, साहित्य. दर्शन, आगम, न्याय, काव्य, धर्मशास्त्र आदि का अध्ययन किया और उच्चकोटि के प्रतिष्ठित विद्वान् बन गए। लगभग नौ वर्ष तक उन्हे श्रीमद् विजयानन्द सूरीश्वर की छत्रछाया प्राप्त होती रही। वि० स० १९५३ मे इस महान् गुरु का स्वर्गवास हुआ। अंतिम समय मे उन्होने गुरुवल्लभ को सरस्वती मन्दिरों की स्थापना तथा पंजाब के जैनसंघो मे धर्म संस्कारो को सुदृढ़ करने का सन्देश दिया। गुरुवल्लभ ने अपने गुरु की इन अभिलाषाओ को साकार रूप देने के लिए अपने समस्त जीवन की आहुत्ति दे दी। वि० सं० १९८१ मे लाहौर मे उन्हे आचार्य पद से अलकृत किया गया और वि० स० २०११ मे बबई मे चिरनिद्रा मे लीन हो गए।

शासनसेवा—जैन परम्परा में आचार्य का पद बहुत महत्त्वपूर्ण है। अरिहंत तीर्थंकर की सद्वाणी के प्रचार और उसके सम्यक् अर्थ का उत्तरदायित्व उन्ही पर है। साथ ही चतुर्विध संघ के सन्मार्गदर्शन, नेतृत्व, धर्म मे स्थैर्य आदि का भार भी उन्ही के कधों पर है। वे स्वयं शास्त्रज्ञ, साकार आचार, कुशल नेता, आदर्शरूप और लोकप्रिय होने चाहिए। शास्त्रो के अर्थ का चयन, आचार मे उसका सस्थापन और स्वत: आचरण आचार्य के धर्म हैं। श्रीमद् विजयवल्लभ सूरि इस कसौटी पर पूरे उतरे। उन्होने श्रद्धा को पुष्ट करने के लिए अनेक जिन-मन्दिरो का निर्माण और जीर्णोद्धार कराया। कालकोठरी मे बन्द सूर्य-

की किरणों से अस्पृष्ट हस्तलिखित ग्रन्थो को बाहर निकालने की प्रेरणा दी। अहिंसा और शाकाहार का प्रचार किया। स्याद्वाद की उदार व्याख्या कर हमें सहिष्णुता का पाठ पढ़ाया और मानवता का पुजारी बनाने का भरसक प्रयास किया। एक वार वम्बई में समस्त श्रोतागण उनकी विश्वमैत्री के प्रति नतमस्तक हो गये जव उनके अन्तःकरण से दिव्यध्वनि प्रस्फुटित हुई—'न मैं जैन हूँ, न बौद्ध, न वैष्णव न शैव, न हिन्दू न मुसलमान। मैं तो वीतराग परमात्मा को खोजने के मार्ग पर चलनेवाला एक मानव यात्री हूँ।"

जैनो के चारो संप्रदायो की एकता के लिए वे इतने उत्सुक थे कि अपना आचार्य पद छोडने को सर्वप्रथम तत्पर थे। उनके अन्तिम उद्गार उनकी जीवन साधना के सजीव द्योतक है—

"मेरी आत्मा यही चाहती है कि साम्प्रदायिकता दूर होकर जैन समाज केवल महावीर स्वामी के झण्डे के नीचे एकत्रित होकर श्री महावीर की जय बोले तथा जैनशासन की वृद्धि के लिए एक जैन विश्वविद्यालय नामक संस्था स्थापित होवे।" युगवीर आचार्य श्री के ये उद्गार उनके देवलोकगमन के २० वर्ष वाद साकार हुए। भ० महावीर की २५वीं निर्वाण शताब्दी के पावन प्रसग पर जैन समाज के चारो सम्प्रदायो ने एक ध्वजा के नीचे एकत्रित होकर अपने निकट उपकारी भगवान् वर्धमान महावीर के जय-जयकार का उद्घोष किया। उस समय की एकता का दृश्य अभूतपूर्व और ऐतिहासिक था।

शासनसेवा के लिए उनमे अदम्य उत्साह था। वृद्धावस्था उन्हें पराजित करने मे सदैव असफल रही। ८० वर्ष की अवस्था मे संघ उन्हे आचार्य सम्राट् की पदवी से अलकृत करना चाहता है और वे उत्तर देते है कि 'मुझे पद नही, काम दो। मेरी चलने की, वोलने की तथा देखने की शक्ति घटी है। तुम मेरी वृद्धावस्था देखकर मुझे आराम करने की सलाह देते हो। हमारे जैसे साधु को आराम से क्या मतलब? शरीर से समाज का जितना कल्याण हो सके, उतना जीवन के अन्त तक करते रहना, हम साधुओ का धर्म है। मेरी भावना यह है कि अभी भी विहार करूँ। शिक्षण संस्थाएँ खुलवाऊँ।'

शिक्षा प्रचार के अग्रदूत तथा साहित्य सेवी—गुरुवल्लभ की सवसे महत्त्वपूर्ण और महती देन शिक्षा के क्षेत्र म है। अपने गुरुदेव के अन्तिम

आदेश को कार्यान्वित करने के लिए उन्होंने देश के विभिन्न भागों में शिक्षालयो का जाल बिछवा दिया। उनका विश्वास था कि शिक्षा के प्रचार के बिना समाज और देश की प्रगति की कल्पना निराधार है। वे कहते थे—'डब्बे में बन्द ज्ञान द्रव्यश्रुत है, वह आत्मा में आए तभी भावश्रुत बनता है। ज्ञानमन्दिर की स्थापना से सन्तुष्ट न होवो, उनका प्रचार हो, वैसा उपाय करो।' श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, श्री आत्मानन्द जैन गुरुकुल गुजरांवाला (अब पाकिस्तान), श्रीआत्मानन्द जैन कॉलेज, अम्बाला शहर, श्री उमेद जैन कॉलेज, फालना, श्रीपार्श्वनाथ जैन विद्यालय, वरकाना एवं लुधियाना, मालेर कोटला, अम्बाला शहर तथा जण्डियाला, गुरु के हाई स्कूल, अनेक कन्या विद्यालय, छात्रालय, पुस्तकालय, वाचनालय, गुरुकुल आदि गुरुवल्लभ की प्रेरणा के सुमधुर फल हैं। उनकी कृपा से बीसियों छात्रों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए सहायता और छात्रवृत्तियाँ मिली। देश के यशस्वी नेता महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय द्वारा स्थापित काशी हिन्दू विश्वविद्यालय को भी उन्होने दान दिलाया। अजैन छात्रों की भी मदद की।

शिक्षा प्रचार के साथ-साथ साहित्य प्रकाशन के कार्य को भी गति दी। हिन्दी भाषा में गद्य-पद्य में अनेक रचनाएँ कर जैन साहित्य की समृद्धि की। जन्म से गुजराती होते हुए भी उन्हे राष्ट्रभाषा हिन्दी से प्रगाढ स्नेह था। उन्होने जो कुछ लेखनीबद्ध किया अथवा वाणी द्वारा प्रगट किया, वह सब हिन्दी मे। उनके गुरु श्रीमद् विजयानन्द सूरि हिन्दी को लोकभाषा कहते थे। उनका साहित्य भी हिन्दी मे ही है। अन्तिम दिनो मे गुरुवल्लभ ने अनेक सुशिक्षित गृहस्थो से विचार-विमर्श किया कि विदेश मे जैन धर्म के प्रचारार्थ किस प्रकार के साहित्य का निर्माण किया जाए।

राष्ट्र निर्माण—गुरुवल्लभ सूरीश्वरजी ने राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन का समर्थन किया। ये शुद्ध खादी और स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग तथा प्रचार करते थे। खिलाफत आन्दोलन मे भी उन्होने आर्थिक सहायता दिलवाई। मद्यनिषेध और शाकाहार प्रचार द्वारा जनता के नैतिक जीवन का स्तर ऊँचा करने का प्रयास किया। अनेक राजनैतिक नेता उनके दर्शन करके आशीर्वाद प्राप्त करते थे।

उनकी पीयूषवाणी का पान कर प० मोतीलाल नेहरू ने धूम्रपान का त्याग कर दिया था। सद्‌शिक्षा के प्रचार को उन्होने राष्ट्रनिर्माण का प्रमुख अङ्ग माना था। जैन समाज मे शिक्षा प्रचार पर बल देनेवाले सन्तो मे गुरुवल्लभ का नाम सर्वोपरि है।

समाज का उत्कर्ष—श्रीमद् विजयानन्द सूरि तथा श्रीमद् विजय वल्लभ सूरि जैन इतिहास में इस दृष्टि से सम्भवतः अनुपम स्थान रखते हैं कि उन्होंने आत्मसाधना के साथ-साथ श्रावक, श्राविका रूपी तीर्थ की प्रगति और कल्याण की ओर भी पूरा-पूरा ध्यान दिया। 'न धर्मो धार्मिकैः विना' का आदर्श शास्त्रो मे सीमित था। उसे मूर्त रूप प्रदान करने के भागीरथ प्रयास का श्रेय गुरुवल्लभ को है। वे मानते थे कि समाज और संघ के उत्थान के लिए कोइ भी आवश्यक और विवेकपूर्ण प्रवृत्ति उतनी ही मूल्यवती है जितनी कि सच्चे त्याग की क्रिया। फलत· उन्होने समाज सुधार और मध्यमवर्ग के उत्कर्ष के लिए भी आत्मानन्द जैन महासभा की स्थापना करवाई, जैन कांफ्रेन्स बम्बई की प्रवृत्तियो को प्रेरणा दी, अनेक उद्योगशालाएँ खुलवाई, सहधर्मीवात्सल्य का वास्तविक अर्थ स्पष्ट करते हुए बताया कि इसका तात्पर्य केवल प्रीति-भोज नही, साधर्मी भाई को स्वाश्रयी बनाना है।

सक्षेप मे कहा जा सकता है कि गुरुवर श्रीविजयवल्लभ सूरीश्वर जहाँ आदर्श त्यागी, सयमी, मधुर प्रभावशाली वक्ता, धर्म और दर्शन के मर्मज्ञ विद्वान् तथा जैन शासन के उन्नायक थे, वहाँ जैन समाज के उत्थान के लिए एक मसीहा और राष्ट्रनिर्माण की प्रवृत्तियों के मूक प्रेरक भी। उनकी जीवन-ज्योति हमारे लिए प्रकाश स्तम्भ का काम देती रहेगी। जैन समाज उनकी पुनीत स्मृति मे भारत की राजधानी दिल्ली मे भव्य स्मारक का निर्माण कर अपने पुनीत कर्तव्य का पालन कर रहा है। उसकी पूर्ति जैन शासन की अनूठी सेवा होगी।

प्रो० पृथ्वीराज जैन
एम० ए०, शास्त्री

प्रस्तुत ग्रन्थ प्रकाशन में अर्थ सहयोग दाता संस्था का परिचय

श्री आत्मवल्लभ जैन स्मारक शिक्षण निधि, दिल्ली

वर्तमान युग में जैन समाज के जिन त्यागी, संयमी, तप पूत, जिन शासन दीपक आचार्यों ने समाज और देश की प्रगति के लिए अपने जीवन को निष्ठापूर्वक समर्पित किया, उनमे न्यायाम्भोनिधि, प्रातः स्मरणीय नवयुग-प्रवर्तक, जैनाचार्य श्री श्री १००८ स्व० श्रीमद् विजयानन्द सूरि (वि० सं० १८९४-१९५३) तथा अज्ञानतिमिरतरणि, कलिकालकल्पतरु, भारतदिवाकर, पंजाबकेसरी, युगवीर जैनाचार्य श्री श्री १००८ स्व० श्रीमद् विजयवल्लभ सूरीश्वर (वि० सं० १९२७-२०११) के नाम विशेष उल्लेखनीय और अविस्मरणीय हैं। जब वि० सं० २०११ (ई० १९५४) में बम्बई मे श्री विजयवल्लभ सूरिजी का देवलोकगमन हुआ, तब ही एकत्रित जनसमूह के अन्तर्हृदय से एक विचार उभर रहा था। एकाकी गुरुवल्लभ ने अपने आराध्य गुरुदेव श्रीमद् विजयानन्द सूरि के मिशन की पूर्ति के लिए अपने जीवन की आहुति दी, धर्मप्रचार और समाजसेवा के सैंकडो महान् कार्य किए। हम गुरुवल्लभ के लाखो उपकारो के ऋण से मुक्त होने के लिए क्या करें? यह निश्चय हुआ कि उनकी पुण्यस्मृति मे अखिल भारतीय स्तर पर दिल्ली मे भव्य स्मारक का निर्माण किया जाए। कुछ समय बाद श्री आत्मानन्द जैन महासभा पंजाब ने इस योजना को कार्यान्वित करने का निश्चय किया। वन्दनीया साध्वी श्री शीलवती जी तथा श्री मृगावती जी का चतुर्मास उस समय अम्बाला शहर मे था। उनकी ओजस्विनी प्रेरणा से श्री आत्मानन्द जैन महासभा के प्रमुख कार्यकर्ता बाबूराम जी प्लीडर, ला० खेतराम जी, श्री ज्ञानदास सीनियर सब जज, ला० सुन्दरलाल जी तथा प्रो० पृथ्वीराज जी आदि इस काम मे जुट गए। किन्तु कतिपय कारणो मे दिल्ली से भूमि प्राप्त करने मे सफलता न मिली। श्री ज्ञानदास जी तथा श्री बाबूराम जी के निधन से कार्य मे शिथिलता आ गई। समय का चक्र चलता रहा लगभग १८ वर्ष बीत गए परन्तु इस दिशा मे प्रगति नही हो सकी।

यद्यपि समाज की भावना को साकार होने मे विलब अवश्य हो रहा था, किन्तु निराशा नही थी। १९७२ ई० मे बड़ौदा मे स्वर्गस्थ गुरुदेव के पट्टविभूषण, जिनशासन रत्न, शान्त मूर्ति आचार्यश्री विजयसमुद्र सूरीश्वर जी ने अन्तर्दृष्टि और दूरदर्शिता से जैन भारती श्री मृगावती जी को स्मारक योजना का कार्यभार सौंपा। उन्होने गुरुभक्तिवश इसे सहर्ष स्वीकृत किया। उनके हृदय मे स्मारक विषयक आद्यप्रेरणा पुनः बलवती हुई और उन्होने निश्चय किया कि इस कार्य को पूर्ण करने के लिए उन्हे हर प्रकार का बलिदान करना होगा। अब क्या था ? विघ्न बाधाओ के अन्तराय रूप बादल फटने लगे और आशा की स्वर्णिम किरणे दृष्टिगोचर होने लगी।

साध्वी जी ने ग्रीष्मऋतु की कठिनाइयो की उपेक्षा कर दिल्ली की ओर उग्र विहार प्रारभ कर दिया। स्मारक के लिए भूखंड की प्राप्ति के निमित्त शिष्याओ सहित उन्होने अभिग्रह धारण कर लिया। ला० रतनचदजी तथा श्री मदनकिशोर ने भी अनुकरण किया। श्री आत्म-वल्लभ जैन स्मारक शिक्षण निधि ट्रस्ट की स्थापना हुई और १२-६-१९७४ को इसका पंजीकरण हुआ। १५-६-७४ को दिल्ली-पानीपत राष्ट्रीय मार्ग न० १ के २०वें कि० मी० के निशान के समीप छ. एकड भूमि खरीद ली गई। अभिग्रह पूर्ण हुआ। ३०-६-१९७४ को भगवान् महावीर के २५वे निर्वाण शताब्दी महोत्सव के मार्गदर्शन के लिए आचार्य श्री जी भी शिष्यमडल सहित दिल्ली पधारे।

निर्वाण शताब्दी महोत्सव के बाद आचार्य श्री जी ने पजाब की ओर विहार किया। २७-१२-१९७४ के दिन उन्होने स्मारक भूमि की यात्रा की तथा परिक्रमा करते हुए चारदिवारी की नीव को वासक्षेप से पवित्र किया। आकाश जयजयकार से गूज उठा। शिक्षणनिधि ट्रस्ट के सस्थापक श्री रामलाल जी दिल्ली ने सर्वश्री सुन्दरलाल जी तथा खैराती लालजी को आजीवन ट्रस्टी नियुक्त किया। तीनो ने मिलकर १२ अन्य ट्रस्टियों का चयन किया। धारा ८० (जी) के अन्तर्गत ट्रस्ट के लिए आयकर से छूट प्राप्त की गई। इस समय ट्रस्ट बोर्ड के ३५ सदस्य हैं। बोर्ड पजीकृत विधान के अनुसार कार्य कर रहा है। २४ ट्रस्टी तीन वर्ष के लिए निर्वाचित होते हैं। प्रतिवर्ष एक तिहाई ट्रस्टी अवकाश प्राप्त करते है। उनकी स्थानपूर्ति अन्य ट्रस्टी निर्वाचन द्वारा करते हैं।

तीन आजीवन ट्रस्टी बोर्ड के सदस्य है। श्री आत्मानन्द जैन महासभा एक ट्रस्टी की नियुक्ति तीन वर्ष की अवधि के लिए करती है। वर्तमान मे श्री धर्मपाल ओसवाल उनकी ओर से नियुक्त ट्रस्टी हैं। शेष ट्रस्टीगण कॉप्ट किए जाते हैं। प्रादेशिक प्रतिनिधियो पर आधारित १०१ सदस्यों की परामर्श परिषद् का भी विधान है! ट्रस्ट बोर्ड तथा प्रबंधक समिति की नियमानुसार समय-समय पर बैठक होती है। आय-व्यय का हिसाब प्रति वर्ष आडिट होता है। बोर्ड के आद्यसंरक्षक थे—जैन समाज के सर्व-सम्मत नेता, भारत के प्रसिद्ध उद्योगपति स्वर्गीय सेठ कस्तूरभाई लालभाई। इन्होने इस बात मे विशेष रुचि ली कि स्मारक का निर्माण भारतीय स्थापत्य कला के अनुसार हो। आजकल उनके सुपुत्र सेठ श्रेणिक कस्तूरभाई तथा बम्बई जैन समाज के प्रतिष्ठित नेता श्री जे० आर० शाह शिक्षण निधि के सरक्षक हैं। वर्तमान में श्री रतनचद जी जैन (देहली) प्रधान, श्री राजकुमार जैन (अम्बाला) एव श्री बलदेवकुमार जैन उपप्रधान, श्री राजकुमार जैन (रूपनगर देहली) मन्त्री तथा श्री मनोहरलालजी (रूपनगर देहली) कोषाध्यक्ष हैं। इनके अतिरिक्त श्री सत्य-पाल जैन जीरा, श्री इन्द्रप्रकाश जैन, श्री विनोद दलाल, श्री निर्मल-कुमार जैन, श्री सूरजप्रकाश जैन, श्री शांतीलाल जैन (सभी देहली) सदस्य हैं। इस प्रकार ट्रस्ट का विधान लोकतत्र की आधारशिला पर तैयार किया गया है।

आचार्य श्री जी स्मारक भूमि की यात्रा के पश्चात् पजाब की ओर चले गए। परन्तु उनका ध्यान स्मारक के काम मे केन्द्रित रहा। उन्होने जैन-भारती साध्वी श्री मृगावती जी को तथा दिल्ली श्री सघ के कार्यकर्ताओ को ३-२-७६ के पृथक्-पृथक् पत्रो मे प्रबल प्रेरणा दी कि स्मारक का कार्य शीघ्र सपन्न किया जाए। स्वर्गवास के डेढ़ मास पूर्व जगाधरी मे साध्वी जी महाराज को आशीर्वाद देते हुए उन्होने कहा "मृगावती तुम्हे स्मारक का कार्य सिद्ध करना है। मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है।"

मई १९७७ मे मुरादाबाद मे आचार्य श्री जी का स्वर्गवास हो गया। तत्पश्चात् उनके पट्टालंकार परमार क्षत्रियोद्धारक श्रीमद् विजय इन्द्र-दिन्न सूरिजी महाराज का मंगल आशीर्वाद स्मारक के शुभकार्यो जैसे भूमिखनन, शिलान्यास, कान्फ्रेंस अधिवेशन, जिनमन्दिर शिलान्यास

आदि के प्रसंगों पर पू० साध्वी जी को तथा दिल्ली श्री संघ को मिलता रहा है। पू० गुरुत्रय की कृपा से और वर्तमान आचार्य महाराज के आशीर्वाद से आज तक सफलता मिली है और भविष्य मे भी मिलेगी।

२७-७-७९ के शुभदिन साध्वी श्रीमृगावतीजी महाराज के सान्निध्य मे ट्रस्ट के प्रधान ला० रतनचन्दजी मालिक फर्म रतनचंद रिखवदास ने भूमिखनन और खाद मुहूर्त सम्पन्न किया। सैकडो गुरुभक्त उपस्थित थे। अब तो भवन निर्माण के डिज़ाइन की स्वीकृति भी सम्बन्धित अधिकारियो से प्राप्त हो गयी है। १५००० वर्ग फीट मे भवन निर्माण होगा।

२९-११-७९ को अखिल जैन समाज की २५ वर्ष से आरोपित भावना साकार हुई। समारोहपूर्वक समग्र भारत के प्रतिनिधि हजारो गुरुभक्तो की उपस्थिति मे एन० के० इण्डिया रबर कं० प्रा० लि० दिल्ली तथा मे० नरपतराय खरायती लाल फर्म के मालिक उदार हृदय, धर्मनिष्ठ, श्रावक रत्न ला० खरायतीलालजी ने अपने शुभ करकमलों से आत्म-वल्लभ संस्कृति मन्दिर का शिलान्यास किया। परम हर्ष और सौभाग्य का विषय यह है कि यह शिलान्यास समारोह और अखिल भारतीय जैन श्वेताम्बर कान्फ्रेन्स का २४वाँ अधिवेशन भी वल्लभ स्मारक की आद्य प्रेरक महत्तरा साध्वी श्री मृगावतीजी महाराज के सान्निध्य मे आनन्दपूर्वक सम्पन्न हुआ।

स्मारक निर्माण की ओर इससे अगला चरण बढा २१-४-८० को, जब स्मारक के प्रांगण मे श्री वासु पूज्य स्वामी के नूतन जिनालय का शिलान्यास महत्तरा साध्वी श्री मृगावतीजी के सान्निध्य मे श्रीराम मिल्स के प्रधान तथा मे० बाटलीवाय कम्पनी लिमिटेड के अध्यक्ष श्रीप्रताप भोगी लाल, उनके कनिष्ट भ्राता महेश भाई, पूज्या माता श्रीमती चम्पा बहन तथा परिवार के अन्य सदस्यो के शुभ करकमलो से सम्पन्न हुआ।

स्मारक के अन्तर्गत सम्भावित गतिविधियाँ

१. भारतीय एव जैन दर्शन पर शोध कार्य
२. संस्कृत एवं प्राकृत विद्यापीठ
३ विजयवल्लभ प्राच्य जैन पुस्तकालय
४ प्राचीन भारतीय दर्शन पर तुलनात्मक विवेचन
५. जैन एवं भारतीय स्थापत्य कला का संग्रहालय
६. योग और ध्यान केन्द्र

७ प्राकृतिक चिकित्सा शोध कार्य
८ जैन साहित्य और शोध साहित्य का प्रकाशन
९. पुरातन साहित्य का पुनःप्रकाशन
१० नारी शिल्प केन्द्र
११ चलता फिरता औषधालय।

भवन की रूपरेखा

श्री आत्मवल्लभ सस्कृति मन्दिर के अन्तर्गत बनेनेवाले भवन आदि की रूपरेखा सामान्यत इस प्रकार है—

कलात्मक प्रवेश द्वार से लगभग ३०० फीट अन्दर, ८४ फीट ऊँचा पुरातन जैन कला के अनुरूप एक भव्य प्रासाद निर्मित होगा। भवन की Plinth (स्तम्भपीठ) सड़क से १३' फीट ऊँची होगी। इसके बीच में ६ फीट दीर्घा से घिरा हुआ ६३ फीट व्यास का रंगमडप बनेगा। सीढियो पर श्रृंगार चौकियाँ तथा ऊपर साभरण इसे सुशोभित करेंगे। पीछे स्थित शोध ब्लाक मे प्राकृतिक चिकित्सा पर शोध कार्य, शिवाविद्, प्रबन्धको तथा पर्यटकों के निवास का प्राविधान है। समूचे भवन के नीचे भूतलघर (बेसमेन्ट्) मे पुस्तकालय, विद्यापीठ, संग्रहालय तथा प्रकाशन विभाग होगा। प्रवेशद्वार से भवन तक पहुँचने का रास्ता फुलवारियो तथा फव्वारो से युक्त होगा। पक्के रास्ते के मध्य क्वचित् छोटी-छोटी सीढियाँ होगी जिससे दर्शनार्थी सहज मे १३ फुट को चौकी तक पहुँच सकेगा। सार्वजनिक सभाओ के लिए पीछे खुला प्रागण होगा। पर्यटको के लिए जलपान गृह की भी व्यवस्था होगी।

निर्माणाधीन स्मारक का नाम 'आत्मवल्लभ सस्कृति मन्दिर' रखा गया है। स्मारक भवन के निर्माण मे पाँच-सात वर्ष का समय अपेक्षित है। व्यय का अनुमान एक करोड़ है, सम्भव है परिस्थितिवश इससे भी अधिक हो। आज तक पू० महत्तरा साध्वी श्री मृगावतीजी महाराज की ओजस्वी प्रेरणा से ५५ लाख की धनराशि के वचन मिले हैं। प्रबन्धको की अभिलाषा है और प्रयास है कि जहाँ स्मारक भवन भारतीय और जैन स्थापत्य कला का अतीव सुन्दर भव्य और आकर्षक प्रतीक हो वहाँ साहित्यिक, अनुसंधान, अध्ययन, प्रकाशन आदि प्रवृत्तियो का प्रमुख केन्द्र हो। हम चाहते हैं कि देश विदेश के जिज्ञासु यहाँ से लाभान्वित हो और यह परम पावन स्मारक स्वाध्याय, योग, ध्यान और साधना का प्रेरणा केन्द्र बने। —राजकुमार जैन, मन्त्री

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन की प्रेरणा स्रोत

महत्तरा साध्वी श्री मृगावती जी म० सा०

लगभग ५२ वर्ष पूर्व विक्रम संवत् १९८२में चैत्र मास के शुक्ल पक्ष मे सप्तमी के दिन राजकोट (सौराष्ट्र) से १६ मील दूर सरधार नगर में श्री डूंगरशी भाई की धर्मपरायणा अर्धांगिनी श्रीमती शिवकुवंरबहिन ने सरस्वतीरूपा एक पुण्यशीला बालिका को जन्म दिया। दो भाइयों की एकमात्र बहिन भानुमती को पाकर समस्त परिवार प्रसन्नचित था। किन्तु सुख और दुःख का चक्र अबाध गति से चलता रहता है। अभी बालिका की दो वर्ष की आयु भी पूर्ण न हुई थी कि पिता स्वर्गवासी हो गए। कुछ ही वर्षों बाद दोनों प्रिय भ्राता अपनी पूज्य माता और प्यारी बहिन को असहाय छोड़कर अपने पिताश्री के पास ही पहुँच गए। इससे माता के हृदय को बड़ा आघात लगा। संसार की अनश्वरता का बोध इतना तीव्र बन गया कि सांसारिक मोह-माया को तोड़कर भागवती दीक्षा लेने की प्रेरणा बलवती हो गई। माता शिवकुंवर साध्वी शीलवती बनी और पुत्री निजशिष्या के रूप मे साध्वी मृगावती बन गई।

पूज्य साध्वी शीलवती जी का लक्ष्य यही रहा कि "मृगावती" अधिक से अधिक आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त कर जगत् को ज्ञान-प्रकाश दे सके।

साध्वी श्री मृगावती जी ने भी विद्या अध्ययन में अपना मन लगा दिया। श्री छोटेलाल जी शास्त्री, पं० बेचरदास जी दोशी, प० सुखलाल जी, पं० दलसुखभाई मालवणिया, आगम प्रभाकर मुनि श्री पुण्यविजय जी आदि विद्वत् वर्ग के सान्निध्य में आपका अध्ययन हुआ।

१९५३ मे कलकत्ता में हुई सर्व-धर्म-परिषद् में जब आपने जैन धर्म का प्रतिनिधित्व किया तो आपकी भाषण कला और ज्ञान की धाक् चारो ओर फैल गयी। लाखों की सख्या में जैन और अजैन आपका सार्वजनिक भाषण सुनने को लालायित रहने लगे।

पजाब-केसरी श्री गुरुवल्लभ ने आपको योग्य जानकर पजाब पधारने का आदेश भेजा। गुरु-आज्ञा शिरोधार्य कर आपने तुरन्त कलकत्ता से विहार कर दिया।

मार्ग में पावापुरी में भारत सेवक समाज का शिविर लगा था। श्री गुलजारीलाल नन्दा ने जब सुना कि महासती जी शीलवती व मृगावती जी उधर आ रही है तो उन्होने तुरन्त आगे जाकर शिविर मे पधारने की विनती की। आप श्री जी का सार-गर्भित प्रवचन सुनकर बहुत प्रभावित हुए। उस प्रवचन मे लगभग ८०,००० की उपस्थिति थी।

मार्ग मे आपने झरिया मे देवशी भाई को मन्दिर और उपाश्रय बनवाने की प्रेरणा दी। १२०० मील का लम्बा रास्ता तय करते हुए आपने पजाब मे प्रथम चातुर्मास अम्बाला मे किया। अम्बाला मे जन-जागरण कर वल्लभविहार की नीव रखी। अम्बाला के कॉलेज के दीक्षान्त समारोह मे श्री मुरारजी भाई आपके प्रवचन को सुनकर बहुत ही प्रभावित हुए।

पजाब मे फैली कुरीतियो को देखकर आपका मन बडा दु:खी हुआ और समाज के लिए कुछ ठोस कार्य करने की मन मे धारणा लिये आपने लुधियाना नगर मे इन कुरीतियो के विरुद्ध युद्ध का बिगुल बजा दिया। समाजसुधार के सार्वजनिक भाषणो की धूम मच गयी, जैन-अजैन पूरी रुचि और श्रद्धा से आपकी शरण मे आने लगे। सैकड़ों युवको ने दहेज न लेने की प्रतिज्ञाएँ की, सैकड़ो परिवारो ने कुटुम्बी के मरणोपरान्त स्यापा इत्यादि का त्याग किया। जैन स्कूल के निर्माण के लिए दान की महिमा पर आपके ओजस्वी भाषण को श्रवण कर उपस्थित लोगो ने अपने आभूषण तक उतारकर दान कर दिये। जन-जागरण करते हुए आपने सारे पजाब का भ्रमण किया और आपकी ही योजना से लुधियाना मे सन् १९६० मे जिनशासन-रत्न आचार्य श्री विजयसमुद्र सूरीश्वर जी के सान्निध्य में अखिल भारतीय जैन श्वेताम्बर कान्फ्रेन्स का सफल आयोजन हुआ।

स्थानकवासी सम्प्रदाय के प्रकाण्ड विद्वान् सरलात्मा जैनागम-रत्नाकर आचार्य सम्राट श्री आत्मारामजी महाराज आपके विद्याभ्यास से विशेष प्रभावित हुए और आपको मार्ग-दर्शन देते रहे।

कुछ वर्ष पंजाब में विचरकर विद्याभ्यास के लिए आप फिर अहमदाबाद मे आगम-प्रभाकर श्रीपुण्यविजयजी म० सा० के पास विद्याध्ययन करने चली गयी। वहाँ से सौराष्ट्र, बम्बई, मैसूर, बगलोर, मद्रास इत्यादि क्षेत्रो मे विचरते हुए दिगम्बर सम्प्रदाय के तीर्थ-क्षेत्र मूलबिद्री मे जाने

वाली प्रथम श्वेताम्बर जैन साध्वी आप थी। बम्बई मे वल्लभ शताब्दी के सफलतापूर्वक सम्पन्न होने मे आपका सक्रिय योगदान रहा, चाहे आप उस समय बगलोर मे थी।

बड़ौदा में गुरुदेव की आज्ञा से आपने साध्वी-सम्मेलन किया और साध्वी वर्ग को समाज-कल्याण के कार्यों में आगे आने की प्रेरणा दी।

वल्लभ-स्मारक देहली का काम कई वर्षों से रुका हुआ था, अतः वहीं गुरुवर्य श्री विजयसमुद्र सूरिजी ने आदेश दिया कि इस कार्य को आप ही सम्पन्न करें। गुरु-आज्ञा पाकर आप साहस के साथ उस कार्य मे जुट गयी तथा समाज को योग्य मार्ग-दर्शन देकर वह कार्य सम्पन्न करवाया। गुरुदेव श्री विजयसमुद्र सूरीश्वर जब पंजाब से मुरादाबाद प्रतिष्ठा करवाने हेतु जा रहे थे, तब उन्होंने आपको जगाधरी मे आदेश दिया था कि पजाब की सार-सभाल ले तथा लुधियाना, कागडा और लहरा के काम पूरे करें, गुरु का विश्वास आपका शक्तिसम्बल बना, आपके सद्-प्रयासो के फलस्वरूप सभी अधूरे रहे हुए कार्य सम्पन्न हुए।

आपकी तीन शिष्याएँ श्री सुज्येष्ठा श्री जी, श्री सुव्रता श्री जी और श्री सुयशा श्री जी जहाँ आपके प्रत्येक कार्य में अपना पूरा सहयोग देती है, वही अपने आत्मसाधना के पथ को भी प्रशस्त कर रही हैं।

—गुलाबचन्द जैन
कोषाध्यक्ष
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान

प्रास्ताविक

भारतीय संस्कृति की अविच्छिन्न और विशाल परम्परा मे विभिन्न मत-वादो या आचार विचारो का अद्भुत समन्वय है। यद्यपि वे विभिन्न आचार-विचार अपनी विशिष्टताओ के कारण अपना अलग-अलग अस्तित्त्व रखते हैं, तथापि उनमे एकसूत्रता भी पर्याप्त है। कितने ही ऐसे तत्त्व हैं, जो प्रकारान्तर से एक दूसरे के पर्याय अथवा एक दूसरे के पूरक हैं। भारतीय योग-परम्परा भी इस दृष्टि-बोध का अपवाद नही है। योग परम्परा मे भी भारत की प्रमुख तीन धाराएँ अन्तर्भुक्त हैं—वैदिक, बौद्ध एवं जैन। कुछ सदर्भो मे साम्य होते हुए भी तीनो का अपना वैशिष्ट्य है, जिन पर इनकी अपनी सस्कृति की छाप स्पष्ट है। वैदिक धारा मे योग विषयक विवेचन-विश्लेषण अधिकता से हुआ है, बौद्ध धारा मे भी योग की व्याख्या अनेकविध हुई है, लेकिन जैनधारा मे योग के सम्यक् एव आलोचनात्मक उपवृहण की अपेक्षा सर्वदा रही है और इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर प्रस्तुत शोध-प्रबंध का उपस्थापन हुआ है। वस्तुत जैन योग परम्परा की सम्यक् व्याख्या, उसके बिखरे हुए अवयवो का संगठन तथा विशाल योग वाङ्मय का सुसम्बद्ध अध्ययन तथा तत् प्रसूत तत्त्वों का प्रस्तुतीकरण अपने आप मे एक महार्थ प्रयास की अपेक्षा रखता है। इस दृष्टि से लेखक का यह प्रयास श्रमसाध्य अवश्य है, लेकिन समयसाध्य भी है। लेखक ने प्रयास किया है कि जैन योग का एक स्पष्ट स्वरूप, उसकी व्याख्या, सम्बद्ध अवयवों का उद्घाटन यथाशक्य प्रस्तुत किया जाय ताकि भारतीय योग के अध्येताओ को एक सुलझी दृष्टि प्राप्त हो सके, क्योकि बिना जैन योग का अध्ययन चिन्तन किए सम्पूर्ण भारतीय योग परम्परा का ज्ञान अधूरा ही रहेगा। इसी सिलसिले मे लेखक ने यह भी ध्यान रखा है कि जैन योग के विभिन्न सदर्भों मे भारतीय अन्य योग परम्पराओ के विचारो का भी यथाशक्य तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत हो।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध सात अध्याओ मे विभक्त है। 'भारतीय परम्परा मे योग' नामक पहले अध्याय मे सर्वप्रथम योग-परम्परा की पृष्ठभूमि, योग शब्द एवं उसका अर्थ, योग का स्रोत एवं उसके क्रमिक-विकास पर प्रकाश डालने का प्रयास है। इसमे वेद, उपनिषद्, महाभारत, गीता, स्मृति, भागवतपुराण, योगवासिष्ठ आदि ग्रथो मे प्रतिपादित योग-विषय की चर्चा की गई है। साथ

ही हठयोग, नाथयोग, शैवयोग, पातंजल-योग, अद्वैत दर्शन आदि के अनुसार भी योग के विभिन्न अगो का विवेचन-विश्लेषण हुआ है, क्योकि वैदिक वाङ्मय के सर्वेक्षण के बिना योग-परम्परा का न विकास ही दिखाया जा सकता है और न भारतीय योग परम्परा का समुचित मूल्यांकन ही हो सकता है। इसी अध्याय मे बौद्ध परम्परा सम्मत योग का भी दिग्दर्शन कराया गया है क्योंकि इसके अभाव मे जैन योग का समुचित विश्लेषण कर पाना संभव नहीं। अतः इस अध्याय का उपयोग वस्तुतः इस शोध-प्रबंध मे पीठिका स्वरूप है।

दूसरे अध्याय मे 'जैन योग साहित्य' का समुचित परिचय दिया गया है, क्योकि जैन योग-विषयक ग्रंथो के विवेचन-विश्लेषण से ही जैन योग का समुचित स्वरूप स्थिर किया जा सकता है और विकास-क्रम भी स्थिर किया जा सकता है। जैन योग विषयक प्रमुख ग्रथ इस प्रकार हैं---ध्यानशतक, मोक्षपाहुड, समाधितंत्र, तत्त्वार्थसूत्र, इष्टोपदेश, योगबिन्दु, परमात्मप्रकाश, योगसार, योगशतक, ब्रह्मसिद्धान्तसार, योगविंशति, योगदृष्टिसमुच्चय, षोडशक, आत्मानुशासन, योगसार-प्राभृत, ज्ञानसार, ध्यानशास्त्र अथवा तत्त्वानुशासन, योगशास्त्र, ज्ञानार्णव आदि।

'योग का स्वरूप' नामक तीसरे अध्याय मे योग का महत्त्व एव लाभ; योग के लिए मन की समाधि एवं प्रकार, योगसग्रह, गुरु की आवश्यकता एव महत्त्व, आत्मा-कर्म का सबध, योगाधिकारी के भेद, आत्मविकास मे जीव की स्थिति, चित्तशुद्धि के उपाय, योग के विभिन्न प्रकार एवं अनुष्ठान, योगी के प्रकार, जप तथा उसका फल, कुण्डलिनी का महत्त्व आदि विषयो का वर्णन किया गया है, ताकि जैन योग के स्वरूप का विवेचन स्पष्टतापूर्वक हो सके। वस्तुत. उक्त विषयो के प्रतिपादन से ही जैन योग की सर्वांगीण व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है।

चौथे अध्याय मे 'योग के साधन-आचार' के विषय मे विचार किया गया है। इस अध्याय के दो परिच्छेद हैं—प्रथम परिच्छेद के अंतर्गत वैदिक एव बौद्ध परम्परान्तर्गत आचार पर संक्षिप्त टिप्पणी प्रस्तुत की गई है और प्रमुख रूप से जैन आचार के अन्तर्गत श्रावकचार-विषयक आचार-नियमो का उल्लेख किया गया है। इस सदर्भ मे अणुव्रत, रात्रिभोजनविरमणव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत, प्रतिमाएँ एवं सत्कर्मों का निरूपण क्रमशः हुआ है। दूसरे परिच्छेद में श्रमण के आचार-नियमो का प्रतिपादन किया गया है। इसमे पंचमहाव्रत एव उनकी भावनाएँ, गुप्तियाँ एवं समितियाँ, षडावश्यक, धर्म, अनुप्रेक्षाएँ,

सलेखना, परीषह, तप, उसका महत्त्व एवं उसके भेद, विभिन्न परंपराओं मे तप का विवेचन, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार एवं धारणा का यथाशक्य प्ररूपण हुआ है। जैन योग की स्पष्टता के लिए इस अध्याय का भी बडा महत्त्व है, क्योंकि योग और आचार का सबध परम्परावलम्बी है। अत: उक्त आचार-नियमो के पर्यालोचन से ही जैनयोग के पोषक तत्त्वो का परिज्ञान हो सकता है।

'योग के साधन रूप-ध्यान' की व्याख्या करना पाँचवें अध्याय का प्रतिपाद्य है, जिसके अन्तर्गत सर्वप्रथम वैदिक एव बौद्ध योग में ध्यान की स्थिति, स्वरूप एव प्रकार आदि की चर्चा है और बाद मे जैन योग के अनुसार ध्यान की विस्तृत व्याख्या की गई है। व्याख्या के क्रम मे प्रयत्न किया गया है कि जैन-योगानुसार ध्यान के विभिन्न अगो-प्रत्यगो का समुचित प्रतिपादन हो, क्योंकि ध्यान योग का प्रमुख अंग है और बिना इसके समुचित विवेचन के जैनयोग संबंधी ज्ञान का सम्यक्रूप से प्रतिपादन नही किया जा सकता।

छठे अध्याय का विषय आध्यात्मिक-विकास है, जिसके अन्तर्गत क्रमश वैदिक एवं बौद्ध योग के अनुसार क्रमिक आध्यात्मिक विकास का वर्णन हुआ और इसके बाद जैन योगानुसार आध्यात्मिक विकास की विस्तृत भूमिकाएँ प्रस्तुत की गई हैं। इन्ही सन्दर्भो मे क्रमश कर्म, आत्मा तथा कर्म का सम्बन्ध, लेश्याएँ, गुणस्थानो का वर्गीकरण तथा योगविहित आठ दृष्टियो का समुचित प्रतिपादन किया गया है। इसी क्रम में आध्यात्मिक विकास के अन्यान्य सोपानो की भी चर्चा हुई है। वस्तुत: यह अध्याय योग फलित अध्यात्म विकास की ही विवृत्ति करता है। इसलिए यह अध्याय भी योग का ही पूरक सन्दर्भ है।

सातवें अध्याय का विषय 'योग का लक्ष्य-लब्धिया एवं मोक्ष' है, जिसमें वैदिक, बौद्ध एव जैन परम्पराओ मे वर्णित विभिन्न लब्धियो का तथा मोक्ष का विचार किया गया है और योगानुसार सिद्धजीवो के प्रकारो तथा उनकी स्थिति का वर्णन किया गया है। अध्याय का सर्वोपरि महत्त्व इसलिए है कि इसमे योग के लक्ष्य-तत्त्व निर्वाण या मोक्ष का प्रतिपादन हुआ है।

इस प्रकार जैन योग पर सर्वाङ्गीण विवेचन प्रस्तुत करते हुए शोध-प्रबध के अन्त मे 'उपसहार' लिखा गया है, जिसमें जैन योग की मौलिक विशिष्टताओ का निदर्शन हुआ है। यद्यपि जैन योग कुछ अशो मे सामान्य भारतीय योग परपरा का ही अनुकरण करता है तथापि कुछ अंशो मे अपना स्वतन्त्र वैशिष्ट्य भी रखता है, जो इसकी मौलिक देन है।

इस शोध प्रबन्ध के सन्दर्भ मे लेखक सर्वप्रथम गुरुवर डॉ० मोहनलाल मेहता (अध्यक्ष, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान, वाराणसी) का आभारी

है जिनके सम्यक् निर्देशन, स्नेह तथा प्रेरणा से यह शोध प्रबन्ध यथासमय पूरा हो सका। गुरुवर डॉ० आर० एस० मिश्र (कार्यकारी अध्यक्ष, भारतीय दर्शन एव धर्म-विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) के प्रति लेखक नम्रीभूत है, जिनसे वह समय-समय पर शोधसम्बन्धी विचारो से उपकृत होता रहा है। डॉ० ए० एन० उपाध्ये (डीन, फैकल्टी ऑफ आर्टस्, शिवाजी युनिवर्सिटी, कोल्हापुर) डॉ० टी० जी० कलघटगी (प्रिन्सिपल, कर्नाटक कॉलेज, मारवाड़) और डॉ० जी० सी० चौधरी (प्रो० नवनालन्दा पाली शोधसंस्थान, बिहार) वस्तुत' लेखक के प्रेरणास्रोत ही रहे है, इसलिए लेखक उनका हृदय से कृतज्ञ है। लेखक उपाध्याय श्री अमरमुनिजी महाराज और मुनि श्री विद्यानन्दजी महाराज आदि का भी अत्यन्त ऋणी है, क्योकि उन्होने सदा स्नेह तथा ज्ञान द्वारा उसे प्रोत्साहित किया है। इनके अतिरिक्त लेखक डॉ० वा० के० लेले (रीडर, मराठी विभाग, का० हि० वि० वि०), डॉ० एल० एन० शर्मा, (अध्यापक, दर्शन विभाग, का० हि० वि० वि०), श्री एन० एच० हिरेमठ स्वामी, (तन्त्रयोग विभाग, वा० स० विश्वविद्यालय) डॉ० ए० एस० डी० शर्मा, (सीनियर फेलो, भारतीय दर्शन एवं धर्म विभाग, का० हि० वि० वि०), डॉ० वी० एन० सिन्हा, श्री हरिहर सिह, श्री कपिलदेव गिरि तथा केसरीनन्दनजी को भी नही भूल सकता, जिनका स्नेह और सद्भाव पाकर उसने सतत् गतिशील बने रहने का प्रयास किया है। पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी का तो लेखक अत्यन्त आभारी है ही, जहाँ से उसे दो वर्ष तक शोधवृत्ति प्राप्त हुई है तथा अन्य अनेक सुविधाएँ मिली हैं। एल० डी० इन्स्टिट्यूट, अहमदाबाद तथा स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी के प्रति भी लेखक आभारी है जिनकी पुस्तको का उपयोग किया गया है।

अन्त मे, लेखक यह स्पष्ट कर देना चाहता है कि उसने अहिंदी भाषी होते हुए भी राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति अनुराग के कारण ही प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध हिन्दी मे लिखने का उपक्रम किया है। इसलिए भाषाविषयक त्रुटियो का होना स्वाभाविक ही है इसके लिए सुधी पाठकगण उसे स्नेहपूर्वक क्षमा करेंगे ऐसी अपेक्षा है।

अध्यक्ष
दर्शन शास्त्रविभाग,
कराड कला एव वाणिज्य महाविद्यालय
सतारा (महाराष्ट्र)

अर्हद्दास बंडोबा दिगे

अनुक्रमणिका

: १ : भारतीय परम्परा में योग

'योग' शब्द भारतीय सस्कृति तथा दर्शन की वहुमूल्य सम्पत्ति है। योगविद्या ही एक ऐसी विद्या है जो प्रायः सभी धर्मो तथा दर्शनो मे स्वीकृत है। यह ऐसी आध्यात्मिक साधना है जिसे कोई भी बिना किसी वर्ण, जाति, वर्ग या धर्म-विशेष की अपेक्षा के अपना सकता है। प्राचीन भारतीय धर्म, पुराण, इतिहास आदि के अवलोकन से ज्ञात होता है कि योग-प्रणाली की परम्परा अविच्छिन्न रूप मे चलती आयी है। वैदिक तथा अवैदिक वाङ्मय मे आध्यात्मिक वर्णन वहुलता से पाया जाता है। इनका अन्तिम साध्य उच्च अवस्था की प्राप्ति है और योग उसका एक साधन है।

जैसे चिकित्सा-शास्त्र में चतुर्व्यूह के रूप में रोग, रोग का कारण, आरोग्य और उसका कारण वर्णित है, वैसे ही योगशास्त्र में भी चतुर्व्यूह का उल्लेख है—ससार, ससार का कारण, मोक्ष और मोक्ष का साधन।[1] चिकित्सा-शास्त्र के समान ही योग भी आध्यात्मिक साधना के लिए चार वाते स्वीकार करता है: (१) आध्यात्मिक दु.ख, (२) उसका कारण (अज्ञान), (३) अज्ञान को दूर करने के लिए सम्यग्ज्ञान एव (४) आध्यात्मिक वन्धन से मुक्ति अथवा पूर्णता की सिद्धि। इस प्रकार सभी आध्यात्मिक साधनाएँ इन चारो सिद्धान्तो को स्वीकार करती हैं, भले ही विभिन्न परम्पराओ मे ये विभिन्न नामो से व्यवहृत हुए हो।

योगसाधना को एक विशिष्ट क्रिया माना गया है, जिसके अन्तर्गत अनेक प्रकार के आचार, ध्यान तथा तप का समावेश है। परन्तु इन सवका लक्ष्य आत्मा का विकास ही है और इसके लिए मनोविकारो को जीतना आवश्यक है।

यौगिक क्रियाओ के आदर्श विभिन्न ग्रन्थो मे अलग-अलग हैं,

---

१. यथा चिकित्साशास्त्र चतुर्व्यूहम्—रोगो रोगहेतुरारोग्यं भेपज्यमिति। एवमिदमपि शास्त्र चतुर्व्यूहम्। तद्यथा ससारः संसारहेतुर्मोक्षो मोक्षोपाय इति। तत्र दु.खबहुल. संसारो हेयः। —योगदर्शन, व्यासभाष्य, २।१५

जिनका वर्णन आगे किया जायेगा। यहाँ संक्षेप मे उनका सार बता देना अभीष्ट है, जिससे कि प्रस्तुत विषयवस्तु का अर्थ स्पष्ट हो सके। उपनिषद् मे जहाँ योग को ब्रह्म के साथ साक्षात्कार करानेवाली क्रिया के रूप मे स्वीकार किया गया है, वहाँ गीता मे कर्म करने की कुशलता का ही नाम योग है। योगदर्शनानुसार जहाँ चित्तवृत्ति का निरोध ही योग माना गया है, वहाँ बौद्धयोग में उसे बोधिसत्त्व की प्राप्ति करानेवाला कहा गया है। जैनयोग मे आत्मा की शुद्धि करानेवाली क्रियाएँ ही योग हैं। इस तरह योग को किसी-न-किसी प्रकार आत्मा को उत्तरोत्तर विकसित करनेवाले साधन के रूप मे स्वीकार किया गया है।

'योग' शब्द एवं उसका अर्थ

'योग' शब्द 'युज्' धातु से बना है। संस्कृत-व्याकरण मे दो युज् धातुओ का उल्लेख है, जिनमे एक का अर्थ जोडना या संयोजित करना है[१] तथा दूसरे का समाधि, मन:स्थिरता है।[२] अर्थात् सामान्य रीति से योग का अर्थ सम्बन्ध करना तथा मानसिक स्थिरता करना है।[३] इस प्रकार लक्ष्य तथा साधन के रूप में दोनो ही योग हैं। इस शब्द का उपयोग भारतीय योगदर्शन मे दोनो अर्थों मे हुआ है। 'योग' शब्द का सम्बन्ध 'युग' शब्द से भी है जिसका अर्थ 'जोतना' होता है, और जो अनेक स्थलो पर इसी अर्थ मे वैदिक साहित्य मे प्रयुक्त है। 'युग' शब्द प्राचीन आर्य-शब्दो का प्रतिनिधित्व करता है। यह जर्मन के जोक (Jock), ऐंग्लो-सैक्सन Anglo-Saxon) के गेओक (Geoc), इउक (Iuc), इओक (Ioc), लैटिन के इउगम (Iugum) तथा ग्रीक जुगोन (Zugon) की समकक्षता या समानार्थकता मे देखा जा सकता है।[४] गणितशास्त्र मे दो या अधिक संख्याओ के जोड़ को योग कहा जाता है।

भारतीय दर्शन का अन्तिम उद्देश्य मुक्ति की प्राप्ति है और उसके लिए योगदर्शन, बौद्धदर्शन तथा जैनदर्शन मे क्रमश कैवल्य, निर्वाण तथा मोक्ष शब्द का प्रयोग हुआ है, जो अर्थ की दृष्टि से समान ही हैं।

---

१. युजपी योगे।—हेमचंद्र, धातुमाला, गण ७

२. युजिच समाधौ।—वही, गण ४

३. दर्शन और चिंतन, प्रथम खण्ड, पृ० २३०

४. Yoga Philosophy, p. 43

विभिन्न दर्शनो के विभिन्न मार्ग होने पर भी फलितार्थ सबका एक ही है, क्योकि चित्तवृत्तियो की एकाग्रता के बिना न मोक्षमार्ग उपलब्ध होता है, न आत्मलीनता सधती है। अत. चञ्चल मन प्रवृत्तियो को रोकना अथवा उनका नियन्त्रण करना सभी दर्शनो का उद्देश्य रहा है।

पतजलि ने चित्तवृत्तियो के निरोध को ही योग कहा है।[1] यहाँ निरोध का अर्थ चित्तवृत्तियो को नष्ट करना है। लेकिन इस परिभाषा पर आपत्ति उठाते हुए कहा गया है कि चित्तवृत्तियो को दुर्बल या क्षीण किया जा सकता है, परन्तु उनका पूर्ण निरोध सम्भव नही है। वृत्तियो के प्रवाह का नाम ही चित्त है, और चित्तवृत्ति के पूर्ण निरोध का मतलब होगा—चित्त के अस्तित्व का ही लोप तथा चित्ताश्रितभूत समस्त स्मृतियो और सस्कारों का नाश। निरुद्धावस्था में कर्म तो हो ही नही सकता और उस अवस्था मे कोई सस्कार भी नही पड़ सकता, स्मृतियाँ नही बन पाती, जो समाधि से उठने के बाद कर्म करने मे सहायक होती हैं।[2] योगदर्शन के भाष्यकार महर्षि व्यास ने 'योग समाधि'[3] कहकर योग को समाधि के रूप मे ग्रहण किया है, जिसका अर्थ है समाधि द्वारा सच्चिदानन्द का साक्षात्कार। इस प्रकार वैदिक दर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष या प्रकारान्तर से योग के लिए दो उपादानो की अपेक्षा बतायी गयी है—मानसिक चञ्चल वृत्तियो का नियन्त्रण तथा एकाग्रता। मानसिक वृत्तियो के नियन्त्रण के बिना न एकाग्रता सम्भव है और न एकाग्रता के बिना सच्चिदानन्द का साक्षात्कार अथवा पुरुष का स्वरूप मे स्थित होना।

बौद्ध विचारकों ने योग का अर्थ समाधि किया है, तथा तत्त्वज्ञान के लिए योग का प्रयोजन बताया है। बौद्ध-विचारक ईश्वर और नित्य आत्मा की सत्ता को स्वीकार नही करते, तथापि दु ख से निवृत्ति और निर्वाण-लाभ उनका प्रयोजन रहा है।[4]

जैनों के अनुसार शरीर, वाणी तथा मन के कर्म का निरोध सवर है और यही योग है।[5] यहाँ पतंजलि का 'योग' शब्द 'संवर' शब्द का समानार्थक ही है। हरिभद्र के मतानुसार योग मोक्ष प्राप्त करानेवाला

१. योगश्चित्तवृत्तिनिरोध.।—योगदर्शन, १।२

२. हिन्दी विश्वकोश, भा० ९, पृ० ४९६ ३. योगदर्शन, व्यासभाष्य, पृ० २

४. बौद्धदर्शन, पृ० २२२

५. आस्रवनिरोधः सवरः।—तत्त्वार्थसूत्र, ९।१

अर्थात् मोक्ष के साथ जोड़नेवाला है।[१] हेमचन्द्र ने मोक्ष के उपायरूप योग को ज्ञान, श्रद्धान और चारित्रात्मक कहा है।[२] यशोविजय भी हरिभद्र का ही अनुसरण करते हैं।[३] इस प्रकार जैनदर्शन मे योग का अर्थ चित्तवृत्तिनिरोध तथा मोक्षप्रापक धर्म-व्यापार है। उससे वही क्रिया या व्यापार विवक्षित है जो मोक्ष के लिए अनुकूल हो। अत. योग समस्त स्वाभाविक आत्मशक्तियो की पूर्ण विकासक क्रिया अर्थात् आत्मोन्मुखी चेष्टा है। इसके द्वारा भावना, ध्यान, समता का विकास होकर कर्म-ग्रन्थियो का नाश होता है। वैदिक, बौद्ध एव जैन ग्रन्थो में योग, समाधि और ध्यान (तप) बहुधा समानार्थक हैं।

योग का स्रोत एवं विकास

'योग' शब्द सर्वप्रथम ऋग्वेद[४] मे मिलता है। यहाँ योग शब्द का अर्थ केवल 'जोडना' है। ई० पू० ७००-८०० तक के निर्मित साहित्य मे इसका अर्थ इन्द्रियो को प्रवृत्त करना तथा उसके बाद के साहित्य में (लगभग ई०पू० ५०० अथवा ६००) इन्द्रियो पर नियन्त्रण रखना भी निर्देशित है।[५]

ब्राह्मणधर्म के मूल मे 'ब्रह्मन्' शब्द है और यज्ञ को केन्द्र मे रखकर ही ब्राह्मणधर्म की परम्परा का विकास हुआ है। फिर भी यज्ञ से सम्बन्धित

१. मोक्खेण जोयणाओ जोगो।—योगविंशिका, १

२. मोक्षोपायो योगो ज्ञानश्रद्धानचरणात्मक।

—अभिधान चिन्तामणि, १।७७

३. मोक्षेण योजना देव योगोह्यत्र निरुच्यते।
लक्षणं तेन तन्मुख्यहेतु व्यापार तास्य तु।—योगलक्षण द्वात्रिंशिका, १

४. स घा नो योग आ भुवत्।—ऋग्वेद, १।५।३
स धीना योगमिन्वति।—वही, १।१८।७,
कदा योगो वाजिनो रासभस्य।—वही, १।३४।९
वाजयन्निव नू रथान् योगा अग्नेरुप स्तुहि।—वही, २।८।१
योगक्षेमं व आदायाऽहं भूयासमुत्तम आ वो मूर्धानमक्रमीम्।
—वही, १०।१६६।५

5. Philosophical Essays, p 179

वैदिक मन्त्रो[1] और ब्राह्मण-ग्रन्थो में तप की शक्ति एवं महिमा के सूचक 'तपस्' शब्द का निर्देश प्राप्त होता है।[2] अतः यह भी सम्भव है कि 'तप' शब्द योग का ही पर्यायवाची रहा हो। यो उपनिषदो मे 'योग' शब्द आध्यात्मिक अर्थ मे मिलता है।[3] इसका उपयोग 'ध्यान' तथा 'समाधि' के अर्थ मे भी हुआ है। उपनिषदो में योग एव योग-साधना का विस्तृत वर्णन है, जिसमे जगत्, जीव और परमात्मासम्बन्धी विखरे हुए विचारों मे योग-विषयक चर्चाएँ अनुस्यूत हैं।[4] मैत्रेयी एव श्वेताश्वतर आदि उपनिषदो मे तो स्पष्ट और विकसित रूप में योग की भूमिका प्रस्तुत हुई है। यहाँ तक कि योग, योगोचित स्थान, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, कुण्डलिनी, विविध मन्त्र, जप आदि का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

---

१. त्व तपः परितप्याजय. स्वः।—ऋग्वेद, १०।१६७।१

२ (क) एत द्वै परम तपो। अद्वयाहितः तप्यते परम ह्यँव लोक जयति।
—शतपथब्राह्मण, १४।८।११

(ख) अथर्ववेद, ४।३५।१-२

३ (क) अध्यात्मयोगाधिगमेन देव मत्वा धीरो हर्षशोको जहाति।
—कठोपनिषद्, १।२।१२

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययो॥—वही, २।३।११

(ख) तैत्तिरीयोपनिषद्, २।४

४ जिनमें केवल योग का ही वर्णन हुआ है, ऐसे उपनिषदो की संख्या २१ है—

(१) योगराजोपनिषद्, (२) अद्वयतारकोपनिषद्, (३) अमृतनादोपनिषद्, (४) अमृतबिन्दूपनिषद्, (५) मुक्तिकोपनिषद्, (६) तेजोबिन्दूपनिषद्, (७) त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, (८) दर्शनोपनिषद्, (९) ध्यानबिन्दूपनिषद्, (१०) नादबिन्दूपनिषद्, (११) पाशुपतब्राह्मणोपनिषद्, (१२) मण्डलब्राह्मणोपनिषद्, (१३) महावाक्योपनिषद्, (१४) योगकुण्डल्योपनिषद्, (१५) योगचूडामण्युपनिषद्, (१६) योगतत्त्वोपनिषद्, (१७) योगशिखोपनिषद्, (१८) वाराहोपनिषद्, (१९) शाण्डिल्योपनिषद्, (२०) ब्रह्मविद्योपनिषद्, (२१) हसोपनिषद्।

महाभारत[1] एव श्रीमद्भगवद्गीता मे योग के विभिन्न अंगों का विवेचन एव विश्लेषण उपलब्ध है। यहाँ तक कि गीता[2] के अठारह अध्यायो मे अठारह प्रकार के योगो का वर्णन है, जिनमे अनेकविध साधनाएँ कही गयी हैं। भागवत[3] एवं स्कन्दपुराण[4] में कई स्थलो पर योग की चर्चा है। भागवतपुराण मे तो स्पष्ट रूप से अष्टांगयोग की व्याख्या, महिमा तथा अनेक लब्धियो का विवेचन है। योगवासिष्ठ[5] के छह प्रकरणो मे योग के विभिन्न सन्दर्भों की विस्तृत व्याख्या है, जिनमें योग-निरूपण के साथ-साथ आख्यानको की सृष्टि हुई है। इन आख्यानको के माध्यम से योगसम्बन्धी विचारो को पुष्टि मिली है। न्यायदर्शन[6] मे भी योग को यथोचित स्थान मिला है। कणाद् ने वैशेषिकदर्शन[7] मे

१. देखिये, महाभारत के शान्तिपर्व, अनुशासनपर्व एव भीष्मपर्व।

२. गीतोक्त अठारह प्रकार के योग इस प्रकार हैं—
(१) समत्वयोग, २।४८, ६।२९; ३३, (२) ज्ञानयोग, ३।३, १३।२४; १६।१; (३) कर्मयोग, ३।३, ५।२, १३।२४, (४) दैवयोग, ४।२५; (५) आत्मसयमयोग, ४।२७, (६) यज्ञयोग, ४।२८; (७) ब्रह्मयोग, ५।२१; (८) संन्यासयोग, ६।२, ९।२८, (९) ध्यानयोग, १२।५२, (१०) दुःखसयोगवियोग-योग, ६।२३; (११) अभ्यास-योग, ८।८, १२।९, (१२) ऐश्वरीयोग, ९।५, ११।४,९; (१३) नित्याभियोग, ९।२२; (१४) शरणागति-योग, ९।३२–३४, १८।६४–६६, (१५) सातत्ययोग, १०।९, १२।१, (१६) बुद्धियोग, १०।१०, १८।५७, (१७) आत्मयोग, १०।१८, ११।४७, (१८) भक्तियोग, १४।२६

३. भागवतपुराण, ३।२८, ११।१५; १९–२०

४. स्कन्दपुराण, भाग १, अध्याय ५५

५ देखिये, योगवासिष्ठ के वैराग्य, मुमुक्षु व्यवहार, उत्पत्ति, स्थिति, उपशम और निर्वाण प्रकरण।

६. समाधि विशेषाभ्यासात्।—न्यायदर्शन, ४।२।३६
अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेश।—वही, ४।२।४०
तदर्थं यमनियमाभ्यात्म सस्कारो योगाच्चात्मविध्युपायै.।
—वही, ४।२।४६

७. अभिषेचनोपवास ब्रह्मचर्यगुरुकुलवास वानप्रस्थयज्ञदान मोक्षणदिङ् नक्षत्र मन्त्रकाल नियमाश्चादृष्टाय।—वैशेषिकदर्शन, ६।२।२

यम, नियमादि योगो का सम्यक् उल्लेख किया है। पतंजलि का योग-दर्शन तो योगराज ही है, जिसमें सम्यक्रूप से योग-साधना का सांगोपांग विवेचन हुआ है। ब्रह्मसूत्र[1] के तीसरे अध्याय का नाम साधन-पाद है, जिसमे आसन, ध्यान आदि योगागो की चर्चा है।

तन्त्रयोग के अन्तर्गत हठयोग-सिद्धान्त[2] की स्थापना करते हुए आदिनाथ ने योग की क्रियाओ द्वारा शरीर के अग-प्रत्यगों पर प्रभुत्व प्राप्त करने तथा मन की स्थिरता प्राप्त करने का रहस्य बताया है।

बौद्ध-परम्परा निवृत्ति-प्रधान है, इसलिए इस परम्परा में भी आचार, नीति, खान-पान, शील, प्रज्ञा, ध्यान आदि के रूप में योग-साधना का गहरा विवेचन हुआ है। बौद्ध योग-साधना का विशुद्धिमार्ग, समाधिराज, दीघनिकाय, शेकोद्देशटीका आदि ग्रन्थो में विस्तृत वर्णन है। यह प्रसिद्ध है कि भगवान् बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्त होने के पहले छह वर्षों तक ध्यान द्वारा योगाभ्यास किया था।

योग की विस्तृत और अविच्छिन्न परम्परा में जैनो का भी अपना विशिष्ट स्थान रहा है। बौद्धों की भाँति निवृत्तिपरक विचारधारा के पोषक जैन-साहित्य मे भी योग की बहुत चर्चा हुई है और उसका महत्त्व स्वीकार किया गया है। सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन आदि आगमो मे उल्लिखित 'अज्झप्पजोग'[3] 'समाधिजोग[4]' आदि पदो मे, जिनका अर्थ ध्यान या समाधि है, योग की ही ध्वनि सन्निहित है। वास्तव मे देखा जाय तो योग के क्रमबद्ध विवेचन का सूत्रपात आचार्य हरिभद्र ने किया

---

१. ब्रह्मसूत्र, ४।१।७–११

२ हठयोग से सबधित हठयोग-प्रदीपिका, शिवसहिता, घेरण्डसहिता, योगता-रावलि, विन्दुयोग, योगबीज, गोरक्षशतक, योगकल्पद्रुम, अमनस्कयोग आदि ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं।

३ एत्थ वि भिक्खू अणुन्नए विणीए नामए दन्ते दविए वोसट्टकाए संविधुणीय विरूविरूवे परिसहोवसग्गे उवट्ठि ठिअप्पा संखाए परदतमोई भिक्खु त्ति वच्चे।—सूत्रकृताग, १।१६।३

४ इह जीवियं अणियमेता पब्भट्ठा समाहिजोएहिं।
ते कामभोगरसगिद्धा उववज्जन्ति आसुरे काए।
—उत्तराध्ययनसूत्र, ८।१४

है। उन्होने योग की सागोपाग व्याख्या योगशतक, योगबिन्दु, योगदृष्टि-समुच्चय, योगविंशिका, आदि ग्रन्थो में की है। इस सन्दर्भ में शुभचन्द्र का ज्ञानार्णव, हेमचन्द्र का योगशास्त्र तथा यशोविजय के योगावतार-बत्तीसी, (जैनमतानुसार) पातजल योगसूत्र, योगविंशिका की टीका तथा योगदृष्टिनी सज्झायमाला, अध्यात्मोपनिषद् आदि ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय है, जिनमें योगविषयक विस्तृत विवेचन हुआ है।

इस प्रकार योग की परम्परा भारतीय संस्कृति में अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित है और चिरकाल से भारतीय मनीषियो, सन्तो, विचारकों तथा महापुरुषो ने अपने जीवन एवं विचारों मे योग को यथोचित स्थान दिया है।

वेदकालीन योग-परम्परा

वेद-मन्त्र रहस्यमय विचारो से भरे हुए हैं। उन मन्त्रो पर गहराई से विचार करने पर पता चलता है कि उनमे योगपरक सामग्री बहुत है। ऋग्वेद का प्रत्येक शब्द प्रतीकात्मक है। प्राय. अग्नि, इन्द्र, सोम, आदि का वर्णन प्राप्त होता है, परन्तु इस वर्णन के पीछे आध्यात्मिक अनुभव का मूल है जो उस सन्दर्भ मे लक्षित अर्थ को लगाने पर ही समझ मे आता है। इस तरह देखा जाय तो वैदिक काल से ही योग-परम्परा प्रारम्भ हो जाती है जो योगमाया नाम से व्यवहृत है।[१] इतना ही नही, मोहनजोदड़ो मे प्राप्त एक मुद्रा पर अकित चित्र में त्रिशूल, मुकुट-विन्यास, नग्नता, कायोत्सर्गमुद्रा, नासाग्रदृष्टि, योगचर्या, बैल का चिह्न आदि हैं, जिससे सिद्ध होता है कि मूर्ति किसी योगी के अतिरिक्त और किसी की नही है।[२] मोहनजोदडो[3] की सभ्यता का काल अनुमानतः ई० पू० ३२५०-२७५० है, जो करीब-करीब वैदिककाल ही है। इस आधार पर भी कहा जा सकता है कि योग का स्थान भारतीय संस्कृति में प्राचीन काल से ही रहा है।

इस प्रकार वेदो मे योग-प्रणाली का अस्तित्व किसी-न-किसी प्रकार

---

१. अथ सैषा योगमायामहिमा परम्परास्माकं वेदेभ्य आरभ्य।

—वैदिकयोगसूत्र, पृ० २२

2. Mohen-Jodaro and the Indus Civilization, Vol. I, p. 53

3. History of Ancient India, p. 25

अवश्य रहा है। कहा गया है कि विद्वानो का भी कोई यज्ञ-कर्म बिना योग के सिद्ध नही होता।[1] इस कथन से योग की महत्ता सिद्ध है। योगाभ्यास तथा योग द्वारा प्राप्त विवेक-ख्याति के लिए प्रार्थना की गयी है कि ईश्वर की कृपा से हमें योगसिद्धि होकर विवेकख्याति तथा ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त हो और वही ईश्वर अणिमा आदि सिद्धियों सहित हमारी तरफ आवें।[2] प्रार्थना के ही क्रम मे कहा गया है कि हम (साधक लोग) हर योग मे, हर मुसीबत में परम ऐश्वर्यवान् इन्द्र का आवाहन करे।[3] दीर्घतमा ऋषि के कथन से भी योग की सार्थकता एवं महनीयता लक्षित होती है। उनका यह कथन है कि "मैंने प्राण का साक्षात्कार किया है, जो सभी इन्द्रियो का त्राता है और कभी नष्ट नही होनेवाला है, वह भिन्न-भिन्न नाड़ियो के द्वारा अन्दर-बाहर आता-जाता है, तथा यह अध्यात्मरूप मे वायु, आधिदैवरूप में सूर्य है।"[4] इनके अतिरिक्त अभय-ज्योति[5] तथा परमव्योमन्[6] की प्राप्ति के सन्दर्भ में भी प्रकारान्तर से योग का ही वर्णन हुआ है। प्राणविद्या के अन्तर्गत[7] योग की साधना का उल्लेख भी वेदकालीन योग के प्रचलन की पुष्टि करता है। योग शब्द कई बार प्रयुक्त होकर 'जोड़ना' या 'मिलाना' अर्थ को व्यजित करता है, जो योग की उपस्थिति का ही प्रमाण है।[8] ऋग्वेद में लिखा है कि 'सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ ही उत्पन्न हुए जो सम्पूर्ण विश्व के एकमात्र

---

१ यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन। स धीनां योगमिन्वति।

—ऋग्वेद, १।१८।७

२. सामवेद, ३०।१।२१०।३; अथर्ववेद, २०।६९।१; ऋग्वेद, १।५।३

३. योगे योगे तवस्तर वाजे वाजे हवामहे। सखाय इन्द्रमूतये।

—ऋग्वेद, १।३०।७

४. अपश्य गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आवरीवर्ति भुवनेष्वन्तः॥

—वही, १।१६४।३१; १०।१७७।३

५. अदिते मित्र वरुणोत मृळ यद् वो वयं चकृमा कच्चिदाग।
उर्वश्यामभयं ज्योतिरिन्द्र मा नो दीर्घा अभि नशन्तमिस्राः॥

—वही, २।२७।१४

६. वही, १।१४३।२ ७ ऐतरेयोपनिषद्, २।२।११

८. कदा योगो वाजिनो रासभस्य। —ऋग्वेद, १।३४।९

पति हैं, जिन्होने अंतरिक्ष, स्वर्ग और पृथ्वी सबको धारण किया। उन प्रजापति देव का हम हव्यद्वारा पूजन करते हैं।[1] इस कथन से ज्ञात होता है कि सृष्टि-क्रम मे सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुए और यह प्राचीनतम पुरुष योगशास्त्र के प्रथम वक्ता हैं, अत· यह योगशास्त्र भी प्राचीनतम है।

इस तरह वेदो मे योग का निरूपण भले ही पारिभाषिक शब्दों मे क्रम से न हुआ हो, परन्तु उसमे मन्त्रवाक्यों, प्राकृतिक वस्तुओं तथा अन्य प्रतीको के आधार पर योग का जो वर्णन हुआ है, वह स्पष्ट ही योगाभ्यास का दर्शक है।

उपनिषदों में योग

औपनिषदिक काल योगसाधना की अच्छी भूमि रही है, क्योकि वेदों मे अकुरित योग के वीज का विकास एव पल्लवन इस काल मे पर्याप्त हुआ है। वेद-काल मे अध्यात्मवाद उन्मुख हुआ, उसका सर्वांगीण संवर्धन उपनिषद्-काल मे ही हुआ है। इक्कीस उपनिषदो मे योग की पर्याप्त चर्चा उपलब्ध है। श्वेताश्वतर में योग का स्पष्ट एव विस्तृत विवेचन है। इसके दूसरे अध्याय मे, विशिष्टता के साथ, योग की साधना, उसका परिणाम आदि के बारे मे स्पष्टतया वर्णन है, जो योगदर्शन के रूप मे एक नया ही सन्दर्भ प्रस्तुतः करता है।[2] इसमे षडगयोग का वर्णन करते हुए निर्देशित किया गया है कि शरीर को तिरुन्नत अर्थात् छाती, गर्दन और सिर को उन्नत करके हृदय में, मन मे, इन्द्रियो को रोककर ब्रह्मरूप नौका से विद्वान् लोग इस भयानक प्रवाह को पार करे, तथा प्राणो को रोककर मुक्त हो और उनके क्षीण होने पर नासिका से श्वास लें। इस प्रकार इन दुष्ट घोड़ो की मनरूपी लगाम को

---

१. हिरण्यगर्भः समवर्ततताग्रे भूतस्य जात पतिरेक आसीत्।
　स दाधार पृथिवी द्यामुतेमा कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
　　　　—ऋग्वेद, १०।१२१।१

2. The Constructive Survey of the Upanishadic Philosophy, p. 338

विद्वान् लोग अप्रमत्त होकर धारण करें।[1] इस प्रकार की साधना करने के बाद ही ध्यानरूप मन्थन से अत्यन्त गूढ आत्मा का दर्शन करने का उपदेश दिया है।[2]

इस योग के संदर्भ मे पचकोशों के साथ जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं का भी विशद विवेचन किया गया है। इनमे अन्नमयकोश स्थूल शरीर की अवस्था है तथा जाग्रत अवस्था के अनुरूप है। प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोश सूक्ष्मशरीर तथा स्वप्नावस्था को निर्देशित करते हैं। आनन्दमयकोश कारण-शरीर है और सुषुप्ति अवस्था का सकेत करते हैं। सुषुप्ति अवस्था मे जीव-ब्रह्म का अस्थायी सयोग होता है और जाग्रत अवस्था आते ही पुन जीव अपनी वासनाओ के अनुसार कार्यों ने लग जाता है। यहाँ ब्रह्म को ही आत्मा की सत्ता माना गया है, जो चेतन सत्ता है।[3]

उपनिषदो मे प्रयुक्त 'योग' शब्द आध्यात्मिक अर्थ को संवलित करता है, क्योकि योग, ध्यान, तप आदि शब्द समाधि के अर्थ में ही प्रयुक्त हुए हैं।[4] आध्यात्मिक अर्थ मे प्रयुक्त करने के कारण योग को मोक्ष-प्राप्ति का हेतु माना गया है,[5] क्योकि बताया गया है कि योग से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है[6] तथा ब्रह्मज्ञानी परमात्मा को जानता है

---

1 त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं। हृदीन्द्रियाणि मनसा सनिरुध्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्, स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥
प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्ट क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वासीत्।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः॥
—श्वेताश्वतर उपनिषद्, २।८-९

२. ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देव पश्येन्निगूढवत्। —वही, १।१४

३. तैत्तिरीयोपनिषद्, २।१–६

४. तैत्तिरीयोपनिषद्, २।४; छान्दोग्योपनिषद्, ७।६।१,
श्वेताश्वतर उपनिषद्, २।११।६

५ त दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं, गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देव, मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥
—कठोपनिषद्, १।२।१२

६. (क) एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति।—वही, २।६
(ख) ब्रह्मविदाप्नोति परम्। —तैत्तिरीयोपनिषद् २।१।१

और जो परमात्मा को जानता है वह इस संसार से मुक्त हो जाता है।[1] षडगयोग[2] के प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क और समाधि के वर्णन मे कहा गया है कि विषयासक्त मन बन्धन मे फँसाता है तथा निर्विषय मन मुक्ति दिलाता है। इसलिए विषयासक्ति से मुक्त और हृदय मे निरुद्ध मन जब अपने ही अभाव को प्राप्त होता है तब वह परमपद पाता है।[3]

इस परमगति को प्राप्ति के लिए आचार-विचार अपेक्षित है, जैसे श्रद्धा, तप, ब्रह्मचर्य, सत्य, दान, दया आदि, और इनकी महती आवश्यकता का उल्लेख विभिन्न उपनिषदो मे हुआ है।[4] लेकिन आचार-नीति का पालन करने मात्र से ही मोक्ष-प्राप्ति असम्भव है, उसके लिए ज्ञान तथा योग का समन्वय अपना प्रमुख स्थान रखता है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए तप एव समाधि की अनिवार्यता बतायी गयी है, जो योग के ही अग है। योग अथवा समाधि अवस्था में वाणी एवं मन निवृत्त हो जाते हैं, साधक निर्भीक बनता है और ब्रह्मानन्द का आस्वादन करता है।[5] ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के बाद वह जन्म-मरण के बन्धन से सर्वथा मुक्त हो जाता है।[6]

---

१. तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।
—श्वेताश्वतर उपनिषद्, ३।८

२. प्रत्याहारस्तथा ध्यान प्राणायामोऽथ धारणा।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडंगो योग उच्यते ॥—अमृतनादोपनिषद्, ६

३. निरस्तविषयासगा सन्निरुद्ध मनोहृदि।
यदा यात्युन्मनीऽभाव तदा तत्परम् पदम् ॥—ब्रह्मविन्दूपनिषद्, ४

४ अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते।
—प्रश्नोपनिषद्, १।१०

सत्यमेव जयते नानृतम्।—मुण्डकोपनिषद्, ३।१।६

तदेतत् त्रय शिक्षेद्दम दान दयामिति।—बृहदारण्यकोपनिषद्, ५।२।३,

यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्ति ते धूममभिसभवन्ति।—वही, ६।२।१६

५. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति ॥—तैत्तिरीयोपनिषद्, ३।९

६ तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः ·· परावतः ·· वसन्ति ···तेषा ····न पुनरावृत्ति.।
—बृहदारण्यकोपनिषद्, ६।२।१५

योग के दो प्रकारो का वर्णन करते हुए कहा गया है कि विहित कर्मो में, इस वुद्धि का होना कि यह कर्तव्य कर्म है, मन का ऐसा नित्य वन्धन ही कर्मयोग है तथा चित्त का सतत श्रेयार्थ मे रहना ज्ञानयोग है। इस तरह योग के दो भेद किये हैं।[1] योग के चार भेद भी उल्लिखित हैं—मत्रयोग, लययोग, राजयोग और हठयोग।[2] इन चारो को महायोग कहा है, जिनमे आसन, प्राणायाम, ध्यान तथा समाधि का विधान है।

इस प्रकार उपनिषदो मे योगविपयक विखरी हुई सामग्री के प्रकाश मे यह तो कहा ही जा सकता है कि औपनिपदिक योग आध्यात्मिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तथा आत्मा को पहचानने के लिए यह एक साधनभूत अर्थ मे प्रसिद्ध रहा है।[3]

महाभारत में योग

महाभारत भारतीय संस्कृति का अनमोल ग्रन्थ-रत्न है, जिसमें आचार-मीमासा, नीति, कर्म आदि के सम्बन्ध मे अनेक प्रकार के दैनिक कर्तव्यों का निर्देश है। इसी क्रम में कई स्थलो पर योग का निरूपण किया गया है। वताया गया है कि सर्वप्रथम इन्द्रियो को जीतना चाहिए, क्योकि वे ही चचल, अस्थिर तथा अनेक प्रकार के कषायो की जड हैं।[4] इसमे अन्य धर्मों की तरह साधक योगी को अहिंसा

---

१. कर्म कर्तव्यमित्येव विहितेष्वेव कर्मसु।
वन्धन मनसो नित्यम् कर्मयोग' स उच्यते।
यत चित्तस्य सततमर्थे श्रेयसि वन्धनम्।
ज्ञानयोग. स विज्ञेय: सर्वसिद्धिकर शिव:।
यस्योक्तलक्षणे योगे द्विविधेऽप्यव्यय मन:।
—त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, २५-२७

२. योगो हि वहुधा ब्रह्मन्भिद्यते व्यवहारत.।
मत्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगत:॥—योगतत्त्वोपनिषद्, १९

३. आत्मा वा अरे द्रष्टव्य' श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो। वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।
—वृहदारण्यकोपनिषद्, २।४।५

४. महाभारत, अनुशासनपर्व, ९६। २८-३०

का पालन करने को कहा गया है ।[१] क्योकि उसके बगैर समता एवं शान्ति नही आ सकती । इसी सन्दर्भ में बताया गया है कि मुनि क्षमाभाव, इद्रियनिग्रह[२] आदि का सम्यक् पालन करे, जो तप के पर्याय है । इस ग्रन्थ मे योग की क्रियाओ तथा अभ्यास के कथन भी पद-पद पर विभिन्न शैलियो मे प्राप्त होते हैं । इस ग्रन्थ के अनुशासन, शान्ति एव भीष्म पर्वों मे योग की विस्तृत चर्चा है । यहाँ भी पातजल-योग की तरह योग के दो प्रकार वर्णित है—सबीज तथा निर्बीज ।[३]

योग की चर्चा करते हुए मन को सुदृढ बनाने, अपनी इन्द्रियो की ओर से उसे समेटने और मन.पूर्वक योगाभ्यास[४] करने का आदेश दिया गया है तथा कभी स्थिर नही रहनेवाली अति चचल इन्द्रियो को वश मे करने का उपदेश है ।[५] लेकिन ऐसा कर पाना बहुत कठिन है । यही कारण है कि योगी को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि वह मन को धीरे-धीरे अभ्यास द्वारा विषयो से विमुख करके चित्त को ध्यान मे लगावे[६] तथा सयम और योगाभ्यास करते-करते उसकी चित्तवृत्तियाँ शान्त होगी तथा वह अपने मे सन्तुष्ट होने लगेगा । ऐसा करने से जब उसका मन एकाग्र हो जाय तो उसे चाहिए कि वह रागादि विषयो को छोड़कर ध्यान-योगाभ्यास मे सहायक देश, कर्म, अर्थ, उपाय, अपाय, आहार, सहार, मन, दर्शन, अनुराग, निश्चय और चक्षुष् इन बारह योगो का आश्रय ले ।[७] इस तरह वह सभी दोषो को ध्यान से नष्ट कर पर-

---

१ अहिसा परमो धर्मस्तथा हिंसा परो दमः ।
अहिसा परम दानमहिसा परमं तपः ॥
—महाभारत, अनुशासनपर्व, ११६।२८

२ व्रतोपवासयोगश्च क्षमायेन्द्रियनिग्रहः ।
दिवारात्र यथायोग शौच धर्मस्य चिन्तनम् ॥—वही, १४२।६

३. स च योगो द्विधा भिन्नो ब्रह्मदेवर्षिसम्मत. ।
समानमुभयत्रापि वृत्त शास्त्रप्रचोदितम् ॥—वही, १४५ । ११९०

४. वही, १४५ । १२०० ५. शान्तिपर्व, १९५।११

६. एवमेन्द्रिय ग्रामं शनैः सम्परिभावयेत् ।
संहरेत क्रमश्चैव स सम्यक् प्रशमिष्यति ।—वही, १९५।१९

७ छिन्न दोषो मुनिर्योगान युक्तोयुंजीत द्वादश । देशकर्मानुरागार्थनुपायापाय-
निश्चयो । चक्षुराहारसहारैमनसा दर्शनेन च ।—वही, २२६।५४

मात्मा के स्वरूप मे स्थित होने के योग्य बनता है, जहाँ से वह वापस नही लौटता ।[1] इस प्रकार ब्रह्मोपलब्धि के लिए योगमार्ग का निर्देश है जिसमे योग का अर्थ 'जीव और ब्रह्म का संयोग' करते हुए कहा है कि जीव और ब्रह्म मे अभेद का ज्ञान प्राप्त करने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। साथ ही मोक्ष-प्राप्ति के लिए कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञान-योग तीनो की उपयुक्तता सिद्ध की गयी है।

गीता में योग

योग की व्यवस्थित एव सागोपांग भूमिका प्रस्तुत करने मे श्रीमद्-भगवद्गीता का विशिष्ट स्थान है। गीता का प्रत्येक अध्याय 'ॐ तत्स-दिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्याया योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-सवादे.......... योगो नाम ....अध्याय' इन शब्दो से समाप्त होता है, जो योग की अनिवार्यता का ही द्योतक है। गीता में विभिन्न योग-पद्धतियों का समन्वय दिखाई पड़ता है, जिनका उद्देश्य प्रमुखत एक ही है। इसमे कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, समत्वयोग, ध्यानयोग आदि के उल्लेख है। इनके मुख्य तीन उद्देश्य हैं[2]—(१) जीवात्मा का साक्षात्कार, (२) विश्वात्मा का साक्षात्कार, तथा (३) ईश्वर-साक्षात्कार। योग-विषयक अनेक विचारो का सग्रह या समन्वय होने के कारण ही जिज्ञासु पाठक तथा विद्वान् अपनी-अपनी दृष्टि और रुचि के अनुसार गीता की व्याख्या करते हैं।

विभिन्न योगो की चर्चा के साथ-साथ गीता में योग के कुछ सामान्य लक्षणो का भी निर्देश है, जिन्हे योग के तटस्थ या व्यावहारिक लक्षण कहा जा सकता है। व्यावहारिक योग के लक्षण विभिन्न अध्यायो मे विभिन्न प्रकार के हैं, जैसे, कर्मफल की इच्छा का न होना,[3] विषयो

---

१. नावर्तन्ते पुन पार्थमुक्ता ससारदोपत. जन्मदोप परिक्षीणाः स्वभावेपर्य-वस्थिताः।—वही, १९५।३

२ कल्याण, माधनांक, वर्ष १५, अ० १, पृ० ५७५

३ कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेपु कदाचन।
मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥
—गीता, २।४७ तथा ४।२०, ५।१२

के प्रति अनासक्ति, समत्वयोग,[१] निष्कामता,[२] सुख-दु ख एवं लाभ में समता[३] आदि।

उक्त सभी अभावात्मक लक्षणो के अतिरिक्त भावात्मक विधान भी हैं; जैसे, सभी कार्य भगवान् को अर्पण करना,[४] सब अवस्थाओ में संतुष्टि[५] मन को भगवान् मे एकाग्र रखना आदि।

गीता के अनुसार विशेष प्रकार की कर्म करने की कुशलता, युक्ति अथवा चतुराई योग है।[६] कर्मो के प्रति असगता की प्राप्ति के लिए अहकार का नाश आवश्यक है, क्योकि उसकी उपस्थिति से मनुष्य में असंग-भाव, समता, क्षमा, दया आदि योग के लक्षणो का अभाव होता है। क्रोध, काम आदि दुर्वृत्तियां अहकार से ही उत्पन्न होती हैं और इनके विषय पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच विषय, पाँच भूत, मन और बुद्धि हैं। इन विषयो की शुद्धि के लिए इन्द्रिय-संयम अत्यावश्यक है, जिससे योग की लब्धि होती है। इस प्रकार योग दुःख से विमुक्त ऐसी अवस्था का नाम है, जिसमे ऊपर से छाये हुए स्थान मे रखे दीपक की लौ की भाँति मन प्रकम्पित नहीं होता। जब आत्मा के द्वारा आत्मा का साक्षात्कार होता है, उस समय मनुष्य को पूर्ण सन्तोष मिलता है और परम आनन्द की अनुभूति मे वह लीन हो जाता है। उस अवस्था में पहुँचने पर वह विचलित नही होता।[७] यही योग मुक्ति की पहचान

१. योगस्थ. कुरु कर्माणि सगं त्यक्त्वा धनजय।
सिद्ध्यसिद्ध्यो समोभूत्वा समत्व योग उच्यते॥
—वही, २।४८ तथा ३।१९

२. यस्य सर्वे समारम्भा. कामसकल्पवर्जिता.।—वही, ४।१९

३. सुखदु.खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ —वही, २।३८

४. ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्यस्य मत्परा।
अनन्येनैव योगेन मा ध्यायन्त उपासते॥ —वही, १२।६

५. मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मा नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ —वही, १०।९

६. योग कर्मसु कौशलम्। —वही, २।५०

७. यत्रोपरमते चित्त निरुद्ध योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मान पश्यन्नात्मनि तुष्यति। —वही, ६।२०

है। क्योकि मुक्ति की अवस्था मे साधक का मन शुद्ध होता है और उसका अन्त.करण स्थिर रहता है। उसका कोई भी कर्म फल, भोग, अथवा लाभ की आशा से नहीं होता। वह सिद्धि-असिद्धि दोनो में समबुद्धि रहता है। यह समत्वभाव ही योग है।[1]

गीता के छठे अध्याय के १० से २६ तक के श्लोको मे मन की एकाग्रता के साधनरूप राजयोग का निरूपण है, जिसमे समत्वयोग मे आरूढ साधक को एकान्त में रहकर चित्त और इन्द्रियो को वश मे करने तथा एकाग्रतापूर्वक ध्यान करने का आदेश है। वहाँ यह भी निर्देशित है कि वह सुविधाजनक आसन के अनुसार आसीन होकर काया, सिर, गर्दन को समरेखा मे रखते हुए अचल रहे। वह अपनी दृष्टि नासाग्र रखकर निर्भय होते हुए अपनी अन्तःकरण की वृत्तियो को शान्त रखे तथा सयमित होकर ब्रह्मचर्य का पालन करे और मन को संयमित करके अपने आपको मुक्त करता हुआ ध्यानयोग मे लीन हो जाय। ऐसे परम निर्वाण शान्त स्वरूप को प्राप्त योगी ही योगी है।[2] अतः योगाभ्यास करने के लिए शारीरिक समस्त चेष्टाओ को शान्त करना आवश्यक माना गया है, क्योकि शारीरिक क्रियाओ में समता रहने पर ही मन में एकाग्रता की प्रतिष्ठा होती है। इसी सन्दर्भ मे आहार, शयन, रहन-सहन, जागरण आदि क्रियाओ को यथायोग्य समप्रमाणित करने का भी निर्देश है।[3] तेरहवें अध्याय के ८ से १२ तक के श्लोको मे ज्ञान के लक्षण बताते हुए अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा, क्षमा, आर्जव, आचार्योपासना, शुचिता, स्थिरता, आत्मनिग्रह, आदि गुणों की चर्चा है। ये सभी नैतिक गुण आत्मा को ऊपर उठानेवाले हैं। १३वें और १४वें अध्याय मे आत्मा का स्वरूप और संसार के साथ उसके सबध का वर्णन है। १५वें अध्याय में पुरुषोत्तम-योग का प्ररूपण है जिसमे पुरुषोत्तम का साक्षात्कार ही सर्वोत्तम अनुभूति है तथा यह प्राप्त करने के लिए साधक को श्रद्धाशील बनने का विधान है, क्योकि श्रद्धा के बिना ज्ञान एव कर्म व्यर्थ है। श्रद्धा के स्वरूप एव उसके विविध भेदो का वर्णन १७वें अध्याय मे है।

इस प्रकार गीता मे प्रत्येक योग का वास्तविक अथवा स्वरूप-भूत लक्षण वर्णित है और हर हालत मे आत्मसंयम, कामनात्याग, प्राणि-

---

१. गीता, २।४८

२ गीता का व्यवहारदर्शन, पृ० २१८ ३. वही, पृ० २२२

मात्र से प्रेम, अहकारशून्यता, निर्भयता, शीतोष्णता, सुख-दु.ख एवं निंदास्तुति मे समताभाव आदि गुणो की अपेक्षा रखी गयी है। फिर भी कर्मयोग, राजयोग, भक्तियोग एवं ज्ञानयोग क्रमश: कर्म, ध्यान, भक्ति एवं ज्ञान पर विशेप जोर देते है। यहाँ प्रत्येक योग का अपना एक निश्चित भावात्मक लक्षण है, जो उसके लक्ष्य का निर्देशक भी है[1] जैसे कर्मयोग का निश्चित लक्ष्य लोकसग्रह अर्थात् सव लोगो का कल्याण है। ज्ञान-योग का लक्ष्य 'वासुदेवः सर्वमिति' ज्ञान है। साख्ययोग का लक्ष्य ब्राह्मी स्थिति है, राजयोग एव ध्यानयोग का लक्ष्य ब्रह्मसंस्पर्शरूप अक्षय सुख की प्राप्ति है।[2] इसी प्रकार विश्वरूपदर्शन-योग का लक्ष्य भगवान् के विश्वरूप का दर्शन है और भक्तियोग का लक्ष्य भगवान् का अतिशय प्रिय होना है।[3]

संक्षेप मे गीता एक कल्पना-पद्धति है और जीवन का विधान भी है। यह वुद्धि के द्वारा सत्य का अनुसधान है और सत्य को मनुष्य की आत्मा के अन्दर क्रियात्मक शक्ति देने का प्रयत्न भी है। इसलिए प्रत्येक अध्याय के उपसहारपरक वाक्य से यह स्पष्ट हो जाता है, जो एक अनिश्चित काल से प्राप्त होता जा रहा है, वह यह कि यह एक योग-शास्त्र है अथवा ब्रह्मसवधी दर्शनशास्त्र का धार्मिक अनुशासन है।[4]

स्मृति ग्रन्थों मे योग

सम्पूर्ण स्मृतिशास्त्रो को आचार-विचार की नीतियो का अमूल्य खजाना कह सकते है, जिनमे वैदिक परम्परा-विहित चारो आश्रमो[5] की विभिन्न नीतियो की विस्तृत भूमिका प्रस्तुत की गयी है। याज्ञ-

---

१. एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैना प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाण मृच्छति ॥—गीता, २।७२

२. युजन्नेव सदात्मान योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्म सस्पर्शमत्यन्त सुखमश्नुते ॥ —वही, ६।२८

३. ये तु धर्म्यामृतमिद यथोक्त पर्युपासते।
श्रद्धधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रिया ॥ —वही, १२।२०

४. भारतीय दर्शन, राधाकृष्णन्, भाग १, पृ० ४९१

५. चत्वारः आश्रमा ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ परिव्राजका।
—वसिष्ठस्मृति, २०६

वल्क्यस्मृति, मनुस्मृति, पाराशरस्मृति आदि स्मृतियों मे साधकों के अनेक कर्तव्यो तथा गृहस्थों के सत्कर्मों की चर्चा है।[1] विहित वर्णो तथा आश्रमों के सम्यक् धर्म का पालन करने से ही मोक्ष की प्राप्ति संभव है।[2] क्योकि ऐसी अवस्था मे साधक अपनी इन्द्रियो पर संयम रखता है, जिससे कि उसकी सारी क्रियाओ का सपादन सम्यक् रूप से होता है। यही कारण है कि गृहस्थाश्रम में भी धर्म-पालन करने से मोक्ष-प्राप्ति का विधान किया गया है। योग की क्रियाओ तथा अभ्यास के द्वारा[3] इन्द्रियो पर[4] विजय प्राप्त करें तथा आचार, दम, अहिंसा आदि क्रिया एवं योगाभ्यास से आत्मदर्शन की प्राप्ति करे।[5] इस प्रकार प्राचीन कालीन इन स्मृतियो मे भी योगाभ्यास की उन सभी क्रियाओ का विवरण मौजूद है जिनसे मोक्ष-प्राप्ति होती है।

भागवतपुराण आदि में योग

योगशास्त्र के इतिहास की दृष्टि से भागवतपुराण का स्थान औपनिषदिक योग तथा पातजल-योग के बीच के काल मे है। इसमे भक्तियोग के साथ अष्टांगयोग का भी विवेचन है। इसमें कथाओं के माध्यम से यौगिक क्रियाओ एवं साधनाओं की विस्तृत चर्चा है जिसमे योग-सम्बन्धी शब्दों के अनेक सकेत प्राप्त होते हैं, यथा

---

1 सध्यास्नानं जपो होम स्वाध्याय देवतार्च्चनम्।
विश्वदेवातिथेयच षट् कर्म्माणि दिने दिने॥ —पाराशरस्मृति, 39

2. योगशास्त्र प्रवक्ष्यामि सक्षेपात् सारमुत्तमम्।
यस्य च श्रवणाद्यान्ति मोक्षचैव मुमुक्षव.॥ —हारीतस्मृति, 8।2

3. प्राणायामेन वचनं प्रत्याहारेण च इंद्रियम्।
धारणाभिर्वशकृत्वा पूर्वं दुर्धर्षण मन.॥—वही, 8।4

4. अरण्यनित्यस्य जितेन्द्रियस्य सर्वेन्द्रिय प्रीति निवर्तकस्य।
अध्यात्मचिन्तागत मानसस्य ध्रुवा ह्यनावृत्ति पेक्षकस्य इति॥
—वसिष्ठस्मृति, 254

5. इज्याचार दमाहिंसादानं स्वाध्यायकर्मणाम्।
अय तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्॥—याज्ञवल्क्यस्मृति, 8

मनः प्रणिधान[1] आसन[2] मांडकर भगवान् में अपना मन भक्तिपूर्वक लगाना, मन, वचन एव दृष्टि की वृत्तियो से अपनी आत्मा को एकाग्र करके अन्त.श्वास लेना तथा शान्त होना, अन्तिम बार श्वास को भीतर खीचकर ब्रह्मरन्ध्र से प्राण त्याग करना[3] आदि।

इस सन्दर्भ मे उल्लेखनीय है कि समाधि द्वारा ही कपिल की माता ने अपनी देह त्यागी थी।[4] नारद ने ध्रुव को आसन लगाकर, प्राणायाम के द्वारा प्राण, इन्द्रिय तथा मन के मल को दूर करके ध्यानस्थ हो जाने का उपदेश दिया था।[5] श्रीकृष्ण की अलौकिक घटनाओ के प्रदर्शन भी योग-साधना की ही देन माने जाते हैं।

भागवत के तीन स्कन्धो मे योग का विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है। दूसरे स्कन्ध के प्रथम तथा द्वितीय अध्यायो, तीसरे स्कन्ध के २५वें तथा २८वें अध्यायो एव ११वे स्कन्ध के १३वे तथा १४वे अध्यायो में ध्यानयोग का सविस्तार वर्णन हुआ है। १५वें अध्याय में अणिमा, महिमा आदि अठारह सिद्धियो का उल्लेख है। १९ तथा २८–२९ अध्यायों मे क्रमश यम, नियमादि तथा अष्टांगयोग का वर्णन है। पतञ्जलि ने जहाँ आठ योगो मे यम-नियम के पाँच-पाँच भेदो का विधान किया है वहाँ इसमे प्रत्येक के बारह भेद वर्णित हैं। यम के बारह भेद इस प्रकार

---

१. तस्मिन्निर्मनुजेऽरण्ये पिप्पलोपस्थ आस्थितः।
आत्मनाऽऽत्मानमात्मस्थ यथाश्रुतमचिन्तयम् ॥
ध्यायतश्चरणाम्भोज. भावनिर्जितचेतसा।
औत्कण्ठ्याश्रुकुलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरि ॥
—भागवतपुराण, १।६।१६-१७

२. तस्मिन् स्व आश्रमे व्यासो वदरीषण्डमण्डिते।
आसीनोऽप उपस्पृश्य प्रणिदध्यौ मनः स्वयम्.॥ —वही, १।७।३

३. कृष्ण एवं भगवति मनोवाग्दृष्टि वृत्तिभि.।
आत्मन्यात्मानमावेश्य सोऽन्तश्वास उपामत् ॥ —वही, १।९।४३

४. नित्यारूढसमाधित्वात्परावृत्तगुणभ्रमा।
न सस्मार तदाऽऽत्मान स्वप्ने दृष्टमिवोत्थितः ॥ —वही, ३।३३।२७

५. प्राणायामेन त्रिवृता प्राणेन्द्रियमनोमलम्।
शनैर्व्युदास्याभिध्यायेन्मनसा गुरुणां गुरुम् ॥ —वही, ४।८।४४

हैं[1]—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) असंग, (५) ह्री, (६) असंचय, (७) आस्तिक्य, (८) ब्रह्मचर्य, (९) मौन, (१०) स्थैर्य, (११) क्षमा तथा (१२) अभय। नियम के बारह भेद इस प्रकार हैं[2]—(१) बाह्य शौच, (२) आभ्यन्तर शौच, (३) जप, (४) तप, (५) होम, (६) श्रद्धा, (७) आतिथ्य, (८) भगवद्दर्शन, (९) तीर्थाटन, (१०) परार्थ चेष्टा, (११) संतोष और (१२) आचार्य सेवन।

शिवपुराण मे प्राणायाम के दो भेद बताये गये हैं—(१) सगर्भ और (२) अगर्भ।[3] सगर्भ ध्यान के अन्तर्गत जप और ध्यान के बिना प्राणायाम किया जाता है तथा अगर्भ के अन्तर्गत जप एव ध्यान सहित प्राणायाम किया जाता है। विष्णुपुराण मे इन्ही दोनो सगर्भ एवं अगर्भ को क्रमश सबीज एवं अबीज कहा है।[4] इनके अतिरिक्त कुम्भक, पूरक एवं रेचक के द्वारा प्राण के मार्ग को शुद्ध करने को कहा गया है।[5] इस प्रकार भागवत मे अष्टागयोग का यथेष्ट विवरण प्राप्त होता है, जिसके द्वारा साधक को इस संसार से ऊपर उठने तथा चित्त को एकाग्र करने का उपदेश दिया गया है, जिससे कि उसे सहज निर्वाण की प्राप्ति हो सके। कहा भी है कि भगवान् की उत्तम भक्ति से आप्लावित योगी के लिए योग का उद्देश्य मात्र कायाकल्प तथा शरीर को सुदृढ बनाना ही नही है, बल्कि उसका मुख्य ध्येय भगवान् मे चित्त को लगाना भी है।[6]

---

१ अहिंसा सत्यमस्तेयमसगो ह्रीरसचय।
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौन स्थैर्यं क्षमाऽभयम्॥
—भागवतपुराण, ११।१९।३३

२ शौच जपस्तपो होमः श्रद्धाऽऽतिथ्यं मदर्चनम्।
तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम्॥ —वही, ११।१९।३४

३ अगर्भश्च गर्भसयुक्त प्राणायामः शताधिकः।
तस्मात्गर्भं कुर्वन्ति योगिनः प्राणसयमम॥
—शिवपुराण, वायवीयसहिता, ३७।३३

४ विष्णुपुराण, ६।७।४०

५ प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरककुम्भकरेचकैः। —भागवतपुराण, ३।२८।९

६ योगं निषेवतो नित्यं कायश्चेद् कल्पतामियात्।
तच्छ्रद्दध्यान्न मतिमान् योगमुत्सृज्य मत्परः॥ —वही, ११।२८।४३

इस तरह भागवतपुराण मे योग का प्रतिपादन, भगवद्भक्ति मे चित्त को एकाग्र करने के अतिरिक्त सिद्धि-प्राप्ति के साधन के रूप मे भी हुआ है, क्योकि अखिल आत्मस्वरूप भगवान् मे लगी हुई भक्ति के समान कल्याणप्रद मार्ग योगियों के लिए और दूसरा नही है।[१]

योगवासिष्ठ में योग

योगवासिष्ठ वैदिक संस्कृति का एक ऐसा प्राचीन ग्रन्थ है, जिसमे प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से मुख्यत योग का ही निरूपण हुआ है तथा इसकी कथाओ, उपदेशो, प्रसगो आदि मे ससार-सागर से निवृत्त होने की युक्ति बतलायी गयी है। वास्तव मे योग द्वारा मानव अपने वास्तविक स्वरूप की अनुभूति प्राप्त करता है एव अन्त मे संसार के आवागमन से मुक्त हो जाता है।

इस ग्रन्थ मे मन का विस्तृत वर्णन है। मन को ही शक्तिशाली एव पुरुषार्थ का सहायक माना गया है। बुद्धि, अहंकार, चित्त, कर्म, कल्पना, स्मृति, वासना, इन्द्रियाँ, देह, पदार्थ, आदि को मन के ही रूप बताया गया है।[२] यहाँ तक कि मन की पूर्ण शान्ति होने पर ही ब्रह्मत्व की प्राप्ति होती है।[३] मन को शान्त करने के अनेक उपायों का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि सकल्प करने का ही नाम मन है तथा उसके ही हाथ मे बन्धन और मोक्ष है। योग द्वारा ही मन स्थिर एवं पूर्ण शान्त होता है एव जाग्रति, स्वप्न, और सुषुप्ति से भिन्न तुरीयावस्था की स्थिति मे पहुँचने मे समर्थ होता है। इन अवस्थाओ का विस्तृत विवेचन यहाँ विभिन्न सन्दर्भो मे किया गया है।[४]

योगवासिष्ठ मे योग की तीन रीतियो का प्ररूपण हुआ है जो क्रमश. इस प्रकार हैं[५]—(१) एकतत्त्वघनाभ्यास, (२) प्राणो का निरोध एवं (३)

---

१. न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि।
सदृशोऽस्ति शिव. पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये ॥ —वही, ३।२५।१९

२ योगवासिष्ठ, ६।११४।१७; ६।७।११; ६।१३९।१; ३।११०।४६

३. वही, ५।८६।९

४. वही, ४।१९।१५–१८; ५।७८।१०

५ योगमनोविज्ञान, पृ० १२

मनोनिरोध। एकतत्त्वघनाभ्यास के अन्तर्गत ब्रह्माभ्यास द्वारा अपने को उसीमे लीन कर देना होता है। प्राणो के निरोध मे प्राणायाम आदि की अपेक्षा की जाती है एव कुण्डलिनी-शक्ति को जाग्रत करके ब्रह्मत्व प्राप्त किया जाता है। मनोनिरोध मे समस्त इच्छाओं का पूर्ण परिगमन किया जाता है।

इस ग्रन्थ मे भी सदाचार एव विचार के सम्यक् परिपालन पर जोर दिया गया है एवं विचार को परमज्ञान कहा गया है।[१] सदाचार एवं ज्ञान की उपमा क्रमश दीपक एव सूर्य से दी गयी है और कहा है कि जव तक ज्ञान का सूरज प्रकट नही होता तब तक अज्ञान के गहन अन्धकार मे सदाचार का ही दीपक मार्गदर्शक होता है।[२] अविद्या को दु खों का मूल कारण माना गया है तथा इसका विनाश सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से होता है।[३] इसके अनुसार चित्त की एकदम क्षीण अवस्था हो जाने पर मोक्ष होता है, जवकि वह समस्त क्रियाओ एव वासनाओ से रहित हो जाता है। वैसी सकल्प-विकल्परहित आत्मस्थिति मे मिथ्याज्ञान से उत्पन्न अहभावरूपी अज्ञानग्रन्थि का सर्वथा समाप्त हो जाना ही मोक्ष है।[४]

हठयोग

हठयोग-सिद्धान्त की चर्चा योगतत्त्वोपनिषद् तथा शाण्डिल्योपनिषद् मे है। हठयोग के अवान्तर भेद भी है, जिनकी चर्चा यहाँ अनपेक्षित है। शिव हठयोग के आदि प्रवर्तक माने जाते है।[५] हठयोग का अर्थ है—चन्द्र-सूर्य, इडा-पिंगला, प्राण-अपान का मिलन अर्थात् ह=सूर्य, ठ=चन्द्र यानी सूर्य और चन्द्र का सयोग।[६] हठयोग का उद्देश्य शारीरिक तथा मानसिक उन्नति है। यह योग सर्वप्रथम शारीरिक विकास या

---

१ विचारः परम ज्ञान। –योगवासिष्ठ, २।१६।१९

२. साधु संगतयो लोके 'सत्मार्गस्य च दीपिका।
हार्दान्धकारहारिण्यो भासो ज्ञानविवस्तव ॥ —वही, २।१६।९

३. प्राज्ञ विज्ञातविज्ञेयं सम्यग्दर्शमाधय:।
न दहन्ति वन वर्षासिक्तमग्निशिखा इव ॥ —वही, २।११।४१

४. वही, ३।१००।३७–४२

५ हठयोगप्रदीपिका, १।१ ६. वही, १।१, ३।१५

उन्नति की ओर विशेष ध्यान देता है, क्योकि शरीर की सुदृढ़ता और स्वस्थता से ही इच्छाओ पर नियन्त्रण होता है और इससे मन शान्त अवस्था को प्राप्त होता है, जो योग धारण के लिए परम आवश्यक है।

हठयोग मे सात अग प्रमुख है[1]—षटकर्म,[2] प्राणायाम, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, ध्यान और समाधि। इनमे आसन, मुद्रा एव प्राणायाम का विशेष महत्त्व दृष्टिगोचर होता है। इन प्राणायाम आदि यौगिक क्रियाओ के द्वारा शरीर हलका करने एवं भारी बनाने की लब्धि प्राप्त होती है, लेकिन इन लब्धियो की प्राप्ति ही अन्तिम लक्ष्य नही है।[3] उसका उद्देश्य आन्तरिक देह की शुद्धि करके राजयोग की ओर जाना है। अत. हठयोग के बिना राजयोग और राजयोग के बिना हठयोग असम्भव है।[4] अभिहित मुद्राओ तथा प्राणायामो द्वारा नाडियों को शुद्ध किया जाता है, जिनपर हठयोग आधृत है। हठयोग का सम्बन्ध शरीर से अधिक है और मन तथा आत्मा से कम।[5] ऐसी स्थिति मे मन निरोधावस्था मे पहुँचता है, जहाँ से राजयोग का प्रारम्भ होता है। नाड़ियो के शुद्ध होने पर कुण्डलिनी-शक्ति जाग्रत होती है तथा यह षट्चक्रो का भेदन करती हुई सहस्राधार में पहुँचती है। ऐसी स्थिति मे साधक का चित्त निरालम्ब एव मृत्यु-भय-रहित होता है जो योगाभ्यास की जड़ है,[6] इसीको कैलाश भी कहते हैं।[7]

---

१. षट्कर्मणा शोधनं च आसनेन भवेद्दृढम्।
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता।
प्राणायामल्लाघवं च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनि।
समाधिना निर्लिप्तश्च मुक्तिरेव न सशयः॥ —घेरण्डसहिता, १।१०-११

२ धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा।
कपालभातिश्चेतानि षट्कर्माणि प्रवक्षते॥ —हठयोगप्रदीपिका, २।२२

३. नाथयोग, पृ० १९ ४. हठयोगप्रदीपिका, २।७५

५. सन्त मत का सरभग सम्प्रदाय, पृ० ६६—६८

६ भारतीय संस्कृति और साधना, भा० २, पृ० ३९७

७. अतऊर्ध्वं दिव्यरूप सहस्रार सरोरुहम्।
ब्रह्माण्ड व्यस्त देहस्थं वाह्ये तिष्ठति सर्वदा।
कैलाशो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति॥ —शिवसहिता, ५

हठयोग में यम एवं नियमों के पालन का विधान है[1] और अनेक वस्तुओं को त्यागने का भी आदेश है। अर्थात् आचार एव विचार को विशेष महत्त्व दिया गया है। इस प्रकार यम-नियमों का पालन करता हुआ हठयोगी स्थूल शरीर द्वारा अपनी शक्ति को अन्तर्मुखी बनाकर, सूक्ष्म शरीर को वश मे करके चित्तनिरोध करता है और क्रमशः परमात्मा का साक्षात्कार करता है। यह पद्धति ही हठयोग है।

नाथयोग

नाथयोग के उद्भव के विषय मे निश्चितरूपेण कुछ नहीं कहा जा सकता, लेकिन माना जाता है कि इसका प्रारम्भ अथवा पुनर्स्थापन गोरखनाथ से हुआ है।[2] गोरखनाथ का समय १०वी[3] अथवा ११वी[4] शती से पूर्व का है, जो इस सम्प्रदाय का समय माना जा सकता है। ऐसी धारणा है कि शिव ने मत्स्येन्द्रनाथ को योग की दीक्षा दी थी और मत्स्येन्द्रनाथ ने गोरखनाथ को। नाथपन्थीय परम्परा इस प्रकार मानी जाती है—आदिनाथ (शिव), मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, गाहिनीनाथ, निवृत्तिनाथ एव ज्ञानदेव।[5] नाथ-सम्प्रदाय मे मुख्यतः नौ नाथ माने गये है—गोरखनाथ, ज्वालेन्द्रनाथ, कारिणनाथ, गाहिनीनाथ, चर्पटनाथ, खेणनाथ, नागनाथ, भर्तृनाथ तथा गोपीचन्द्रनाथ।[6] यह पन्थ अलग-अलग नामो से भी जाना जाता है, यथा—सिद्धमत, योगमार्ग, योग-सम्प्रदाय, अवधूत-सम्प्रदाय, अवधूतमत आदि।[7] दीक्षा धारण करने के समय कान फड़वाकर कुण्डल धारण करने के कारण इन्हें कनफटा योगी भी कहते हैं।[8]

इस योगमार्ग का परमपद नाथ है। इस योगमार्ग की क्रियाएँ तथा

---

१. हठयोगप्रदीपिका, १०५७-६३

२. Siddha Siddhanta Paddhati and Other Works of Nath Yogis, p. 7 ३. Ibid. p 10

४ Gorakhnath and the Kanfata Yogis, pp. 235-36

५ कबीर, पृ० ३८

६. गोस्वामी, प्रथम खण्ड, वर्ष २४, अ० १२, १९६०, पृ० ९२

७ कबीर की विचारधारा, पृ० १५३

८ नाथ सम्प्रदाय, पृ० ५९

योग-साधना हठयोगियो से मिलती-जुलती है, फिर भी दोनो के अन्तिम साध्य नितान्त भिन्न है। जहाँ तन्त्र, हठ तथा रसशास्त्र शरीर को अमर बनाते है, वहाँ नाथयोग आत्मा का अमरत्व, नादमधु का आनन्द तथा शिवभक्ति के साथ समरसता स्थापित करता है, क्योकि इसका उद्देश्य शाश्वत आत्मा की अनुभूति प्राप्त करना है।[१] इस योग मे मनःशुद्धि के अतिरिक्त कायशुद्धि पर भी जोर दिया जाता है, क्योकि मनःशुद्धि के लिए कायशुद्धि अपेक्षित है।

इस योग में हठ तथा तन्त्र के समान ही गुरु की महत्ता बताते हुए कहा गया है कि गुरु की कृपा से ही संसार-बन्धन को तोडकर शिव की प्राप्ति सम्भव है।[२] नाथ-सिद्धान्तयोग द्वैताद्वैत विलक्षणी कहा जाता है, क्योकि शिव द्वैत या अद्वैत नही हैं, वरन् वे अवाच्य तथा निरुपाधि हैं।[३] वे द्वैत तथा अद्वैत अथवा साकार तथा निराकार से परे है। वे शिव ही चित्तनित्यतत्त्व तथा स्वयंसिद्ध है। नाथयोग के अनुसार मोक्ष वह है जिसमे मन के द्वारा मन का अवलोकन किया जाता है अर्थात् आत्म-शक्ति को यथार्थ रूप से जानना ही जीवन्मुक्ति है और इस मुक्ति के लिए मन एवं शरीर दोनो की शुद्धि अनिवार्य है।

हठयोग एवं तन्त्र की तरह इस सम्प्रदाय मे भी कुण्डलिनी-शक्ति की मान्यता प्राप्त है। इसके अनुसार यह शक्ति सर्पाकार वृत्ति मे सुप्त रहती है और वह आत्मसंयम द्वारा जाग्रत होती है। जब वह जागती है तो शरीरस्थ षट्चक्रो को भेदती हुई ब्रह्माण्ड अर्थात् सहस्राधार तक पहुँचती है और वहाँ शिव के साथ एकरूप हो जाती है। इस प्रकार शिव के साथ यह मिलन जीवात्मा का परमात्मा मे लीन होने का प्रतीक है।[४] शिव और शक्ति का मिलन ही इस योग का ध्येय है।[५]

---

१ ज्ञानेश्वरी (मराठी), प्रस्तावना, पृ० ४३

२. (क) एव विधु गुरोः शब्दात् सर्व चिन्ताविवर्जित.।
स्थित्वा मनोहरे देशे योगमेव समभ्यसेत्। —अमनस्क योग, १५

(ख) Siddha Siddhant Paddhati and other works of Nath Yogis, p 5,54-80

३. अमनस्क योग, पृ० २५ ४ सतमत का सरभंग सम्प्रदाय, पृ० ६९

५ शिवस्याभ्यन्तरे शक्ति शक्तेरभ्यन्तर. शिव.।
अन्तर नैव जानीयाच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव।—सिद्धसिद्धान्तपद्धति, ४।२६

इस प्रकार नाथों की योग-साधना का आदर्श पातंजलयोग से ही तत्त्वतः भिन्न नही है, अपितु पूर्ववर्ती और पश्चात्वर्ती बौद्धमतवादों के साथ भी बहुत दूर तक शाकरवेदान्त से भिन्न है। प्राचीन और मध्यकालीन आगमानुयायी अद्वैतवादी मतवादो से नाथादर्श की पर्याप्त समानता है, जिसे सामरस्य कहा गया है।[1]

शैवागम एवं योग

शैवागम शिव के पाँच मुखो से निर्गत अनुभूतियो का साहित्य है। इसमे मूलतः पूर्णस्वरूप को शिव और परमशिव नाम से सम्बोधित किया गया है। यह शिव परम अखण्ड महाप्रकाशस्वरूप है और इसे समस्त सृष्टि-स्थिति का अर्थात् अभिव्यक्त-सृष्टि का केन्द्र माना जाता है। इस केन्द्र-विन्दु से स्फुटित पाँच विन्दु ही शिव के पाँच मुख हैं—१ सद्योयान, २ वामदेव, ३ अघोर, ४. ईशान्य तथा ५ तत्त्वाश।[2] इन पाँच मुखो से निर्गत आगम को शिव, रुद्र एवं भैरव आगम भी कहते हैं। ये आगम अट्ठाईस माने गये हैं।

शैवमतानुसार योग के चार पाद हैं—क्रिया, चर्या, ज्ञान एव योग।[3] इनसे निर्गत दार्शनिक योग-धाराएँ प्रवाहित होती है जिनमे बताया गया है कि पूर्णस्वरूप से मिलने पर भी अपने स्वरूप को अलग रखना द्वैत है। इसी प्रकार इसमे द्वैताद्वैत एव विशिष्टाद्वैत का भी निरूपण हुआ है। इसके अनुसार जीव सामान्यतया पशुतुल्य माना गया है, जो तीन मल से आवृत है। ये तीन मल आणव, माया तथा कर्म हैं।[4] इसके अनुसार जीव अपने स्वरूप को भूलकर सुख-दु खादि का अनुभव करता रहता है। शिवस्वरूप बनने के लिए जीव को शक्तिपात्त एव दीक्षा के द्वारा अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना होता है। ऐसा करने मे मल से निवृत्ति होती है एव विशेष साधना का भी सहारा लेना होता है। इन

---

१. Philosophy of Gorakhnath, Introduction, p 26

२. तन्त्रालोक, कण्ठसहिता, भाग १, पृ० ३७-३८

३. सर्वदर्शनसग्रह, पृ० ३२२

४ आणव-मायीय—कर्ममलावृतत्वात् त्रिमय.।

—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ० १५

मलावरणों को हटाकर स्वरूप को प्राप्त होना ही मोक्ष है, अर्थात् स्वरूप-शक्ति का बोध ही मोक्ष कहलाता है ।[१]

काश्मीर के प्रत्यभिज्ञ दार्शनिकों ने 'योग' की जगह 'समवेश' शब्द का प्रयोग किया है और उसका योग शब्द से विलक्षण अर्थ प्रतिपादित किया है।[२] आणव, शाक्त एव सांभव[३] इन तीन उपायो के द्वारा स्वरूप-साक्षात्कार सम्भव होता है। इस मत मे दीक्षा का विशेष महत्त्व है, क्योकि गुरु-दीक्षा द्वारा ही स्वरूप का सम्बन्ध होता है[४] और शक्तिपात या ईश्वर-प्रपात द्वारा अन्तस्तल की सुप्त कुण्डलिनी जाग्रत होकर स्वरूप का बोध कराती है और फिर अखण्ड पद प्राप्त होता है। यह सामरस्य अवस्था या अखण्ड सामरस्य अवस्था है, जो शिवयोग के नाम से अभिहित है। शिवयोग का विशेष वर्णन करते हुए परमार्थसार[५] मे कहा गया है कि शिवयोगी के लिए समाधि-उत्थान का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योकि वह स्वय शिवस्वरूप में स्थित होता है। इसके अनुसार साधना की अनुभूति को विशेष स्थान प्राप्त है।

इस परम्परा मे अज्ञान के दो प्रकार माने गये हैं[६]—बुद्धिगत अज्ञान और पौरुष-अज्ञान। चित् शक्ति का संकोच अज्ञान है तथा इस सकोच की चरम सीमा ही संसार है। स्वरूप-संकोच के कारण स्वयं चेतन ही जड बन जाता है। चैतन्य को ही प्रमाण, प्रमेय माना गया है और चित्-शक्ति को विशेष स्थान दिया गया है।

परमात्मा के पाँच कृत्य इस प्रकार हैं—(१) सृष्टि, (२) स्थिति, (३) सहार, (४) अनुग्रह, तथा (५) विलय।[७] इन कृत्यो की निरन्तरता अव्या-

---

१. तन्त्रालोक, १।६२

२. Abhinavagupta : An Historical and Philosophical Study., p 312

३ Ibid, p 293

४ Ibid, p 304

५ परमार्थसार, ५६-६०

६. द्विविधं च अज्ञान—बुद्धिगतं पौरुषं च।—तन्त्रसार, अध्याय १, पृ० २-३; तन्त्रालोक, १।३६, पृ० ७३

७. तथापि तद्वत् पंचकृत्यानि करोति।
सृष्टि सहारकर्तारं विलय स्थिति कारकम्।
अनुग्रहकरं देवप्रणतार्ति विनाशनम्।—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ० ३२

हत है। यह वस्तुतः परमात्मा का ही खेल है। इसके फलस्वरूप जीव मे स्वरूपबोध की आन्तरिक इच्छा बलवती होती है, वह अपने में अभाव का बोध करता है। वैसी स्थिति में वह कर्मसाम्य एवं मलपरिपाक की अपेक्षा करता है। यहाँ कर्मसाम्य का तात्पर्य मनुष्य के पुण्य और पाप कर्म के साम्य के फलस्वरूप उत्पन्न सहजकृपा का उन्मेष है और कालानुगत मल (अज्ञान) अवस्था की परिपक्व अवस्था होते ही ज्ञान का आविर्भाव होना मलपरिपाक है। इन दोनो क्रियाओ के अनुसार जीव की प्रवृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है, फिर गुरु अथवा किसी माध्यम द्वारा कुण्डलिनी जाग्रत होती है और वह ऊर्ध्वमुख होकर सहस्राधार तक पहुँचती है, जिसके फलस्वरूप इन्द्रिय, प्राण, बुद्धि एवं अहंकार शक्तिस्वरूप बनकर शिव से तादात्म्य होकर खेलने लगते हैं। इस प्रकार सुप्त शक्ति का शिव से मिलन ही योग है। इसे नित्ययोग अथवा नित्यमिलनयोग भी कहा जाता है।

पातंजल-योग

यो तो योग का उल्लेख योगपद्धति-सहिता, ब्राह्मण-ग्रन्थो तथा उपनिषदो मे हुआ है, लेकिन योग को व्यवस्थित एवं सम्यक् स्वरूप प्रदान किया है महर्षि पतंजलि ने। पातजल योगसूत्र पर अनेक टीकाएँ लिखी गयी हैं, जिनमे व्यास-भाष्य सबसे प्रामाणिक माना जाता है तथा अनेक प्रमुख टीकाकारो में विज्ञानभिक्षु, भोज एवं वाचस्पति मिश्र के नाम उल्लेखनीय हैं।

पातंजल-योग साख्यसिद्धान्त की नीव पर खड़ा है। योगसूत्र चार पादों मे विभक्त है। प्रथम पाद मे योग के लक्षण, स्वरूप तथा उसकी प्राप्ति के उपायो का वर्णन है। द्वितीय पाद का नाम साधनपाद है जिसमें दु:खो के कारणो पर प्रकाश डाला गया है। तृतीय विभूतिपाद मे धारणा, ध्यान, समाधि, एव सिद्धियो का वर्णन है तथा चतुर्थ कैवल्यपाद मे चित्त के स्वरूप का प्रतिपादन है।

महर्षि पतजलि की योग की परिभाषा है : 'चित्तवृत्तियो का निरोध ही योग है'।[1] इस परिभाषा के अनुसार चंचल मन प्रवृत्तियों का सयमन योग के लिए अनिवार्य है। चित्त की ये वृत्तियाँ पांच प्रकार की हैं[2]—प्रमाण,

१. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।—योगदर्शन, १।२

२. प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतय.।—वही, १।६

विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति। इन वृत्तियों के निग्रहमात्र से ही योगसिद्धि नही हो जाती। इन वृत्तियों के साथ सस्कार भी जुडे होते है और इन सूक्ष्म सस्कारो को भी रोकने की प्रक्रिया योगसिद्धि के लिए अपेक्षित है।

योग के दो भेद हैं—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। चित्त मे अनेक वृत्तियाँ रहती हैं। किसी एक वस्तु मे ध्यानस्थ होने पर, उनमें से एक ही वृत्ति कार्यशील होती है और अन्य वृत्तियाँ क्षीण होती हैं। उसको प्रज्ञा कहते हैं। अतः एकाग्र भूमि मे एक वस्तु के सतत भाव मे लगे रहना सम्प्रज्ञात समाधि है। असम्प्रज्ञात समाधि अथवा योग के अन्तर्गत सभी वृत्तियों का पूर्णत निरोध आवश्यक है। सम्प्रज्ञात के चार भेद निर्दिष्ट हैं—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत।[1] असम्प्रज्ञात समाधि कैवल्य की स्थिति है, क्योकि इस समाधि मे चित्त की अवस्था बिलकुल शान्त एव सस्काररहित होती है; लेकिन ऐसी अवस्था मे सस्कार बहुत बाधक बनते हैं, जिनका पूर्वजन्मानुसार जीव मे आगमन होता रहता है। इनका कारण अविद्या अर्थात् मिथ्यात्व है, इसीसे कर्म बँधते है और ये कर्म क्लेशो से उत्पन्न होते है। इन कर्म-क्लेशो के पाँच भेद हैं[2]—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश। अत इन वासनाओ, कर्मो तथा क्लेशो का सर्वथा नाश विवेक अथवा सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर लेने पर ही होता है और तभी आत्मतत्त्व पहचानने की शक्ति उत्पन्न होती है। ऐसी स्थिति की प्राप्ति ही आत्मलीनता अथवा कैवल्यधाम है, जो योग का लक्ष्य है।[3]

इस प्रकार मन.शुद्धि करके क्रमशः आत्मस्वरूप मे स्थित होने के लिए आठ योगाग बताये गये हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एव समाधि।[4] अहिसा, सत्य, अस्तेयादि

---

१. वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः।—योगदर्शन, १।१७

२. अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पचक्लेशा।—वही, २।३

३. पुरुषार्थशून्याना गुणाना प्रतिप्रसव कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्ति-रिति।—वही, ४।३४

४. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि।
—वही, २।२९

यम[1] तथा शौच, संतोषादि नियमों[2] के अनुष्ठान का विधान है, जिनसे साधक संयम मे स्थित होता है। साधना के दौरान योगी के समक्ष अनेक अन्तराय[3] आते हैं।

क्रियायोग तथा समाधियोग के सतत अभ्यास से योग की सिद्धि होती है। यहाँ क्रियायोग का तात्पर्य तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान है।[4] तप का मतलब है चान्द्रायण, काछ्रमणादि व्रत। वेदो का अध्ययन, चिन्तन-मनन करना स्वाध्याय है तथा ईश्वर को सम्मुख रखकर बार-बार उसके गुणों का स्मरण करना ईश्वर-प्रणिधान है। इस क्रियायोग से इन्द्रियों का दमन होता है। अभ्यास और वैराग्य[5] की सतत भावना उसके लिए अनिवार्य है। इस तरह सावधानीपूर्वक अष्टांग-योगयुक्त योग-समाधि सलीन योगी ही दीर्घकाल तक योग मे रमण कर सकता है।[6] योगदर्शन मे अनेक लब्धियो का भी वर्णन है।

अद्वैतवेदान्त एवं योग

भारतीय दर्शनो में वेदान्त का प्रमुख स्थान है। यह दर्शन केवल सैद्धान्तिक ही नही, व्यावहारिक भी है। इसमे परमलक्ष्य अथवा आत्मोपलब्धि के लिए उन साधनो का विचार किया गया है जो योगसाधना के लिए आवश्यक हैं।

अद्वैतवेदान्त के अनुसार माया के कारण ही जीव ससार मे भ्रमण करता है। आत्मदर्शन मे मग्न रहकर तथा योगारूढ होकर ही इस ससार से पार हुआ जा सकता है।[7] योग का उद्देश्य आत्मा पर पड़े

---

१. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा । —वही, २।३०

२. शोचसतोषतप.स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा. ।—वही, २।३२

३ व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तराया. । —वही, १।३०

४ तप स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग । —वही, २।१

५ अभ्यासवैराग्याभ्या तन्निरोध. । —वही, १।१२

६ योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्तते ।
यो प्रमत्तस्तुऽयोगेन स योगे रमते चिरम् ।
—योगदर्शन, व्यासभाष्य, पृ० ५१७

७ उद्धरेदात्मनात्मानं मग्न ससारवारिधौ ।
योगारूढत्वमासाद्य सम्यग्दर्शननिष्ठया ।। —विवेकचूडामणि, ९

आवरण या अविद्या को हटाना है। इस अविद्या के कारण ही जीव अपनी चित् शक्ति को पहचान नही पाता है। इस आवरण को हटाने के लिए ही वेदान्त मे साधन-चतुष्टय वतलाये गये है, जिनके द्वारा अज्ञान नष्ट होता है तथा साधक को ब्रह्मजिज्ञासा होती है। ये चार साधन हैं[1]—(१) नित्यानित्य वस्तुविवेक, (२) वैराग्य, (३) षट् सम्पत्तियाँ . शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा तथा समाधान, और (४) मुमुक्षत्व। वेदान्त की साधना ज्ञान पर आधृत है, इसलिए श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन[2] द्वारा ज्ञान प्राप्त करके यह भव पार करने को कहा गया है।

वेदान्त-योग मे ब्रह्म तथा जीव एक हो जाते हैं। ब्रह्म के सगुण रूप का एकनिष्ठ ध्यान करना और उसमे लीन होना ही योग का वास्तविक स्वरूप है।[3] जब जीव और ब्रह्म एक हो जाते हैं, तब जीव के समस्त अहंकारादि दोष नष्ट हो जाते है। माया के कारण जीव आत्मस्वभाव को भूला हुआ है। ज्ञान-प्राप्ति के बाद उसका ब्रह्म के साथ तादात्म्य हो जाता है। यही मोक्ष है और मोक्ष प्राप्त करना ही अद्वैत-वेदान्त-योग का साध्य है।

श्रद्धा, भक्ति, ध्यान और योग ये मुक्ति के कारण है और इनसे ही देहबन्धन का उच्छेद होता है।[4] इस निर्विकल्प समाधि से ही अज्ञान[5] नष्ट होता है, क्योकि अविद्या ससार का मूल कारण है और इस वंधन को तोड़ना ही मोक्ष है।[6] इसके लिए मन, वचन तथा काया का निरोध

---

१. आदौ नित्यानित्यवस्तुविवेक. परिगण्यते।
इहामूत्रफलभोगविरागस्तदनन्तरम्।
शमादिषट्कसम्पत्तिर्मुमुक्षुत्वमिति स्फुटम्॥ —वही, १९

२. तत श्रुतिस्तन्मनन सतत्वध्यानं चिरं नित्यनिरतर मुने.। —वही, ७८

३. योगमनोविज्ञान, पृ० २९

४. श्रद्धाभक्तिध्यानयोगान्मुमुक्षोर्मुक्तेर्हेतून्वक्ति साक्षाच्छ्रु तेर्गी.।
यो वा एतेष्वेव तिष्ठत्यमुष्य मोक्षोऽविद्याकल्पितादेहबन्धात्॥
—विवेकचूडामणि, ४६

५. अज्ञानहृदय ग्रथिनि शेष विलयस्तदा।
समाधिऽविकल्पेन् यदा द्वैतात्मदर्शनम। —वही, ३५३

६ अविद्यास्तभयो मोक्ष. सा वन्ध उदाहृत। —सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ७६३

आवश्यक है, क्योंकि वाणी का मन में, मन का बुद्धि मे और बुद्धि का आत्मा में तथा आत्मा का पूर्ण ब्रह्म मे लय करने पर ही परम शान्ति प्राप्त की जा सकती है।[1]

बौद्ध योग

यौगिक क्रियाओ के आदर्श विभिन्न आध्यात्मिक शास्त्रो मे भिन्न-भिन्न हैं। उपनिषदों मे योग का प्रतिपादन ब्रह्म के साक्षात्कार के रूप मे हुआ है। पतंजलि के योगदर्शन मे इसका अर्थ सत्य का अन्तर्वेक्षण है और बौद्धधर्म में इसकी संज्ञा बोधिसत्त्व की प्राप्ति अथवा जगत् की निःसारता का ज्ञान प्राप्त करना है।[2] बौद्धधर्म में भी तत्त्वज्ञान के लिए योग का प्रयोजन स्वीकृत है। बौद्ध ग्रन्थों मे प्रयुक्त समाधि[3] एवं ध्यान शब्द योग को ही व्यंजित करते हैं। निर्वाण की प्राप्ति के साधन मे योग की अनिवार्यता स्वीकार की है, जैसा कि मोक्ष-प्राप्ति के साधन के रूप में योग की महत्ता जैन ग्रन्थों मे प्रतिपादित है। यही कारण है कि बुद्ध ने बोधिसत्त्व की प्राप्ति होने से पहले प्राणायाम द्वारा श्वासोच्छ्वास के निरोध का प्रयत्न किया था[4] और इसी साधन के द्वारा वे बोधि प्राप्त करना चाहते थे। परन्तु इसमे सफलता नहीं मिली। फलत: हठयोग-पद्धति का निषेध करके उन्होने अष्टाग-मार्ग[5] की प्रतिष्ठापना की। उल्लेखनीय है कि प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति एवं समाधि[6] योग के इन छह अंगो मे प्राणायाम को महत्त्व दिया गया है। यद्यपि बौद्धधर्म के प्रारम्भिक काल मे योग का निरूपण स्पष्ट रूप मे नही

---

१. वाच नियच्छात्मनि तं नियच्छ बुद्धौ धियं यच्छ च बुद्धिसाक्षिणि।
तं चापि पूर्णात्मनि निर्विकल्पे विलाप्य शांति परमा भजस्व।
—विवेकचूडामणि, ३६९

२. राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, भाग० १, पृ० ३९२

३. कुसलचित्तेकग्गता समाधि। —विशुद्धिमार्ग, ३।१

४. योगशास्त्र : एक परिशीलन, पृ० ३०

५. संयुक्तनिकाय, ५।१०

६. प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथधारणा।
अनुस्मृतिः समाधिश्च षडंगयोग उच्यते॥—शैकोद्देशटीका, पृ० ३०

मिलता, परन्तु महायानियो ने योग पर विस्तृत एवं व्यापक रूप में विचार किया है। बौद्ध योग मे 'समाधि' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसको प्राप्त करने के लिए ध्यान[1] का प्रतिपादन किया गया है जो इस प्रकार है: (१) वितर्क विचार प्रीति सुख एकाग्रता सहित, (२) प्रीति सुख एकाग्रता सहित, (३) सुख एकाग्रता सहित और (४) एकाग्रता सहित।

ध्यान की एकाग्रता के लिए योगी को आचार-विचार एवं नीति-नियमो का सम्यक्रूपेण पालन करना चाहिए, क्योकि संयम के बिना ध्यान अथवा समाधि लगाना वैसे ही निरर्थक है, जैसे कि फूटे घड़े मे पानी भरना व्यर्थ है। चित्तवृत्तियो की पूर्ण शान्ति एवं एकाग्रता के लिए भी सयमी तथा सदाचारी रहना वाछनीय है। इन सारे आचार-विचारो का विस्तृत वर्णन सुत्तपिटकों में हुआ है। बौद्धागम मे प्राणायाम को आनापानस्मृति कर्मस्थान कहा है। प्राणायाम की विधि के उपयोग की सार्थकता बताते हुए कहा है कि चित स्थिर रखने के लिए साधक को चाहिए कि वह शरीर स्थिर करके श्वासोच्छ्वास ले। यदि इस पर भी उसका चित्त शान्त नही होता है तो साधक को चाहिए कि वह गणना, अनुबन्धा, स्पर्श, स्थापना का प्रयोग करे।[2]

बौद्ध योग मे नैतिक जीवन के सिद्धान्त इस प्रकार माने गये हैं— दान, वीर्य, शील, शान्ति, धैर्य, ध्यान और प्रज्ञा,[3] क्योकि इनके द्वारा व्यक्ति मे उच्च भावो का विकास होता है तथा दृष्टि क्षिति का विस्तार होता है। बौद्ध योग-साधना मे चार स्मृतियाँ अर्थात् कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना और धर्मानुपश्यना महत्त्वपूर्ण हैं। इन स्मृतियो के अन्तर्गत ही इन्द्रिय-सयम, चार आर्यसत्य, अष्टागिक मार्ग, सप्त बोध्यग, चार ध्यान तथा अनात्मवाद आते हैं।[4] इस प्रकार शरीर को निश्चल करने का मार्ग बतलाकर संसार के चार कारणो अर्थात् चार

---

१. दीघनिकाय, १।२; पृ० २८-२९
२. विशुद्धिमार्ग, भाग १, परिच्छेद ८
३. उत्तरोत्तरत: श्रेष्ठा दानपारमितादय:।
नेतरार्थं त्यजेच्छ्रेष्ठामन्यत्राचारसेतुत ॥—बोधिचर्यावतार, ५।८३
४. दीघनिकाय, २।९, बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भा० १, पृ० ३४३

आर्य सत्यो[1] का उल्लेख किया गया है, जो इस प्रकार है : (१) दु.ख, (२) दु.ख समुदाय, (३) दु.खनिरोध और (४) दुःख-निरोध के उपाय। बौद्ध-दर्शन के अनुसार संसार मे दु ख ही दुःख है। इन दु ख समुदायो की जड़ें बहुत हैं, जिन्हे द्वादश निदान अथवा प्रतीत्यसमुत्पाद कहा जाता है।[2] वे इस प्रकार हैं—(१) अविद्या, (२) सस्कार, (३) विज्ञान, (४) नामरूप, (५) षडायतन, (६) स्पर्श, (७) वेदना, (८) तृष्णा, (९) उपादान, (१०) भव, (११) जाति, और (१२) जरामरण। इन सबका सम्बन्ध भूत, वर्तमान एवं भविष्य के साथ है। इन आर्यसत्यो का निरोध करने के लिए अविद्या का निरोध अत्यावश्यक है, क्योंकि केवल अविद्या ही इन द्वादश निदानो की जड़ है। इस सन्दर्भ मे दुःख-निरोध-मार्ग की चर्चा करते हुए बुद्ध ने मध्यम प्रतिपदा का मार्ग बतलाया है जो अष्टागमार्ग से भी जाना जाता है।[3] यह अष्टांग मार्ग इस प्रकार है—(१) सम्यग्दृष्टि, (२) सम्यक्सकल्प, (३) सम्यक्वचन, (४) सम्यक्कर्मान्त, (५) सम्यक्-आजीव, (६) सम्यक्व्यायाम, (७) सम्यक्स्मृति, तथा (८) सम्यक्-समाधि। इन मार्गो के सम्यक् सेवन से प्रज्ञा का उदय होता है एवं निर्वाण प्राप्त होता है।

सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के तीन साधन बतलाये गये हैं—शील, समाधि और प्रज्ञा। शील अर्थात् सात्विक कर्म जिनका पालन भिक्षु-भिक्षुणी एव श्रावको के लिए अनिवार्य है।[4] अहिंसा, अस्तेय, सत्य, ब्रह्मचर्य तथा व्यसन-निरोध को पचशील कहा गया है। ये पंचशील आचार-विचार को नियन्त्रित एव शुद्ध करते हैं, जो बोधि-लाभ करनेवाले साधक के लिए आवश्यक हैं। इन पचशीलो के साथ-साथ भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए अपराह्न मे भोजन करने का त्याग, माला धारण न करना, सगीत से परहेज, सुवर्ण-रजत के व्यामोह का त्याग तथा महार्घ शय्या का भी परित्याग करना आवश्यक है।

---

१. विशुद्धिमार्ग, भाग २, परिच्छेद १६, पृ० १०५

२. विशुद्धिमार्ग, भाग २, परिच्छेद १७, पृ० १२९

३. विशुद्धिमार्ग, भाग २, परिच्छेद १६, पृ० १२१

४. दीघनिकाय, पृ० २४–३३

इस प्रकार संयमपूर्ण आचार-विचार की अनिवार्यता प्रतिपादित करते हुए बुद्ध ने शील, समाधि एवं प्रज्ञा का विधान किया है, जो योग के ही स्रोत हैं। इनके अतिरिक्त योग-साधना के विभिन्न अगोपागो की विस्तृत चर्चा 'मिलिन्दप्रश्न' में है।[1] बौद्ध योग मे यद्यपि पातंजल योग की भाँति व्यवस्थित एव क्रमबद्ध योग की चर्चा नही हुई है, तथापि बुद्ध ने बोधिप्राप्ति के लिए जो-जो उपाय बतलाये हैं, वे निश्चय ही आध्यात्मिक अथवा योग-मार्ग के सोपान है।

१. मिलिन्दप्रश्न, ६।१।१

प्रस्तुत प्रकरण मे केवल जैन योग सम्बन्धी प्रमुख ग्रन्थो का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है, ताकि जैन योग की परम्परा एव विकासक्रम का परिचय प्राप्त हो सके। जैन योग की मौलिकता, व्यापकता तथा विविक्ता पर विशेष विचार तृतीय अध्याय मे किया गया है।

भारतीय वाङ्मय में योग विषयक ऊर्जस्वी विचार अपने मूलरूप मे अत्यन्त प्राचीन हैं। अथर्ववेद मे योग द्वारा प्राप्त अलौकिक शक्तियों का वर्णन, कठ-तैत्तिरीयादि उपनिषदो मे 'योग' की परिभाषा, महाभारत, गीता तथा बौद्ध ग्रंथो मे वर्णित योग विषयक प्रचुर सामग्री को देखकर योग-दर्शन एव साधना की अतिव्यापकता एव प्राचीनता का अनुमान सहज ही लग जाता है।

'योग-विद्या' के प्रवर्तको में महर्षि पतंजलि अग्रगण्य एवं प्रधान आचार्य हैं, जिन्होने अनेक प्राचीन ग्रन्थो में बिखरे हुए योग सम्बन्धी विचारो को अपनी असाधारण प्रतिभा तथा प्रयोगो द्वारा सजा-सँवार कर 'योगदर्शन' ग्रन्थ का प्रणयन किया। यह ग्रन्थ उनकी असाधारण प्रतिभा तथा गम्भीर मेधाशक्ति का परिचायक है।

जैन परम्परा मे सर्वप्रथम, (ई० ८वीं शती मे) हरिभद्रसूरि ने 'योग' शब्द का प्रयोग आध्यात्मिक अर्थ मे किया है। 'योग' शब्द के समानार्थक सवर, ध्यान, तप आदि शब्द आगमों में मिलते हैं। आगमों मे ध्यान के भेद-प्रभेद तथा आचार-संहिता आदि का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है।[1] आगमो में योग से सम्बन्धित विषयो का विशद वर्णन निर्युक्ति में मिलता है।[2] इनमे ध्यान के साथ कायोत्सर्ग तप का विशेष रूप से वर्णन है।

---

१. स्थानागसूत्र, ४।१; भगवतीसूत्र, २५।७
समवायागसूत्र, ४, उत्तराध्ययनसूत्र, ३०।३५

२. आवश्यकनिर्युक्ति, १४६२-१४८६

ध्यानशतक[1]

जैन योग विषयक प्राचीन ग्रन्थ 'ध्यानशतक' है। इसके रचयिता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (ई० सातवी शती) हैं। यह ग्रन्थ आगम-शैली मे लिखा गया है। इसमे ध्यान के चारों प्रकारो का वर्णन है। प्रथम दो ध्यान आर्त्त और रौद्र कषाय तथा वासनाओ को बढाते हैं, तथा अन्य दो ध्यान धर्म और शुक्ल मोक्ष के कारणभूत हैं। धर्मध्यान मोक्ष का सीधा कारण नही है। वह शुक्लध्यान का सहयोगी मात्र है। शुक्लध्यान मोक्ष का सीधा कारण है।[2] इस ग्रंथ मे बताया गया है कि जीव को कषाये, वासनाएँ एव लेश्याएँ कैसे बाँधती हैं। इसमे आसन, प्राणायाम, अनुप्रेक्षाओ का भी वर्णन है।

मोक्षपाहुड

इस ग्रन्थ के प्रणेता आचार्य कुन्दकुन्द हैं। इनका समय अनुमानतः ई० पू० द्वितीय शताब्दी के आसपास है।[3] मोक्षपाहुड मे १०६ गाथाएँ है। इसमे जैन योग सम्बन्धी बहुत महत्त्वपूर्ण बातो का वर्णन है। इस छोटे-से ग्रन्थ मे आत्मा के विभिन्न स्वरूपो का परिचय कराते हुए बताया है कि मिथ्यात्व के कारण जीव की कैसी दशा होती है। आत्मध्यान में प्रवृत्त होने के लिए कषायो के आवरण को हटाने का उपदेश है, क्योंकि इसमे सभी आस्रवो का निरोध होता है और संवर-निर्जरा से सचित कर्मों का क्षय होता है। मुनि के लिए पाँच महाव्रत, तीन गुप्ति, पाँच समिति आदि चारित्र का भी वर्णन है। बहुत से योगी विषय-वासना से मोहित होकर तपोभ्रष्ट हो जाते हैं, अतः योगी मुनि को ध्यान-साधना में सावधान रहने के लिए कहा है। इसमे श्रावक-धर्म का भी वर्णन है। यथार्थतः यह रचना योग-शतक रूप से लिखी गयी प्रतीत होती है और इसको 'योगपाहुड' भी कहा जा सकता है। पातंजल योग-दर्शन मे योग के जिन यम-नियमादि आठ अंगो का निरूपण है, उनमें से प्राणायाम को

---

१. इस पर हरिभद्र की टीका है।

२. शुक्लशुचिनिर्मल शकलकर्ममलक्षयहेतुत्वात्।

—योगशास्त्रप्रकाश ४, श्लोक १५, स्वोपज्ञ विवरण

३. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, प्रस्तावना, पृ० ७०

छोड, शेष सात का विषय यहाँ स्फुट रूप से जैन परम्परानुसार पाया जाता है।[1]

समाधितन्त्र

यह[2] भी कुन्दकुन्दाचार्य की रचना है। इसमे ध्यान तथा भावना का निरूपण है। इस पर पर्वतधर्म और नाथूमल रचित दो टीकाएँ भी थी, जो अनुपलब्ध है।[3]

तत्त्वार्थसूत्र

इस ग्रन्थ के प्रणेता आचार्य उमास्वाति या उमास्वामी हैं। इनका समय विक्रम की पहली से चौथी शती के बीच मे आँका जाता है।[4] इस ग्रन्थ मे जैनदर्शन का पूर्णरूपेण समावेश हुआ है। इस ग्रन्थ पर श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो आम्नायो के आचार्यों ने अनेक टीकाएँ अथवा भाष्य लिखे है।[5] यह मोक्ष-मार्ग प्रतिपादक एक अनूठा सूत्रग्रन्थ है। इसमे दस अध्याय हैं। पहले अध्याय मे ज्ञान-क्रिया का वर्णन है। दूसरे से लेकर पाँचवें अध्याय तक ज्ञेय का और छठे से लेकर दसवें तक चारित्र का वर्णन है। योग-निरूपण मे प्राय. चारित्र का ही वर्णन होता है, क्योकि चारित्र के पालन से ही आध्यात्मिक विकास होता है।

इष्टोपदेश

योग विषयक आचार्य पूज्यपादकृत जो दो संस्कृत रचनाएँ उल्लेखनीय हैं, उनमे एक इष्टोपदेश है।[6] आचार्य पूज्यपाद का समय विक्रम की पाँचवी-छठी शती है।[7] इष्टोपदेश ५१ श्लोको की छोटी-सी रचना

---

१. डा० हीरालाल जैन, भारतीय सस्कृति मे जैनधर्म का योगदान, पृ० ११६

२. इस नाम से पूज्यपाद एवं यशोविजयगणि की भी रचनाएँ प्राप्त हैं।
—जिनरत्नकोश, पृ० ४२१

३. वही।

४. तत्त्वार्थसूत्र (प० सुखलाल-विवेचन), प्रस्तावना, पृ० ९

५. विशेप के लिए देखिए, वही।

६ आशाधर-टीका, अनुवादक-धन्यकुमार तथा चम्पतराय, प्रकाशक-रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई, १९५४

७. इष्टोपदेश, पृ० ६

है। इसमे योग के निरूपण के साथ-साथ साधक की उन भावनाओ का उल्लेख भी है, जिनके चिन्तन से वह अपनी चचल वृत्तियो को तज कर अध्यात्ममार्ग मे लीन होता है तथा बाह्य व्यवहारों का निरोध करके आत्मानुष्ठान मे स्थिर होकर परमानन्द की प्राप्ति करता है।

समाधिशतक[1]

पूज्यपाद का योग से सम्बन्धित यह दूसरा ग्रन्थ है। इसमे १०५ श्लोक हैं, जिनमे आत्मा की तीन अवस्थाओं (बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा) का वर्णन है। ध्यान-साधना मे अविद्या, अभ्यास एव संस्कार के कारण अथवा मोहोत्पन्न राग-द्वेष द्वारा चित्त मे विक्षेप उत्पन्न होने पर साधक को प्रयत्नपूर्वक मन को खीचकर आत्मतत्त्व में नियोजित करने का उपदेश दिया गया है। इस छोटे-से किन्तु महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मे ध्यान तथा समाधि द्वारा आत्मतत्त्व को पहचानने के उपायों का सुन्दर विवेचन है। विषय की दृष्टि से इसका कुन्दकुन्दकृत मोक्ष-पाहुड से बहुत-कुछ साम्य के अतिरिक्त उसकी अनेक गाथाओ का शब्दशः अथवा किंचित् भेद-सहित अनुवाद पाया जाता है।[2] इस पर प्रभाचन्द्र, पर्वतधर्म तथा दशचन्द्र की टीकाएँ और मेघचन्द्र की एक वृत्ति भी मिलती है।[3]

परमात्मप्रकाश[4]

इस अपभ्रंश ग्रन्थ के रचयिता योगीन्दुदेव हैं। डा० हीरालाल

---

१. यह कृति सनातन जैन ग्रन्थमाला ने सन् १९०५ मे, फतेहचन्द देहली ने वि० स० १९७८ मे तथा अंग्रेजी अनुवाद के साथ एम० एन० द्विवेदी ने अहमदाबाद से सन् १८९५ मे प्रकाशित की है। मराठी अनुवाद के साथ इसकी द्वितीय आवृत्ति आर० एन० शाह ने शोलापुर से सन् १९४० मे प्रकाशित की है।

२. भारतीय संस्कृति मे जैनधर्म का योगदान, पृ० १२०

३. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ४, पृ० २५८

४. परमात्मप्रकाश और योगसार, रायचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, ई० सन् १९१५, सपादक डा० ए० एन० उपाध्ये, ई० सन् १९३७; दूसरा संस्करण, ई० स० १९६०

जैन और डॉ० ए० एन० उपाध्ये के अनुसार इस ग्रन्थ का समय अनुमानतः ई० छठी शताब्दी है। परमात्मप्रकाश पर अनेक टीकाएँ रची गयी हैं, जिनमें ब्रह्मदेव, बालचन्द्र, पण्डित दौलतरामजी तथा मुनिभद्रस्वामी (कानडी की टीका) प्रमुख हैं।[1] इस पुस्तक में मानसिक दोषो के परिहार के उपाय एवं त्रिविध आत्मा के सम्बन्ध में समुचित विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ में ३४५ दोहे हैं। परमात्म-प्रकाश के कुछ दोहे आचार्य हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण मे उद्धृत हैं।

योगसार

यह भी योगीन्दुदेव की ही अपभ्रंश भाषा की छोटी-सी १०७ दोहों की रचना है। इन दोहो के माध्यम से आध्यात्मिक गूढ तत्त्वों का सुन्दर विश्लेषण हुआ है। इस ग्रन्थ पर इन्द्रनन्दी की टीका है।[2] योगसार नाम के अन्य ग्रन्थ भी हैं, जिनका उल्लेख आगे आयेगा।

हरिभद्र की योग विषयक रचनाएँ

आचार्य हरिभद्र का समय ई० सन् ७५७ से ८२७ तक है। योग सम्बन्धी उनकी छह रचनाएँ इस प्रकार हैं : (१) योगशतक, (२) ब्रह्म-सिद्धान्तसार, (३) योगविंशिका, (४) योगदृष्टि समुच्चय, (५) योगबिन्दु और (६) षोड्शक। इनमें से योगशतक और योगविंशिका प्राकृत में हैं एव शेष कृतियाँ सस्कृत मे हैं। यहाँ संक्षेप में आचार्य हरिभद्र की रचनाओ का परिचय दिया जा रहा है।

(अ) **योगशतक**[3]—१०१ प्राकृत गाथाओ के इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही निश्चय और व्यवहार योग का स्वरूप निरूपित है। गाथा ३८ से ५०

---

१. डा० हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृति मे जैनधर्म का योगदान, पृ० ११८

२. परमात्मप्रकाश तथा योगसार, सम्पादक ए० एन० उपाध्ये, प्रकाशक परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, १९३७, पृ० ११५

३. यह ग्रन्थ सन् १९६५ मे स्वोपज्ञवृत्ति तथा ब्रह्मसिद्धान्तसमुच्चय के साथ लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ है। डा० इन्दुकला झवेरी द्वारा सम्पादित योगशतक हिन्दी अनुवाद के साथ गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद से सन् १९५९ मे प्रकाशित हुआ है।

तक साधक के आध्यात्मिक विकास के उपाय वर्णित हैं। गाथा ५९ से ८० तक बताया गया है कि चित्त को स्थिर करने के लिए साधक को किस तरह अपने रागादि दोष तथा परिणामो का चिन्तन करना चाहिए। इनमे शयन, आसन, आहार तथा योगो से प्राप्त लब्धियो का भी वर्णन है। इस तरह योग का स्वरूप, योगाधिकारी के लक्षण एवं ध्यानरूप योगावस्था का सामान्य वर्णन जैन-परम्परानुसार किया गया है।

(आ) **ब्रह्मसिद्धान्तसार**—इस ग्रन्थ मे ४२३ श्लोक हैं, जिनमे ब्रह्मादि सिद्धान्तो का वर्णन जैन योगानुसार किया गया है। इस ग्रन्थ मे सर्व-दर्शनो का समन्वयवाला अंश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

(इ) **योगविंशिका**[1]—यह २० गाथाओं की छोटी-सी रचना है जिसमें अति सक्षिप्त रूप से योग की विकसित अवस्थाओं का निरूपण है, जिनमें कुछ नये पारिभाषिक शब्द हैं। हरिभद्र ने इस ग्रन्थ मे आचारनिष्ठ एवं चारित्रसम्पन्न व्यक्ति को योग का अधिकारी माना है और मोक्ष के साथ सम्बन्ध जोड़नेवाले धर्मव्यापारो को योग कहा है। योग के इन पाँच भेदो का वर्णन भी है—स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलम्बन तथा अनालम्बन। इस ग्रन्थ मे चैत्यवन्दन की क्रिया का महत्त्व भी वर्णित है। इनके अतिरिक्त इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता एवं सिद्धि इन चार यमो एवं प्रीति, भक्ति, वचन और असग अनुष्ठानो का भी वर्णन है। इस पर यशोविजयजी की एक टीका भी है।

(ई) **योगदृष्टिसमुच्चय**[2]—इसमे २२७ संस्कृत पद्य हैं, जिनमे आध्या-

---

१. (क) पं० सुखलालजी द्वारा सम्पादित यह ग्रन्थ श्री जैन आत्मानन्द महासभा, भावनगर से सन् १९२२ मे प्रकाशित हो चुका है।

(ख) ऋषभदेवजी केसरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम से सन् १९२७ मे प्रकाशित।

(ग) प्रो० के० वी० अभ्यकर द्वारा सम्पादित, सन् १९३२ मे पूना से प्रकाशित।

(घ) श्री बुद्धिसागरसूरि जैन ज्ञानमन्दिर, बीजापुर (उत्तर गुजरात) द्वारा वि० सं० १९९७ मे प्रकाशित।

२. यह कृति स्वोपज्ञवृत्ति के साथ देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था, सूरत से सन् १९११ मे प्रकाशित हुई है। ताराचन्द मेहता द्वारा सम्पादित योगदृष्टिसमुच्चय सविवेचन बम्बई से सन् १९५० मे प्रकाशित।

त्मिक विकास की भूमिकाओं का तीन प्रकार से वर्गीकरण किया गया है और उनमे अपनी कुछ नवीन विशेषताओ के साथ योगविन्दु में वर्णित विषयों की पुनरावृत्ति भी की गयी है। योगविन्दु मे वर्णित पूर्वसेवा का वर्णन इसमे योगवीज रूप से हुआ है।

यहाँ आध्यात्मिक विकास की भूमिकाओं का तीन प्रकार से वर्गीकरण किया गया है। प्रथम प्रकार जिसे योगदृष्टि कहते हैं, इसमे योग की प्रारम्भिक अवस्था से लेकर उसके अन्त तक की भूमिकाओ को क्रमशः दिखलाया गया है। वे आठ दृष्टियाँ इस प्रकार हैं—मित्रा, तारा, वला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा। दूसरे प्रकार के वर्गीकरण के अन्तर्गत इच्छायोग, शास्त्रयोग एवं सामर्थ्ययोग का समावेश किया गया है। तृतीय वर्गीकरण के अन्तर्गत योगाधिकारी के रूप मे गोत्रयोगी, कुलयोगी, प्रवृत्तचक्रयोगी और सिद्धयोगी का वर्णन है। प्रथम वर्गीकरण मे निर्दिष्ट आठ योगदृष्टियो में ही १४ गुणस्थानों की योजना कर ली गयी हैं।

इस ग्रन्थ पर स्वयं ग्रन्थकार ने एक स्वोपज्ञवृत्ति रची है, जो ११७५ श्लोकप्रमाण है। इस ग्रन्थ पर एक और वृत्ति की रचना हुई है जिसके लेखक सोमसुन्दरसूरि के शिष्य साधुराजगणि हैं। यह ग्रन्थ ४०५ श्लोक-प्रमाण है।[1]

ध्यातव्य है कि उक्त आठ योगदृष्टियो (मित्रा, तारा, वला आदि) पर यशोविजयजी ने चार द्वात्रिंशिकाएँ भी लिखी हैं और गुजराती मे योगदृष्टिनी सज्झाय नामक छोटी-सी पुस्तक लिखी है। इन दृष्टियो की समुचित विवेचना जैनदृष्टिए योग (गुजराती भाषा) तथा अध्यात्म-तत्त्वालोक (संस्कृत) मे क्रमश. मोतीचन्द कापडिया और मुनि न्याय-विजयजी ने की है।

(उ) **योगबिन्दु**[2]—हरिभद्र के इस ग्रन्थ मे ५२७ सस्कृत पद्य हैं,

---

१. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भा० ४, पृ० २३७

२. योगविन्दु, हरिभद्रीय स्वोपज्ञटीका, सम्पादक, डा० एल० सुआलि, प्रकाशक—जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, सन् १९११; जैनग्रन्थ प्रसारक सभा, भावनगर, सन् १९४०, वुद्धिसागर जैन ज्ञानमन्दिर, सुखसागर ग्रंथमाला, तृतीय प्रकाशन, सन् १९५०

जिनमें जैन योग के विस्तृत प्ररूपण के साथ-साथ अन्य परम्परासम्मत योगों की भी चर्चा है और उन योगो के साथ जैन योग की समालोचना भी की गयी है। योगाधिकारियो के सम्बन्ध मे बतलाया गया है कि वे दो प्रकार के होते हैं: (१) चरमावर्ती तथा (२) अचरमावर्ती। चरमावर्ती योगी ही मोक्ष के अधिकारी हैं। विभिन्न प्रकार के जीव के भेदो के अन्तर्गत अपुनर्बन्धक, सम्यग्दृष्टि अथवा भिन्न ग्रन्थि, देशविरति तथा सर्वविरति की चर्चा की गयी है। पूर्वसेवा के सन्दर्भ में योगाधिकार प्राप्ति के विविध अपेक्षित आचार-विचारो का वर्णन है। आध्यात्मिक विकास के क्रमशः अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसक्षेप— इन पाँच भेदों का निर्देश है, जिनके सम्यक् पालन से कर्मक्षय होता है तथा मुक्ति प्राप्त होती है। प्रत्येक योगाधिकारी के अनुष्ठान की कोटियो का वर्णन भी है, जिन्हे लेखक ने विष, गरल, सद्-असद् अनुष्ठान, तद्धेतु और अमृतानुष्ठान द्वारा निर्दिष्ट किया है।

(ऊ) षोडशक[1]—इस ग्रन्थ के कुछ ही प्रकरण योग विषयक हैं। ग्रन्थ के चौदहवे प्रकरण में योग-साधना मे बाधक खेद, उद्वेग, क्षेप, उत्थान, भ्रान्ति, अन्यमुद्, रुग् और आसग इन आठ चित्त-दोषो का वर्णन किया गया है। सोलहवें प्रकरण मे उक्त आठ दोषो के प्रतिपक्षी अद्वेष, जिज्ञासा, शुश्रूषा, श्रवण, बोध, मीमांसा, प्रतिपत्ति और प्रवृत्ति— इन आठ चित्त-गुणो का निरूपण है। योगसाधना द्वारा क्रमश. स्वानुभूति-रूप परमानन्द की प्राप्ति का निरूपण है। इस ग्रन्थ पर योगदीपिका नाम की एक वृत्ति है जिसके लेखक यशोविजयगणि हैं। इस पर यशोभद्रसूरि का विवरण भी है।

आत्मानुशासन[2]

आचार्य गुणभद्र की संस्कृत श्लोकों की यह कृति योगाभ्यास को

---

१ यशोभद्रसूरि के विवरण सहित, ऋषभदेवजी केसरीमलजी जैन श्वेताम्बर सस्था, रतलाम, वीर नि० सं० २४६२

२. आत्मानुशासन, टीकाकार एवं अंग्रेजी अनुवादक जे० एल० जैनी, सैक्रेड बुक्स ऑफ दि जैनाज ग्रन्थमाला, ई० सन् १९२८; पं० टोडरमल्ल रचित टीका के साथ, संपादक इन्द्रलाल शास्त्री, मल्लिसागर दि० जैन ग्रन्थमाला, जयपुर, वीर नि० सं० २४८२

पूर्वपीठिका है। इसमे बताया गया है कि मन को बाह्य विषयो से हटाकर आत्मध्यान की ओर प्रेरित करना चाहिए। इस ग्रन्थ का रचना-काल ई० ९वी शताब्दी का मध्यभाग है।[1]

योगासारप्राभृत[2]

इस संस्कृत ग्रन्थ के रचयिता मुनि अमितगति है, जिसमे ५४० श्लोक हैं। रचना-काल ई० १०वीं शताब्दी है। इसमे ९ अधिकार हैं—(१) जीव, (२) अजीव, (३) आस्रव, (४) बन्ध, (५) सवर, (६) निर्जरा, (७) मोक्ष, (८) चारित्र, एवं (९) चूलिका। इस ग्रन्थ मे योगसम्बन्धी अपेक्षित विषय का विस्तृत वर्णन है। इनके अतिरिक्त जीव-कर्म का सम्बन्ध, जीव-कर्म के कारण, कर्म से छूटने के उपाय, ध्यान, चारित्र आदि का भी वर्णन है। अन्त में मोक्ष के सम्बन्ध मे भी प्रकाश डाला गया है। मुनि एव श्रावक के व्रतो की भी चर्चा है।

ज्ञानसार[3]

यह योगपरक एक नातिदीर्घ महत्त्वपूर्ण प्राकृत ग्रन्थ है। इसमें कुल ६३ गाथाएँ हैं। इसके रचयिता मुनि पद्मनन्दि हैं जिनका समय विक्रम स० १०८६ है। यद्यपि इस ग्रन्थ के वर्ण्यविषय ज्ञानार्णव के ही अनुसार हैं और इसमे ध्यान के भेद-प्रभेद, विविध प्रकार के मन्त्र एव जप, शुभ-अशुभ के फल आदि का वर्णन हुआ है, तथापि इन विषयों के प्रतिपादन मे रोचकता एवं स्पष्टता अधिक है।

ध्यानशास्त्र अथवा तत्त्वानुशासन[4]

इस ग्रन्थ के लेखक रामसेनाचार्य हैं, जिनका समय विक्रम की १०वीं

---

१. भारतीय सस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ० १२१

२. (अ) हिन्दी अनुवाद के साथ पन्नालाल वाकलीवाल द्वारा सम्पादित, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, १९१८

(ब) भाष्य के साथ जुगलकिशोर मुख्तार द्वारा सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, सन् १९६९

३. सम्पादक, मूलचन्द किसनदास कापड़िया, दिगम्बर जैन पुस्तकालय, कापड़िया भवन, सूरत, वीर नि० सं० २४७०

४. (अ) माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर, प्रथम संस्करण, वि० स० १९७५

शताब्दी है।[1] इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय मुख्यतः ध्यान है और ध्यान के नैमित्तिक एवं सहायक तत्त्वो का विश्लेषण-विवेचन भी है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यक्चारित्र की अनिवार्यता निरूपित है। मन की एकाग्रता के लिए ध्यान का महत्त्व वतलाया गया है, इसलिए ध्यान के भेदो का विशेष वर्णन है। मन्त्र, जप, आसन आदि का भी वर्णन है।

पाहुडदोहा[2]

इस ग्रन्थ के रचयिता मुनि रामसिंह हैं। डा० हीरालाल जैन के अनुसार इनका समय ई० सन् ९३३ और ११०० के बीच अर्थात् १००० के आसपास होना चाहिए।[3] यद्यपि इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य योगिन्दुदेवकृत परमात्मप्रकाश और योगसार से साम्य रखता है, तथापि इस ग्रन्थ मे बहुत से ऐसे दोहे हैं जिनमें वाह्य क्रियाकाण्ड की निष्फलता तथा आत्मसयम और आत्मदर्शन मे ही सच्चे कल्याण का उपदेश है। झूठे जोगियो को खूब फटकारा गया है। इसमे योग एव तन्त्र सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दो के भी दर्शन होते हैं, जैसे शिव, शक्ति, देहदेवली, सगुण-निर्गुण, दक्षिण-मध्य आदि। इस ग्रन्थ मे २२२ दोहे हैं। यह अपभ्रंश भाषा मे है।

ज्ञानार्णव[4]

आचार्य शुभचन्द्रकृत इस ग्रन्थ के दो अन्य नाम भी मिलते हैं

(ब) सम्पादक, जुगलकिशोर मुख्तार, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, दिल्ली, सन्, १९६३

१. तत्त्वानुशासन, प्रस्तावना, पृ० ३४

२. सम्पादक, डा० हीरालाल जैन, कारजा जैन पब्लिकेशन कारजा, सन् १९३३

३. भारतीय सस्कृति मे जैनधर्म का योगदान, पृ० ११९

४. (अ) रायचन्द जैन ग्रन्थमाला, वम्बई, ई० स० १९०७

इस ग्रन्थ पर तीन टीकाएँ प्राप्त होती हैं, जिनके टीकाकार हैं—श्रुतसागर, नयविलास और अज्ञात।

(आ) जैन संस्कृति सरक्षक सघ, शोलापुर, ई० स० १९७७, श्री प० वालचन्दजी शास्त्री द्वारा सम्पादित सस्करण।

यथा योगार्णव अथवा योगप्रदीप। ये सम्भवत. राजा भोज के काल में अर्थात् विक्रम की १२वी शती मे हुए हैं।[1] इस ग्रन्थ मे ३९ प्रकरण और २२३० श्लोक हैं। यह एक उत्कृष्ट योगपरक ग्रन्थ है। इसमें वारह भावनाओ के स्वरूप, संसारवन्धन के कारण, कषाय, मन के विषय, आत्मा एवं वाह्य पदार्थों के सम्बन्ध, यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि का विस्तृत एव सुस्पष्ट वर्णन है। ध्यान एव ध्यान के भेदो का विशेष विश्लेषण-विवेचन है; साथ ही मन्त्र, जप, शुभ-अशुभ, शकुन, नाडी आदि विपयो पर भी प्रकाश डाला गया है।

योगशास्त्र अथवा अध्यात्मोपनिषद्[2]

यह ग्रन्थ १२वी शताब्दी के कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्रकृत है। वस्तुत. यह योगशास्त्र का एक वहुचर्चित ग्रन्थ है, जो एक हजार श्लोक-प्रमाण है। इस पर उनकी एक स्वोपज्ञवृत्ति भी है, जिसके द्वारा योगशास्त्र के ही विषयो को कथाओ एव दृष्टान्तों के माध्यम से और अधिक स्पष्ट किया गया है। यह वृत्ति बारह हजार श्लोकप्रमाण है। योगशास्त्र पर ज्ञानार्णव का अत्यधिक प्रभाव परिलक्षित होता है।

योगशास्त्र मे वारह प्रकाश अथवा अध्याय हैं। प्रथम से तृतीय अध्याय तक साधु एवं गृहस्थों के आचारों का निरूपण है। चौथे अध्याय में कषायो पर विजय पाने तथा समतावृत्ति के स्वरूपादि का वर्णन है।

---

१ भारतीय सस्कृति मे जैनधर्म का योगदान, पृ० १२१,
जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार, पृ० ३०

२. (अ) हेमचन्द्रीय स्वोपज्ञवृत्ति, प्रकाशक एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, सन् १९२१
(आ) स्वोपज्ञवृत्ति सहित, जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, ई० १९२६,
(इ) सम्पादक मुनि समदर्शी, ऋषभ जौहरी, दिल्ली, सन् १९६३
(ई) गुजराती भाषा मे अनूदित एवं सम्पादित, जगजीवनदास, वम्बई, सन् १९४१
(उ) गो० जी० पटेल द्वारा सम्पादित, अहमदावाद, सन् १९३८
(ऊ) इस पर इन्द्रनन्दी की एक टीका प्राप्त है जो कारजा के ग्रन्थभण्डार मे सुरक्षित है। इसका समय वि० सं० ११८० है।
(ऋ) इस पर दूसरी टीका सवत् १२३४ मे लिखी हुई देवपत्तन मे प्राप्त है।

पाँचवें अध्याय में प्राणायाम का विषय है और बताया गया है कि प्राणायाम मोक्ष-साधना के लिए अनावश्यक है। छठे अध्याय मे परकायाप्रवेश, प्रत्याहार एवं धारणा के स्वरूप और उनके फलो का वर्णन है। सात से दसवें अध्याय तक आर्त्त, रौद्र और धर्मध्यान के सम्बन्ध मे विस्तृत चर्चा है। ग्यारहवे एव बारहवे अध्याय मे क्रमश. शुक्लध्यान तथा स्वानुभव के आधार पर योग का सम्यक् विवेचन है।

अध्यात्मरहस्य अथवा योगोद्दीपन[1]

योगविषयक इस ग्रन्थ के रचयिता पं० आशाधरजी है। उन्होने वि० सं० १३०० मे अपने अनगारधर्मामृत ग्रन्थ की स्वोपज्ञटीका पूरी की और उसमे इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है।[2] अतएव उससे कुछ समय पहले ही इस ग्रन्थ की रचना हुई होगी। इस ग्रन्थ की पदसख्या ७२ है। इस ग्रन्थ में विशेषत. अध्यात्मयोग की चर्चा है और उसके सन्दर्भ मे ही आत्मा एव परमात्मा से सम्बन्ध रखनेवाले गूढ तत्त्वों का भी वर्णन है। अवान्तर रूप मे कर्म, ध्यान आदि विषयो का भी विवेचन है।

योगसार[3]

विक्रम की १२वी शती के पूर्व विनिर्मित यह ग्रन्थ अज्ञातकर्तृक है। इस ग्रन्थ में कुल १०६ सस्कृत पद्य हैं, जिनमे पांच प्रस्तावो के विधान हैं, यथा—(१) यथावस्थित देवस्वरूपोपदेश, (२) तत्त्वसार धर्मोपदेश, (३) साम्योपदेश, (४) सत्वोपदेश और (५) भावशुद्धिजनकोपदेश।

योगप्रदीप[4]

इस सस्कृत ग्रंथ के प्रणेता का नाम एवं उनका समय अज्ञात है।

---

१. जुगलकिशोर मुख्तार द्वारा सम्पादित, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, सन् १९५७

२ अध्यात्मरहस्य, प्रस्तावना, पृ० ३४

३. गुजराती अनुवाद अमृतलाल कालीदास दोशी, जैन विकास साहित्य मण्डल, बम्बई, सन् १९६८

४. (अ) सम्पादक जीतमुनि, जोधपुर, वीर नि० स० २४४८
(आ) प्रकाशक-जैन साहित्य विकास मण्डल, बम्बई, ई० सन् १९६०

इसमे कुल १४३ श्लोक हैं, जिनमें परमात्मा के साथ शुद्ध मिलन, परमपद की प्राप्ति आदि की विस्तृत चर्चा है। प्रसगवश उन्मनी-भाव, समरसता, रूपातीत ध्यान, सामायिक, शुक्लध्यान, अनाहृतनाद, निराकार ध्यान आदि विषयो का प्रतिपादन भी है।

यशोविजयकृत योगपरक ग्रन्थ

यशोविजयजी का समय ई० १८वी शताब्दी है। इन्होने अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद्, योगावतारवत्तीसी, पातंजल योगसूत्रवृत्ति, योगविंशिका की टीका तथा योगदृष्टिनी सज्झायमाला की रचना की है। इन ग्रन्थो में इन्होने योगसम्बन्धी बहुत सी बातों का विवेचन व स्पष्टीकरण किया है। रचनाओ का सक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

१. **अध्यात्मसार**[1]—यह ग्रन्थ सात प्रकरणो में विभक्त है। योगाधिकार एवं ध्यानाधिकार प्रकरण मे मुख्यत· गीता एव पातंजल योगसूत्र के विषयो के सन्दर्भ में जैन योग-परम्परा के प्रसिद्ध ध्यान के भेदो का समन्वयात्मक विवेचन है। इस दृष्टि से इस ग्रन्थ की उपयोगिता स्वयसिद्ध है।

२. **अध्यात्मोपनिषद्**[2]—इस ग्रन्थ मे शास्त्रयोग, ज्ञानयोग, क्रियायोग और साम्ययोग पर समुचित प्रकाश डाला गया है और औपनिषदिक एवं योगवासिष्ठ की उद्धरणियों के साथ जैन-दर्शन की तात्त्विक समानता दिखलायी गयी है।

३. **योगावतारबत्तीसी**[3]—इस ग्रन्थ मे ३२ प्रकरण हैं जिनमे आचार्य हरिभद्र के योग-ग्रन्थो की ही विस्तृत एवं स्पष्ट व्याख्या प्रतिपादित है।

४. **पातंजलयोगसूत्र एवं योगविंशिका**[4]--पातंजलयोगसूत्र के सन्दर्भ में जैन योग का विश्लेषण एवं विवेचन इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य है।

---

१. श्री यशोविजयगणि, प्रकाशक, केशरबाई ज्ञान भण्डार स्थापक, जामनगर वि० सं० १९९४

२. वही

३. सटीक, प्रकाशक-जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि० स० १९६६

४. सम्पादक—पं० सुखलाल, प्रकाशक-जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १९२२

प्रसंगवश दोनो परम्पराओं के योगो मे समानता एव असमानता पर भी प्रकाश डाला गया है। योगविंशिका मे योगसूत्रगत समाधि की तुलना जैन ध्यान से की गयी है।

५ **योगदृष्टिनी सज्झायमाला**—यह गुजराती भाषा की रचना है। योगदृष्टिसमुच्चय मे प्रतिपादित आठ दृष्टियो का ही सम्यक् विवेचन प्रस्तुत करना इस का प्रतिपाद्य है।

ध्यानदीपिका[1]

यह देवेन्द्रनन्दि की वि० स० १७६६ में लिखी गुजराती रचना है। छह खण्डो मे विभक्त इस कृति मे बारहभावना, रत्नत्रय, महाव्रत, ध्यान, मन्त्र तथा स्याद्वाद का निरूपण है।

ध्यानविचार[2]

इसकी हस्तलिखित प्रति पाटन के शास्त्र-भण्डार मे है। यह गद्यात्मक है। इसमे भावना, ध्यान, अनुप्रेक्षा, भावनायोग, काययोग एवं ध्यान के २४ भेदो का विवेचन है।

वैराग्यशतक[3]

यह धनदराज की कृति है। इसमे १०८ पद्य हैं। दूसरे श्लोक मे इस ग्रन्थ को शमशतक भी कहा गया है। इसमे योग, काल की करालता, विषयो की विडम्बना और वैराग्यपोषक तत्त्वो का निरूपण है।

अध्यात्मकमलमार्तण्ड[4]

कवि राजमल्ल विरचित इस ग्रन्थ मे २०० श्लोक हैं। इसमे चार परिच्छेद तथा मोक्षमार्ग, द्रव्य-लक्षण, द्रव्य-विशेष और जीवादि सात तत्त्वो का निरूपण है।

---

१ अध्यात्मज्ञान प्रसारक मण्डल द्वारा सन् १९२९ मे प्रकाशित।

२. यह ग्रन्थ जैन साहित्य विकास मण्डल, बम्बई से सन् १९६१ मे प्रकाशित हुआ है।

३ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा० ४, पृ० २२३

४. यह कृति माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला से वि० स० १९९३ मे प्रकाशित है।

अध्यात्मतत्त्वालोक[1]

इस ग्रन्थ के रचयिता मुनि न्यायविजय हैं। इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय योग है। इसमे आठ प्रकरणो के निर्देश इस प्रकार है :

प्रथम प्रबोधन नामक प्रकरण मे आत्मा के विकास का वर्णन है।

द्वितीय पूर्वसेवा नामक प्रकरण में गुरु, माता-पिता तथा अपने से वड़ो की पूजा का वर्णन है।

तृतीय अष्टाग नामक प्रकरण मे आठ योगो का निरूपण है।

चतुर्थ कषाय नामक प्रकरण मे कषायो पर जय पाने का विस्तृत वर्णन है।

पञ्चम ध्यानसामग्री प्रकरण में चञ्चल मानसिक वृत्तियो को स्थिर रखने के उपाय वतलाये गये हैं।

षष्ठ ध्यानसिद्धि प्रकरण मे आगमोक्त चार प्रकार के ध्यानो का विवेचन है।

सप्तम योगश्रेणी प्रकरण मे योग की विभिन्न श्रेणियो को बतलाते हुए योग की उस उच्चतम अवस्था का उल्लेख है, जहाँ से आत्मा कभी लौटती नही।

अष्टम या अन्तिम उद्गार नामक प्रकरण मे साधु-असाधु अथवा ज्ञानी-अज्ञानी के आत्मतत्त्व पहचानने के उपाय वतलाये गये हैं।

साम्यशतक[2]

यह १०६ श्लोको मे निबद्ध विजयसिंहसूरि की रचना है। इस पुस्तक की विषयवस्तु समाधिशतक जैसी ही है।

योगप्रदीप[3]

२३ प्रकाशो मे विभक्त इस ग्रन्थ के कर्त्ता उपाध्याय श्रीमंगलविजय-जी महाराज हैं। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम 'आर्हत-धर्म प्रदीप' भी है। ग्रन्थकार ने पूर्ववर्ती जैन ग्रन्थो का अनुगमन किया है, फिर भी अपनी

---

१ श्री हेमचन्द्राचार्य जैन सभा, पाटन द्वारा वीर नि० स० २४६९ में प्रकाशित।

२. ए० एम० एण्ड कम्पनी, वम्बई की ओर से सन् १९१८ मे प्रकाशित।

३. हेमचन्द सवनचन्द शाह, कलकत्ता द्वारा वीर नि० सं० २४६६ मे प्रकाशित।

विशिष्ट शैली द्वारा इसको अनूठा बना दिया है। इसमें जैन योग के साथ-साथ पातंजल योगसूत्र, हठयोग, गीता एवं बौद्ध योग की तुलना की गयी है।

अध्यात्मकल्पद्रुम[1]

इस ग्रन्थ की रचना मुनिसुन्दरसूरीश्वर महाराज ने की है।, इस ग्रन्थ के १६ अधिकारो मे योगी के लिए अपेक्षित सामग्रियों की चर्चा है। प्रथम अधिकार में चार भावनाओ का निरूपण हुआ है। दूसरे अधिकार मे स्त्री को परिग्रह-स्वरूप बतलाकर उसका परित्याग करने का उपदेश है। तीसरे, चौथे तथा पाँचवें अधिकार मे क्रमश. पुत्र, धन और शरीर की व्यर्थता बतलाकर उनसे मोहरहित होने का उपदेश है। छठे तथा सातवे अधिकार मे ससार के मूल कारणरूप कषायो का निरूपण है और सयमी जीवन बिताने का निर्देश है। आठवें अधिकार मे शास्त्रपूजा तथा चतुर्गति का विवेचन है। नवे तथा दसवें अधिकार में मनोनिग्रह तथा वैराग्य का उपदेश है। ग्यारहवें, बारहवे तथा तेरहवे अधिकार में धर्म-शुद्धि, देव-शास्त्र-गुरु-पूजा तथा मुनि के आचार सम्बन्धी विचार वर्णित हैं। चौदहवे अधिकार मे सवर, पन्द्रहवे अधिकार मे आवश्यक क्रियाओ और सालहवे अधिकार मे समता-फलरूपी मोक्ष का वर्णन है।

जैन योग (अंग्रेजी)

इस अग्रेजी पुस्तक के लेखक आर० विलियम्स हैं। इसमे योग का वर्णन न करके योग के आधारभूत अर्थात् श्रावकाचार का ही मुख्यतः प्रतिपादन किया गया है। श्रावकाचार की पूरी आचारसहिता इसमे आलोचनात्मक ढग से वर्णित है।

इस प्रकार योग-विषयक उन्ही ग्रन्थों का परिचय यहाँ अभीष्ट रहा

---

१. निर्णयसागर मुद्रणालय, बम्बई से सन् १९०६ मे प्रकाशित, मूलकृति धनविजयगणि की टीका के साथ मनसुखभाई तथा जमनाभाई भगुभाई ने वि० स० १९७१ मे; जैनधर्म प्रसारक सभा ने सन् १९११ मे, देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार सस्था ने सन् १९४० मे, तथा भोगीलाल साकलचन्द, अहमदावाद द्वारा सन् १९३८ मे।

२. ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन द्वारा सन् १९६३ मे प्रकाशित।

है जो प्रमुखतः जैन योगपरक हैं। इनके अतिरिक्त जिनरत्नकोश[1] में अध्यात्म नाम से शुरू होनेवाले ग्रन्थों की नामावली इस प्रकार दी गयी है—अध्यात्म-भेद, अध्यात्मकलिका, अध्यात्मपरीक्षा, अध्यात्मप्रदीप, अध्यात्मप्रबोध, अध्यात्मलिंग और आध्यत्मसारोद्धार।

जिनरत्नकोश[2] मे योगविषयक अन्य ग्रन्थो का भी उल्लेख है, जिनके कर्त्ता अज्ञात हैं और कृतियाँ प्रायः अनुपलब्ध हैं। वे ग्रन्थ इस प्रकार हैं—योगदृष्टिस्वाध्यायसूत्र, योगभक्ति, योगमाहात्म्य, योगरत्नसमुच्चय, योगरत्नावलि, योगविवेकद्वात्रिंशिका, योगसकथा, योगसंग्रह, योगानुशासन एवं योगावतारद्वात्रिंशिका। योगकल्पद्रुम एवं योगतरगिणी ये दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं, परन्तु उनके कर्त्ता अज्ञात हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी योगविषयक[3] ग्रन्थो का उल्लेख मिलता है, जिनके लेखको का निर्देश किया गया है—

१. योगदीपिका	—पं० आशाधर
२. योगभेद द्वात्रिंशिका	—पं० परमानन्द
३. योगमार्ग	—प० सोमदेव
४. योगरत्नाकर	—मु० जयकीर्ति
५ योगलक्षणद्वात्रिंशिका	—मु० परमानन्द
६. योगविवरण	—श्री यादवसूरि
७. योगसग्रहसार	—श्री जिनचद्र
८. योगसंग्रहसारप्रक्रिया	—मु० नन्दीगुरु
९. योगसार	—पं० गुरुदास
१०. योगांग	—श्री शान्तरस
११ योगामृत	—श्री वीरसेनदेव

१. जिनरत्नकोश, वि० १, पृ० ५-६, जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भा० ४, पृ० २६४।

२ वही, तथा जैन साहित्य का वृहद् इतिहास; भा० ४, पृ० ३२१-२२।

३ वही, पृ० २५१।

जैन योग का स्वरूप

पृष्ठभूमि

भारतीय सस्कृति मे आध्यात्मिक दृष्टि से निवृत्तिपरक विचार-धारा का अपना मूल्य एव महत्त्व है। निवृत्ति जैनधर्म का प्राणतत्त्व है। आत्मिक अथवा आध्यात्मिक विकास के लिए निवृत्ति पर विशेष बल दिया गया है और इसके लिए योग नितान्त अपेक्षित है। यही कारण है कि जैन सस्कृति आचार-विचार एव तपोमूलक प्रवृत्ति को लेकर अपनी विशिष्टता को सुरक्षित रख सकी है। ऋग्वेद[1] मे वातरशना मुनि के सम्बन्ध में बताया गया है कि अतीन्द्रियार्थदर्शी वातरशना मुनि मल धारण करते हैं, जिससे वे पिंगलवर्ण दिखाई देते हैं। जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते हैं, अर्थात् रोक लेते हैं, तब वे अपने तप की महिमा से दीप्त होकर देवतास्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं।[2] अतएव यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि तप अर्थात् योग की परम्परा, जैन सस्कृति में प्रारम्भ से रही है। उपनिषदो मे[3] तापस और श्रमण को एक माना गया है। इन तथ्यो से स्पष्ट है कि श्रमणो की तपस्या और योग की साधना[4] अत्यन्त पुरानी है और आध्यात्मिक विकास के लिए अनिवार्य मानी गयी है। मोहनजोदड़ो[5] से प्राप्त

---

१. ऋग्वेद, १०।१३६।२

२. भारतीय सस्कृति मे जैनधर्म का योगदान, पृ० १३

३. अत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता लोका अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदा.। अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति भ्रूणहाऽभ्रूणहा चाण्डालोऽचाण्डाल पौल्कसोऽपौल्कस: श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसोऽनन्वागत पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाछोकान्हृदयस्य भवति।
—बृहदारण्यक उपनिषद्, ४।३।२२

४ जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा० १, (प्रस्तावना), पृ० २१

5. Modern Review, August, 1932, pp 155-56

कायोत्सर्ग-मुद्रा से युक्त मूर्ति तथा पटना[1] के नजदीक लोहानीपुर से प्राप्त नग्न कायोत्सर्ग मूर्ति से भी इस बात की पुष्टि होती है।

महर्षि पतञ्जलि ने जैसे 'योग' शब्द का प्रयोग 'आत्मसाधना' के अर्थ में किया है, वैसे 'योग' शब्द का प्रयोग जैनधर्म मे आत्मसाधना के लिए नही हुआ है। जैन-परम्परा मे मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को योग कहा गया है। यह आस्रवरूप है। फिर भी योगसाधना को व्यक्त करनेवाले अगभूत ऐसे अनेक शब्दो का व्यवहार आगमों में हुआ है जैसे ध्यान, तप, समाधि, सवर आदि। समाधि, तप, ध्यान[2] आदि शब्दों का उपयोग योग की तरह ही हुआ है और वीर्य, स्थान, उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति एव सामर्थ्य शब्द प्रकारान्तर से योग के अर्थ को ही व्यजित करनेवाले माने गये हैं।[3] जैनधर्म-दर्शन का पारिभाषिक शब्द संवर- कर्मास्रवो को रोकता है और साधना की दृष्टि से योग से साम्य रखता है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कपाय और योग[4] (प्रवृत्ति) से रजित कर्म ही आस्रव है तथा इन प्रवृत्तियो का निरोध ही सवर है।[5] योगसूत्रानुसार चित्तवृत्तियों का निरोध योग है। सवर शब्द का प्रयोग इसी अर्थ मे जैन-परम्परा मे हुआ है। जैन-परम्परा में योग का अर्थ है मन, वचन और काय की प्रवृत्ति। जैसे वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम या क्षय होने पर मन, वचन एवं काय के निमित्त से आत्म-प्रदेशो के चंचल होने को योग कहा गया है,[6] क्योकि इन तीनो के सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्यापारो से ही कर्मो का आस्रव होता है। अत' जैन-परम्परा मे 'योग' शब्द योगदर्शन के 'योग' शब्द से साम्य नही रखता,

---

१. जैन साहित्य का इतिहास पूर्वपीठिका, प्राक्कथन, पृ० १०
२. झाणसंवरजोगे य।—अभिधानराजेन्द्रकोश, भा० ४, पृ० १६५०
३ जोगो विरियं थामो उच्छाह परक्कमो तहा चेट्ठा।
सति सामत्थं चिय जोगस्स हवन्ति पज्जाया॥
—पचसग्रह, भा० २, ४
४ पचआसवदारा पण्णत्ता, तं जहा, मिच्छत्त, अविरई, पमायो, कसाया, जोगा।—समवायाग, ५
५ आस्रवनिरोधः संवरः।—तत्त्वार्थसूत्र, ९।१
६ विशेषावश्यकभाष्य, ३५८

क्योकि योगदर्शन के अनुसार वृत्तियो का निरोध योग है और वह पुरुष के कैवल्य की प्राप्ति मे प्रधान कारण है। किन्तु यह योग एक शक्ति विशेष है, जो कर्मरज को आत्मा तक लाता है।[१]

जैन-परम्परा में 'योग' शब्द का पातंजल-योगदर्शनसम्मत सर्व-प्रथम प्रयोग आचार्य हरिभद्र द्वारा किया गया है। योग को पारिभाषित करते हुए उन्होने कहा है कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए जो धर्म-क्रिया अथवा विशुद्ध व्यापार किया जाता है, वह धर्म-व्यापार 'योग' है।[२] यम-नियमादि व्यापार जीव के परिणामो की शुद्धि के लिए ही किये जाते हैं तथा इनका उद्देश्य मन, वचन एव काय द्वारा अर्जित कर्मो की शुद्धि करना ही है। इस दृष्टि से समिति, गुप्ति आदि आचार-विचारो का अनुष्ठान उत्तम योग है[३], क्योकि इनसे सयम वृद्धि होती है और योग भी आत्मा की ही विशुद्धावस्था का मार्ग है, जिससे जीव को सर्वोच्च अवस्था की प्राप्ति होती है।

योग का महत्त्व एवं लाभ

ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी रत्नत्रय-योग ही परम उच्च मोक्षपद को प्राप्त करने का उत्तम साधन है।[४] यह योग शास्त्रों का उपनिषद् है, मोक्षप्रदाता है तथा समस्त विघ्नबाधाओ को शमन करनेवाला है, इसलिए कल्याणकारी है।[५] यह इच्छित वस्तुओ की प्राप्ति करानेवाला कल्पतरु एवं चिन्तामणि है। धर्मो मे प्रधान यह योगसिद्धि स्वयं के अनुग्रह अथवा अध्यवसाय से मिलती है।[६] सच्चा

---

१ पंचम कर्मग्रन्थ, विवेचनकर्ता पं० कैलाशचद्र शास्त्री, पृ० १५०

२. मुक्खेण जीयणाओ, जोगी सव्वो वि धम्मवावारो।—योगविंशिका, १

३. यत: समितिगुप्तिना प्रपचो योग उत्तम ।—योगभेदद्वात्रिंशिका, ३०

४. ज्ञानदर्शनचारित्ररूप रत्नत्रयात्मक: ।
योगोमुक्तिपदप्रासानुप्राय. परिकीर्तित ॥—योगप्रदीप, ११३

५ शास्त्रस्योपनिषद्योगो योगो मोक्षस्य वर्तनी ।
अपायशमनो योगो, योगकल्याणकारकम् ॥
—योगमाहात्म्यद्वात्रिंशिका, १

६ योगकल्पतरु श्रेष्ठो योगश्चिन्तामणि पर ।
योग: प्रधान धर्माणा, योग. सिद्धे स्वयग्रह: ॥—योगबिन्दु, ३७

योगी वही है जिसने श्वास को जीत लिया है, जिसके लोचन निस्पन्द हो गये हैं।[१] जो इन्द्रियो के वश मे होते हैं, वे योगी नही हैं।[२]

योग के लिए मन की समाधि एवं प्रकार

योगसिद्धि के लिए मन की समाधि परम आवश्यक है। योगाभ्यास के लिए सर्वप्रथम मन को सयमी करना अनिवार्य है; क्योकि मन के कारण ही इन्द्रियाँ चचल होती हैं, जो आत्मज्ञान मे बाधक हैं तथा एकोन्मुखता के मार्ग मे भटकाव पैदा करती हैं। मन की अस्थिरता के कारण ही रागादि भाव की वृद्धि होती है तथा कर्म-प्रकृतियों का बन्ध होता है। कर्म चाहे पुण्यप्रकृति के हो या पापप्रकृति के, अन्ततः दोनों ही ससार-बन्धन के कारण हैं। इसलिए दोनो प्रकार के कर्मो को नष्ट करना यौगिक स्थिरता के लिए आवश्यक है। चञ्चल मन को सर्वथा स्थिर करना योग की पहली शर्त है। अतः मन की समाधि योग का हेतु तथा तप का निदान है, क्योकि मन को केन्द्रित करने के लिए तप आवश्यक है, तप शिवशर्म का, मोक्ष का मूल कारण है।[३]

योगशास्त्र के अनुसार मन के चार प्रकार हैं[४] : (१) विक्षिप्त मन, (२) यातायात मन, (३) श्लिष्ट मन, (४) सुलीन मन।

विक्षिप्त मन का स्वभाव चञ्चल होता है और यातायात मन का स्वभाव विक्षिप्त मन की अपेक्षा कुछ कम चञ्चल होता है तथा मन को शान्ति प्रदान करनेवाला भी होता है। इसलिए योग-साधकों के लिए इन दो प्रकार के मन पर नियन्त्रण करना आवश्यक है।[५] योग की प्रथम

---

१ णिज्झियसासो णिप्फद लोमणो मुक्कसयलवावारो।
एयाइ अवत्य गओ सो जोयउ णत्थि सदेहो॥—पाहुडदोहा, २०३

२. सो जोयउ जो जागयई णिम्मलि जोइयजोइ।
जो पुणु इदियवसि गयउ सो इह सावयलोई॥—वही, ९६

३ योगस्य हेतुर्मनसः समाधि परं निदानं तपस्यश्चः योग।
तपश्च मूल शिवशर्म मन समाधिं भज तत्कथंचित्।
—अध्यात्मकल्पद्रुम, ९।१५

४ इह विक्षिप्तं यातायात श्लिष्ट तथा सुलीन च।
चेतश्चतु. प्रकारं तज्ज्ञचमत्कारकारि भवेत्॥—योगशास्त्र, १२।२

५ विक्षिप्तं चलमिष्टं यातायात च किमपिसानन्दम्।
प्रथमाभ्यासे द्वयमपि विकल्प-विषयग्रह तत्स्यात्॥—योगशास्त्र, १२।३

अवस्था मे साधक की स्थिति मर्कटलीला की तरह होती है अर्थात् वह क्षण-क्षण एक विषय से दूसरे विषय में सचरित होता है, जिसके फल-स्वरूप अनेक कर्म-पुद्गलो के परिणाम बँधते है और चित्त की विकलता बढती है। यद्यपि विक्षिप्त मन की अपेक्षा यातायात मन मे इन्द्रियाँ कुछ शान्त रहती है, लेकिन शान्ति कुछ समय के लिए ही होती है। जैसे ही विषयो के साधन समक्ष आते है, वैसे ही रागादि भाव उमड़ पडते हैं। अत इन दोनो को आन्तरिक शान्ति के लिए, अभ्यासपूर्वक शान्त करने का प्रयास योगी के लिए सर्वप्रथम आवश्यक है।

श्लिष्ट मन की भूमिका यातायात मन के बाद प्रारम्भ होती है। इस मन के निरोध के अभ्यास से चित्तवृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं तथा आन्तरिक शान्ति का अनुभव होने लगता है। सुलीन मन में आनन्द की अनुभूति के कारण चित्त एकाग्र होकर आत्मलीन हो जाता है। यही कारण है कि इस मन के अभ्यास से साधक को परमानन्द अर्थात् स्वानुभूति का आनन्द होता है।[1]

इस सन्दर्भ मे कहा गया है कि मन स्थिर करने के लिए साधक को सर्वप्रथम अपनी प्रिय वस्तु पर मन को केन्द्रित करना चाहिए। इस चुनाव मे साधक को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि मन शुभ प्रवृत्ति की ही ओर प्रवृत्त रहे। इस प्रकार प्रिय वस्तु का बारम्बार चिन्तन-मनन करने से एक स्थिति ऐसी आयेगी कि साधक का मन अपने आप उस वस्तु से ऊब जायेगा और दूसरी वस्तु की ओर उन्मुख होगा। उस वस्तु के बारम्बार चिन्तन-मनन से पुन॰ ऊब पैदा होगी और स्वभावतः उसका मन दूसरी वस्तु की ओर प्रवृत्त होगा। ऐसा करने से दो लाभ होते है। एक तो ऐसे मन की एकोन्मुखता का अभ्यास होता जाता है, जो ध्यान तथा योग के लिए आवश्यक है। दूसरे, वस्तु की यथार्थता तथा व्यर्थता का ज्ञान होता है और स्वभावत॰ मन परमतत्त्व की ओर आकर्षित होता जाता है। अतः मन के इस प्रकार के अभ्यास से साधक की द्विविधा नष्ट हो जाती है और उसका मन किसी एक ही विपय मे स्थिर हो जाता है। इन चार प्रकार के मन का क्रमश. अभ्यास करते-करते साधक ध्यान का स्थिरीकरण भी कर लेता है, क्योकि ध्यान और मन का

---

१ श्लिष्ट स्थिरसानन्दं सुलीनमतिनिश्चलं परमानन्दम्।
तन्मात्रक. विषयग्रहमुभयमपि बुधस्तदाम्नातम्॥—वही, १२।४

सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। ध्यान का स्थिरीकरण मन की स्थिरता पर ही निर्भर करता है। जिसने मन को वश मे कर लिया उसके लिए संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नही है जो वश में न की जा सके।[1] इस प्रकार मन की विजय योग की सफलता की कुञ्जी है।

योग की साधना मे सलग्न होने के लिए साधक को विभिन्न आचार-विचारो का सम्यक्रूप से पालन करने का विधान है। यहाँ तक कि अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत, समिति, गुप्ति आदि चारित्राचार का पालन योगसाधना की प्राथमिक भूमिका से लेकर निष्पन्न अवस्था तक किया जाता है। श्रावको और श्रमणो के लिए अलग-अलग आचार-चर्या का विधान है। श्रमणो की अपेक्षा श्रावकों को परिस्थिति एवं काल की अपेक्षा से मर्यादित व्रत-नियमो का पालन करना पड़ता है, फिर भी योग-साधना के लिए उसे भी पूरी छूट है। वह भी श्रमण की भांति सम्पूर्ण परिग्रह से मुक्त होकर अर्थात् वैराग्य धारण करके योग-साधना मे संलीन हो सकता है। अतः चारित्र-विकास की दृष्टि से दोनो श्रेणियों के योगी साधको के लिए आवश्यक-अनावश्यक वस्तुओ के त्याग एव ग्रहण करने का विधान है, जिनका उल्लेख योग-सग्रह के अन्तर्गत हुआ है।

योग-संग्रह

योग-संग्रह[2] सक्षेप मे ३२ प्रकार का है—

१. आलोचना—गुरु के निकट अपने दोपो को स्वीकार करना।

२. निरपलाप—शिष्य के दोप दूसरो पर प्रकट नही करना।

३. व्रतों मे स्थिरता—आपत्ति-काल में अंगीकृत व्रत-नियमो का परित्याग न करना।

४ अनिश्रितोपधान—दूसरो की सहायता के बिना तप करना।

५. शिक्षा—शास्त्रो का पठन-पाठन।

६. निष्प्रतिकर्मता—शरीर-सस्कार न करना।

७ अज्ञातता—तप के बारे मे गुप्तता रखना।

८ अलोभता—किसी वस्तु के प्रति लोभ न रखना।

---

१ ध्यानं मन.समायुक्तं मनस्तत्र चलाचलम्।
वश्य येन कृतं तस्य भवेद्वश्यं जगत्त्रयम्॥—योगप्रदीप, ७९

२. समवायागसूत्र, ३२; स्थानांगसमवायाग, पृ० १७

९. तितिक्षा—परीषहजय ।
१० ऋजुभाव—भावो मे सरलता ।
११. शुचि—सत्य और संयमवृद्धि ।
१२. सम्यग्दृष्टि—साधना व चर्या मे श्रद्धा ।
१३. समाधि—एकाग्रता रखना ।
१४. आचार—आचार मे दृढता ।
१५. विनय—भावो मे मृदुता रखना ।
१६. धृतिमति—धैर्यप्रधान दृष्टि ।
१७. संवेग—संसारभय ।
१८ प्राणिधि—मायारहित होना ।
१९ सुविधि—सदनुष्ठान ।
२० संवर—कर्मों के कारणो को रोकना ।
२१. आत्मदोषोपसहार—अपने दोषों का निरोध ।
२२. सर्वकाम विरति—कामनाओ के प्रति विरक्ति ।
२३. प्रत्याख्यान—मूलगुणविषयक ।
२४ प्रत्याख्यान—उत्तरगुणविषयक ।
२५. व्युत्सर्ग—त्याग ।
२६. अप्रमाद—प्रमाद से बचना ।
२७ लवालव—प्रत्येक समय मे साध्वाचार का पालन करना ।
२८ ध्यान—सवरयोग ।
२९ मारणातिक उदय—मरणकाल मे दु ख-क्षोभ प्रकट नहीं करना ।
३०. सग का त्याग ।
३१. प्रायश्चित्त ।
३२ मारणातिक आराधना—शरीर-त्याग और कषाय क्षीण करते समय का तप ।

इस योगसग्रह को योग की आधार-भूमि माना गया है और इसे सुदृढ तथा फलीभूत बनाने का आदेश दिया गया है । यहाँ तक कहा गया है कि श्रावक व्यावहारिक जीवन बिताते हुए भी इन योग-सग्रहों का सम्यक् पालन करने से पूर्ण योगी की भूमिका पर पहुँच सकता है । गृहस्थ-धर्म मे मार्गानुसारी[1] के कई ऐसे गुण हैं जो उनके लौकिक

---

१. मार्गानुसारी के ३५ गुण बतलाये हैं ।—योगशास्त्र, १।४७-५६

जीवन से सम्बन्ध रखते हैं तथा समतायुक्त एवं अनासक्त होने और आत्म-कल्याण हेतु प्रयत्नशील बनने का आदेश देते है। वस्तुतः इन आधार-भूमिकाओ के स्थिर हो जाने पर गृहस्थ साधक भी श्रमणो की भाँति योगसाधना में सफल होते हैं, क्योकि मोही साधु की अपेक्षा निर्मोही श्रावक श्रेष्ठ होता है।[1]

योग-संग्रह को ही प्रकारान्तर से योगबिन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय[2] तथा योगशतक[3] मे क्रमशः पूर्वसेवा, योगबीज तथा लौकिक धर्म-पालन की संज्ञा दी गयी है और कहा है कि इनका पालन साधक के लिए आवश्यक है।

गुरु की आवश्यकता एवं महत्ता

योगी पूर्वसेवा अर्थात् प्रारम्भिक क्रियाओ के सम्यक्पालन के साथ-साथ योग्य गुरु का सत्सग भी करता है, क्योकि बिना सद्गुरु के विषयो तथा कषायो की चञ्चलता मे वृद्धि होती है तथा शास्त्र एव शुद्ध भावनाओ का नाश होता है।[4] अत. गुरु द्वारा साधक शास्त्र-वचनो का मर्म तथा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति करता है, जिनसे आध्यात्मिक ज्ञान मे वृद्धि होती है और आत्मविकास होता है। कहा भी है कि तत्त्वज्ञान अर्थात् ज्ञान की लब्धि दो प्रकार से होती है–(१) पूर्वसस्कार से तथा (२) गुरु की उपासना से।[5] पूर्व-सस्कार से उत्पन्न ज्ञान मे भी गुरु-सवाद अर्थात् आत्मचर्चा निमित्त कारण होती है। सयम की वृद्धि, तत्त्वज्ञान आदि के लिए गुरु का सान्निध्य आवश्यक है, क्योकि उनके सान्निध्य और उपदेश

---

१ गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान्, निर्मोहो, मोहिनो मुने।
—रत्नकरण्डश्रावकाचार, १।३३

२. योगदृष्टिसमुच्चय, २२–३; २७–८

३. योगशतक, २५–२६

४ तावद् गुरुवच. शास्त्रं तावत् तावच्च भावना।
कषायविषयैर्यावद् न मनस्तरली भवेत्। —योगसार, ११९

५. तत्र प्रथमतत्त्वज्ञानैं संवादको गुरुर्भवति।
दर्शयिता त्वपरस्मिन् गुरुमेव भजेत्तस्मात्॥ —योगशास्त्र, १२–१

से योगसाधना मे सफलता प्राप्त होती है। गुरु-सेवादि धर्मकृत्य बाधा-रहित करने से लोकोत्तर तत्त्व की सम्प्राप्ति होती है।[1] गुरु की भक्ति एवं सानिध्य से साधक का मन ध्यान में इतना एकाग्र हो जाता है कि उस अवस्था मे उसे तीर्थंकर-दर्शन का साक्षात् लाभ होता है और साधक मोक्षगति भी प्राप्त करता है।[2]

आत्मा व कर्म का सम्बन्ध

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि है। दोनो का स्वभाव परस्पर-विरोधी है।[3] आत्मा जहाँ स्वभाववश चेतन व ज्ञानादिरूप है; वहाँ कर्म अचेतन व रागादिभाव से युक्त है। हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह आदि जो मन की पाप-प्रवृत्तियाँ हैं, उन्ही से कर्मों की उत्पत्ति एवं स्थिति होती है। इस प्रकार जीव अर्थात् आत्मा जब परद्रव्य मे राग तथा द्वेष-वश शुभ एव अशुभ भाव को ग्रहण करता है, तब वह कर्मास्रवो का कारण बनता है,[4] क्योंकि जीव अपने स्वरूप को भूलकर परद्रव्यो के अवलम्बन मे ही लगा रहता है और भ्रमवश उन्ही विषयो को अपने लिए सुखद अथवा दु खद मान बैठता है।[5] अत योगसाधना मे उपार्जित कर्मो का पूर्णत क्षय किया जाता है तथा आनेवाले कर्म-पुद्गलो का भी वर्जन कर दिया जाता है।

योगाधिकारी के भेद

योगबिन्दु के अनुसार योगाधिकारी साधक की दो कोटियाँ हैं—अचरमावर्ती तथा चरमावर्ती। अचरमावर्ती जीव पर मोहादि भावो का चरम दबाव रहता है, जिसके फलस्वरूप उसकी प्रवृत्ति घोर सासारिक,

---

१. एवं गुरुसेवादि च काले सद्योगविघ्नवर्जनया।
इत्यादिकृत्यकरण लोकोत्तरतत्त्वसम्प्राप्ति ॥ —षोड़शक, ५।१६

२ गुरुभक्तिप्रभावेन तीर्थकृद्दर्शनं मतम्।
समापत्यादिभेदेन निर्वाणैकनिबन्धनम् ॥ —योगदृष्टिसमुच्चय, ६४

३. योगसारप्राभृत, ५।८९

४. वही, ३।३०-३१

५. पचाक्षविषया किंचिन् नास्य कुर्वन्त्यचेतनाः।
मन्यते स विकल्पेन सुखदा दु खदा मम। —वही, ५।२८

विवेकरहित एवं अध्यात्म-भावनादि क्रिया-कर्मों से विमुख होती है।[1] सांसारिक पदार्थों मे लोभ-मोह के कारण ही जीव को भवाभिनन्दी कहा गया है। यद्यपि अचरमावर्ती अथवा भवाभिनन्दी जीव धार्मिक व्रत-नियमो का अनुष्ठान भी करता है, लेकिन यह सब श्रद्धाविहीन होता है। सद्धर्म एवं लौकिक कार्य भी वह कीर्ति, प्रतिष्ठा आदि की कामना से करता है। इस दृष्टि से उसे लोकपक्तिकृतादर भी कहा गया है।[2] ऐसी भावनावाले जीव की वृत्ति कभी स्थिर नही रहती और आहार, भय, मैथुन एव परिग्रह में लिप्त रहने के कारण वह सदैव दु खी एवं सतप्त रहता है। वह सदा दूसरों की बुराइयो एव प्रतिघातो मे लगा रहता है। इस प्रकार वह जीव क्षुद्रवृत्ति, अपरोपकारी, भयभीत, ईर्ष्यालु, मायाचारी और मूर्ख होता है।[3] ऐसे स्वभाववाले साधक भले ही यम-नियमो का पालन करें, लेकिन अन्त शुद्धि के अभाव मे वे योगी नही हो सकते। वे भी योगी होने के अधिकारी नही हो सकते, जो लौकिक हेतु अथवा लौकिक प्रदर्शन या आकर्पण के भाव से योग-साधना मे प्रवृत्त होते हैं।

चरमावर्त मे चरम और आवर्त दो शब्द हैं। चरम का अर्थ है अन्तिम और आवर्त का अर्थ है पुद्गलावर्त। अत. इस आवर्त में स्थित जीव चरमावर्त्ती कहलाता है। इसमे जीव की धार्मिक, यौगिक अथवा आध्यात्मिक जागृति होती है अर्थात् योगदृष्टि का प्रादुर्भाव यही से होता है।[4] चरमावर्ती जीव स्वभाव से मृदु, शुद्ध तथा निर्मल होते हैं।[5]

---

१ प्रदीर्घभवसद्भावान्मालिन्यातिशयात्तथा।
अतत्त्वाभिनिवेशाच्च, नान्येष्वन्यस्य जातुचित्। —योगविन्दु, ७३
तस्मादचरमावर्तेष्वत्र अध्यात्मं नैव युज्यते॥ —योगविन्दु, ९३

२. भवाभिनन्दिन. प्रायस्त्रिसज्ञा एव दुःखिता,
केचित् धर्मकृतोऽपि स्युर्लोकपक्तिकृतादरा.।
लोकाराधनहेतोर्या मलिनेनान्तरात्मना।
क्रियते सत्क्रियासात्र लोकपक्तिरुदाहृता॥ —योगविन्दु, ८६-८८;
तथा योगसारप्राभृत, ८।१८-२१

३. क्षुद्रोलाभरतिर्दीनो मत्सरी भयवान् शठ·।
अज्ञो भवाभिनन्दि स्यान्निष्फलारम्भसगत.॥ —योगविन्दु, ८७

४ योगशतक, परिशिष्ट, पृ० १०९; आत्मस्वरूपविचार, १७३–७४

५. नवनीतादिकल्पस्तच्चरमावर्त इष्यते।
अत्रैव विमलौ भावौ गोपेन्द्रोऽपि यदभ्यधात्।
—योगलक्षणद्वात्रिंशिका, १८

वे संसारप्रवाह मे मर्यादित तथा परिमित काल के लिए होते हैं तथा संसार-बन्धनों का उच्छेद करने की शक्ति रखते है। वे जीव शुक्ल-पाक्षिक, भिन्नग्रन्थि एवं चारित्रिक जैसे अध्यात्म उपायो के अधिकारी होते हैं, क्योकि उन पर मोह का अथवा मिथ्यात्व-परिणामों का तीव्र दबाव भी नही रहता और न मन मे मलिनता ही रहती है। वे मुक्ति के निकट होते है।[1] चरमावर्त मे आया हुआ प्राणी मुक्ति के निकट होता है। उसने बहुत से पुद्गल-परावर्तो का उल्लघन कर दिया है। उसका एक बिन्दु स्वरूप मात्र एक आवर्त शेष है, जैसे कि समुद्र मे एक बिन्दु जल अवशिष्ट रहे[2]। अर्थात् चरमावर्ती साधक सम्पूर्ण मिथ्यात्वो से रहित होकर मुक्ति के द्वार पर पहुँच गया होता है।

चरमावर्त-काल में जीव सम्पूर्ण आन्तरिक भावो से परिशुद्ध होकर जिन क्रियाओ का सम्पादन करता है, उन क्रियाओ के साधनो को योग कहा गया है[3] तथा जीव आध्यामिक विकास की ओर अग्रसर होते हुए समता की प्राप्ति करता है, जहाँ उसे न सुन्दर-असुन्दर का मोह होता है, न किसी प्रकार का सांसारिक प्रलोभन रहता है और न मिथ्यात्व का परिणाम ही रहता है।

आत्मविकास में जीव की स्थिति

आत्मविकास की ओर अग्रसर होने के क्रम मे चरमावर्ती जीव जिन-जिन स्थितियो से गुजरता है, उन स्थितियो की चार कोटियाँ हैं—(१) अपुनर्बन्धक, (२) सम्यग्दृष्टि, (३) देशविरति एव (४) सर्वविरति।[4]

अपुनर्बन्धक वह स्थिति है, जहाँ साधक मिथ्यात्व परिणामी रहते

---

१. चरमेपुद्गलावर्ते, यतौ य शुक्लपाक्षिक ।
भिन्न ग्रन्थिश्चरित्री च तस्यैवेतदुदाहृतम् । —योगबिन्दु, ७२,
मुक्तिमार्गपरं युक्त्या युज्यते विमल मनः ।
सद्बुद्धयासन्न भावेन, यदमीषां महात्मानाम् ॥ —वही, ९९

२. चरमावर्तिनो जन्तो सिद्धेरासन्नता ध्रुवम् ।
भूयासोऽमी व्यतिक्रान्तास्तेष्वेको बिन्दुरम्बुधौ ॥
—मुक्त्यद्वेषप्राधान्यद्वात्रिंशिका, २८

३ योगलक्षणद्वात्रिंशिका, २२

४. योगशतक, १३–१६, योगबिन्दु, १७७-८, २५३, ३५१–२, १०२

हुए भी विनय, दाक्षिण्य, दया, वैराग्य आदि सद्‌गुणो की प्राप्ति मे तत्पर रहता है।[1] अर्थात् अचरमावर्ती जीवो के विपरीत इस स्थान में साधक ज्ञान एव चारित्रयुक्त होकर ग्रथिभेद करने मे समर्थ होता है। इसके बाद सम्यग्दृष्टि की स्थिति प्रारम्भ होती है, जिसमे साधक सासारिक प्रपञ्चो से व्यामोहित होते हुए भी मोक्षाभिमुख होता है। अर्थात् योगी ससार मे रहते हुए भी आन्तरिक भावनाओ के द्वारा मुक्ति के उपायो के विषय में चिन्तन करता रहता है। इस कारण उसे भावयोगी भी कहा जाता है।[2] भावयोगी घर-गृहस्थी मे रहते हुए भी लोभ, ममता आदि बन्धनो से विमुक्त और आत्मध्यान मे लीन रहता है। वस्तुत यह स्थिति देशविरति की है। इस प्रकार वह आचार-विचारो से संवलित और विकसित होकर अनेक प्रकार के कायक्लेश सहता हुआ, मार्गानुसारी की विधियों का सम्यक्‌रूपेण पालन करता हुआ, श्रद्धालु, लोकप्रिय एवं पुरुपार्थी बनकर, शुभपरिणामों को धारण करता हुआ सर्वविरति की अन्तिम भूमिका मे पहुँचता है।[3] यहाँ पहुँचकर वह क्रमश. सर्वप्रकार के परिग्रहों के त्याग के बाद सर्वज्ञ बन जाता है। वहाँ उसकी योग-साधना पूर्ण हो जाती है।

चित्तशुद्धि के उपाय

जैन योग के अन्तर्गत धर्म-व्यापार के रूप मे अष्टागयोग[4] का निर्देश है जिसके क्रम में पाँच प्रकार की चित्तशुद्धि का वर्णन है, जिनसे क्रिया-शुद्धि होती है और जिनके सम्यक् पालन से साधक की प्रवृत्ति धार्मिक अनुष्ठानो की ओर उन्मुख होती है। फलतः शुभ-विचारो के निरन्तर चिन्तन से कर्मो की शुद्धि होती जाती है। चित्तशुद्धि के पाँच प्रकार ये

---

१. भवाभिनन्दि दोपाणा प्रतिपक्षगुणैर्यंत ।
वर्धमानगुणप्रायो, ह्यपुनर्बन्धको मत' ।। —योगबिन्दु, १७८

२. भिन्नग्रन्थेस्तु यत्प्रायो मोक्षे चित्तं भवे तनु. ।
तस्य तत्सर्वं एवेह योगो योगो हि भावत: ।।
न चेह ग्रन्थिभेदेन पश्यतो भावमुत्तमम् ।
इतरेणाकुलस्यापि तत्र चित्त न जायते ।। —वही, २०३, २०५

३. वही, ३५१-५२ ४. योगप्रदीप, ५१-५२

है—(१) प्रणिधान, (२) प्रवृत्ति, (३) विघ्नजय, (४) सिद्धि और (५) विनियोग।[1]

१ प्रणिधान—अपने आचार-विचार मे अविचलित रहते हुए निम्न कोटि के जीवो के प्रति किसी भी प्रकार का राग-द्वेष न रखना प्रणिधान चित्तशुद्धि है। साधक को स्वार्थी, दम्भी एवं दुराग्रही जीवो के प्रति भी श्रद्धा, परोपकार, विनय आदि भावना रखनी चाहिए।

२. प्रवृत्ति—विहित धार्मिक व्रत-नियमो अथवा अनुष्ठानो का एकाग्रतापूर्वक तथा सम्यक् पालन करना प्रवृत्ति है—निर्दिष्ट योग-साधनाओ मे मन को प्रवृत्त किया जाता है।

३ विघ्नजय—योग-साधना के दौरान आनेवाले विघ्नो पर जय पाना विघ्नजय क्रियाशुद्धि है। क्योकि यम-नियमो का पालन करते समय अनेक प्रकार की वाह्य, आन्तरिक एव मोहदशाजन्य कठिनाइयाँ उपस्थित होती है और विना उन पर विजय पाये साधना पूर्ण नही हो सकती।

४. सिद्धि—इस चित्तशुद्धि की अपेक्षा तव होती है, जव साधक को सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति होती है और उसको आत्मानुभव होने से किसी प्रकार की कठिनाई नही होती। समताभावादि की उत्पत्ति से साधक की कषायजन्य सारी चचलता नष्ट हो जाती है और वह निम्नवर्ती जीवो के प्रति दयाभाव, आदर-सत्कारादि सहज ही वरतने लगता है।

५. विनियोग—सिद्धि के बाद विनियोग-चित्तशुद्धि प्रारम्भ होती है, क्योकि तव तक साधक की धार्मिक वृत्तियो मे क्षमता, शक्ति आ जाती है तथा उत्तरोत्तर आत्मिक विकास होने लगता है। इस अवस्था में परोपकार, कल्याण आदि भावनाओं की वृद्धि करने के प्रयत्न को ही विनियोग-जय[2] कहते हैं।

वैराग्य

योगसिद्धि के लिए जितना महत्त्व तप, उपवास, आसन आदि शारीरिक क्रियाओ का है; उससे अधिक महत्त्व आन्तरिक विषय-वास-

---

१ प्रणिधिप्रवृत्तिविघ्नजयसिद्धिविनियोग भेदतः प्राय.।
धर्म्मज्ञैराख्यातः शुभाशयः पचधाऽत्र विधौ ॥ —षोडशक, ३।६

२ षोडशक, ३।७-११

नाओ को हटाकर मन को परिशुद्ध करने का है। अतः मनोविजय के लिए अथवा विषय-वासनाओ के क्रमश क्षय के लिए इन्द्रियों का सयम रखना तथा ससार के प्रति वैराग्य का भाव रखना आवश्यक है, क्योंकि संयम जहाँ साधक की इन्द्रियो को अपने वश मे करने का प्रयत्न करता है, वहाँ वैराग्य की भावना सांसारिक लोभ, मोह आदि कषायों से क्रमशः निवृत्ति का उपक्रम करती है। अतः साधक के लिए संसार के प्रति नि सारता का भाव रखना आवश्यक है। वैराग्य के तीन प्रकार है—१. दु खगर्भित, २. मोहगर्भित, ३. ज्ञानगर्भित।[1]

१. **दुःखगर्भित वैराग्य**—जीवन के प्रति निराश होकर कुटुम्ब का त्याग करके साधु बनना।

२ **मोहगर्भित वैराग्य**—आप्तजनो के मर जाने पर मोहवश अथवा असह्य वियोग के कारण साधुवृत्ति अपनाना।

३. **ज्ञानगर्भित वैराग्य**—पूर्व-संकार अथवा गुरूपदेश से आत्मज्ञान की प्राप्ति होने पर ससार त्यागना। अर्थात् इस वैराग्य मे सस्कारवश अथवा गुरु के उपदेशो से संसार के प्रति निवृत्ति की भावना पैदा होती है।

अत इन तीनो प्रकार के वैराग्यो मे प्रथम दो प्रकार के वैराग्य कषायोजनक हैं। उनमे पूर्ण अनासक्ति अथवा वीतरागता का अंग नहीं होता। परन्तु तीसरे प्रकार के ज्ञानगर्भित वैराग्य मे सांसारिक वस्तुओं के प्रति तनिक भी मोह-माया नही होती। इस प्रकार वैराग्य धारण करने से योग-साधना मे यथोचित सहायता मिलती है और साधक सरलता-पूर्वक साधना मे विकास करता रहता है।

साधन की अपेक्षा से योग के प्रकार

प्रमुख रूप से योग के उत्कृष्ट साधन इस प्रकार हैं—(१) स्थान, (२) ऊर्ण (वर्ण), (३) अर्थ, (४) आलम्बन तथा (५) अनालम्बन। इन साधनो को दृष्टि मे रखकर योग के भी पाँच प्रकार माने गये हैं। इनमें से प्रथम दो प्रकार के साधन कर्मयोग के अन्तर्गत आते है, क्योकि इनमें कायोत्सर्गादि आसन, तप, मंत्र, जप आदि क्रियाओं को करना पडता है। वस्तुत ये साधन आचार-मीमांसा से सम्बन्धित माने गये है। शेष

---

१. कर्तव्यकौमुदी, भा० २, पृ० ७०-७१

तीन प्रकार के साधन ज्ञान-योग मे परिगणित होते है, क्योकि इनमे क्रिया की अपेक्षा ज्ञान पर विशेष बल दिया गया है।[1]

१ **स्थान**—इसमें आसनादि क्रियाओं का विधान है।

२ **ऊर्ण अथवा वर्ण**—इसमे शास्त्रविहित सूत्रो का पाठ होता है तथा सूत्र के उच्चारण मे उसके स्वर, सम्पदा, मात्रा आदि पर ध्यान दिया जाता है। इस साधन को वर्णयोग भी कहते है।

३ **अर्थ**—वस्तुतः अर्थ का तात्पर्य उन सूत्रों से है, जो सही-सही उच्चारणपूर्वक पढे जाते हैं। अर्थात् आत्मतत्त्व के गूढ रहस्य को समझने के लिए सूत्र का सम्यक् अर्थ समझना आवश्यक है और इसके लिए सूत्रों का शुद्ध उच्चारण अपेक्षित है। यह साधन ज्ञानयोग का प्रारम्भ-विन्दु है।

४ **आलम्बन**—इसमे साधक किन्ही बाह्य साधनो को ध्येय मानकर ध्यान की क्रिया करता है, जो मन की एकाग्रता के लिए आवश्यक है। इस साधन को उत्तम योगानुष्ठान कहा गया है।

५. **अनालम्बन**—बाह्य आलम्बनो का त्याग करके केवल आत्म-स्वरूप का ही चिन्तन करने को अनालम्बन योग कहा जाता है। इस योग मे बाह्य पदार्थो का सम्पूर्णत· बहिष्कार हो जाता है, मन केन्द्रित हो जाता है, आत्मस्वरूप की प्रतीति होने लगती है और योग की प्रक्रिया पूरी हो जाती है।

योग के पाँच अनुष्ठान

योग-साधना की सिद्धि के लिए अनुष्ठान अर्थात् क्रियाएँ आवश्यक है। आध्यात्मिक विकास मे सहायक अनुष्ठान पाँच प्रकार के हैं[2]—(१) विषानुष्ठान, (२) गरानुष्ठान, (३) अननुष्ठान, (४) तद्धेतु अनुष्ठान तथा (५) अमृतानुष्ठान। इन अनुष्ठानो मे पहले तीन असदनुष्ठान है, क्योकि ये रागादिभाव से युक्त होने के कारण लौकिक हैं। अन्तिम दो अनुष्ठान रागादिभाव से रहित होने के कारण सदनुष्ठान माने जाते हैं इसलिए पारलौकिक हैं।

---

१. ठाणुन्नत्थालम्बण-रहिओ ततम्मि पचहाएसो।
दुग्गमित्थ कम्मजोगो तहातियं नाणजोगो उ॥ —योगविंशिका, २

२. योगबिन्दु, १५५

१. विष-अनुष्ठान—इस अनुष्ठान में साधक का उद्देश्य इस जन्म में लब्धि अथवा अलौकिक शक्तियो के द्वारा कीर्ति, सन्मान आदि प्राप्त करना होता है। इस दृष्टि से चारित्र का पालन करना विष-अनुष्ठान कहा गया है। विष-अनुष्ठान इसलिए कहा जाता है कि इसमे रागादि-भावों की अधिकता होती है।

२. गरानुष्ठान—इस जन्म के बाद अनेक प्रकार के स्वर्गिक सुख भोगने की अभिलाषा रखना और इसी दृष्टि से धार्मिक अनुष्ठानो को करना गरानुष्ठान है।

३ अननुष्ठान—इस अनुष्ठान में गुरु-देवादि की पूजा अथवा सत्कार किया जाता है, लेकिन यह क्रिया संमूर्च्छन[1] जीवो की मानसिक शून्यता जैसी होती है, फलत इन क्रियाओं के प्रति न श्रद्धा होती है, न विवेक ही। इस अनुष्ठान मे मात्र शरीर-निर्वाह ही होता है।

४. तद्धेतु अनुष्ठान—इसमें साधक यम, नियम, ध्यान, जपादि धार्मिक अनुष्ठानो को अपनी शुभ प्रवृत्ति द्वारा करता है। यद्यपि इस अनुष्ठान में भी रागादि भावो का अंश होता है, परन्तु वह सासारिक न होकर मोक्षाभिमुखी होता है। इसलिए अद्वेषबुद्धि के कारण इस अनुष्ठान को अमृतानुष्ठान का कारण माना गया है।

५. अमृतानुष्ठान—सर्वज्ञ द्वारा कथित मार्ग का समझ-बूझकर एवं श्रद्धापूर्वक आचरण कर मोक्ष प्राप्त करना अमृतानुष्ठान है। साक्षात् मोक्षदायक होने के कारण यह उत्तम अनुष्ठान माना गया है। इसमें समस्त इच्छाएँ फलीभूत होती हैं।[2]

योग के अन्य तीन प्रकार

साधनो की अपेक्षा से योग के पाँच प्रकारों के अतिरिक्त तीन प्रकार के योगो का भी उल्लेख मिलता है। वे इस प्रकार हैं—(१) इच्छायोग, (२) शास्त्रयोग तथा (३) सामर्थ्ययोग।

१ इच्छायोग[3]—इस योग में मात्र अनुष्ठान करने की इच्छा जाग्रत

---

१ बिना गर्भ के उत्पन्न होनेवाले जीवो को संमूर्च्छन कहते हैं।

२. योगबिन्दु, १५९-१६०

३. कर्तुमिच्छोः श्रुतार्थस्य ज्ञानिनोऽपि प्रमादत.।
विकलो धर्मयोगो य स इच्छायोग उच्यते॥ —योगदृष्टिसमुच्चय, ३

होती है। यद्यपि साधक अनुष्ठानो को क्रियान्वित करने के लिए प्रयत्नशील होता है, तथापि वह आलसवश उनको कार्यान्वित नही कर पाता।

२ **शास्त्रयोग**—इस योग मे साधक आलसरहित एव श्रद्धायुक्त होकर अनुष्ठानो का पालन करता है,[१] जिससे तात्त्विक बोध अर्थात् सम्यग्दृष्टि प्राप्त होती है।

३ **सामर्थ्ययोग**—आत्मकल्याण के लिए शास्त्रो मे योग के जिन-जिन उत्तम अनुष्ठानो की चर्चा है, उनका अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य के अनुसार मोक्ष-प्राप्ति के लिए पालन करना सामर्थ्ययोग है।[२] यह योग वस्तुतः मोक्ष का साक्षात् कारण है, क्योकि यह प्रातिभज्ञान से युक्त तथा सर्वज्ञता की प्राप्ति करानेवाला है। इस योग के साधक का अनुभव अनिर्वचनीय होता है।[३]

सामर्थ्ययोग के भी दो भेद हैं[४]—१ धर्मसन्यासयोग तथा २. योग-सन्यासयोग। धर्मसंन्यासयोग उसे कहते हैं जिसमे रागादि से उत्पन्न क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि भाव होते है तथा व्रतो का पालन करते समय कभी जीव उन्नतावस्था मे रहता है तो कभी अवनतदशा मे। योगसन्यासयोग मे जीव को ऊपर-नीचे होने का प्रश्न ही नही रहता, क्योंकि तब तक उसने सम्पूर्ण मन, वचन एव काय के व्यापार का पूर्णतः निरोध कर लिया होता है। धर्मसन्यास-योगी आत्मविकास करते-करते क्रमश. योगसन्यास की अवस्था तक पहुँचता है। इसी अवस्था को शैलेशीकरण की अवस्था भी कहते हैं।[५] इस अवस्था का

---

१. शास्त्रयोगस्त्विह ज्ञेयो यथाशक्त्यऽप्रमादिन.।
श्राद्धस्य तीव्रबोधेन वचसाऽविकलस्तथा ॥ —वही, ४

२. शास्त्रसंदर्शितोपायस्तदतिक्रान्तगोचर.।
शक्त्युद्रेकाद्विशेषेण सामर्थ्याख्योऽयमुत्तमः ॥ —वही, ५

३. न चैतदेव यत्तस्मात् प्रातिभज्ञानसंगतः।
सामर्थ्ययोगोऽवाच्योऽस्ति सर्वज्ञत्वादिसाधनम् ॥ —वही, ८

४. द्विधा यं धर्मसन्यासयोगसन्याससंज्ञितः।
क्षायोपशमिकाधर्मा योगो कायादिकर्म तु। —वही, ९

५. द्वितीयाऽपूर्वकरणे प्रथमस्तात्त्विको भवेत्।
आयोज्यकरणादूर्ध्वं द्वितीय इतितद्विदः। —वही, १०

अपरनाम अयोग-अवस्था अथवा सर्वसंन्यासयोग अवस्था है, क्योकि इस अवस्था मे योगी की आत्मा मुक्ति के साथ सम्बन्ध स्थापित करती है। इस अवस्था को प्राप्त करना ही सर्वोत्तम योग माना गया है।[1]

अधिकारियों की अपेक्षा से योगी के प्रकार

यद्यपि योगी के प्रकारों के सम्बन्ध मे प्रकाश डाला जा चुका है, तथापि यहाँ अधिकारी की अपेक्षा से योगी के प्रकारो पर दृष्टिपात कर लेना उचित है। अधिकारी की दृष्टि से योगी के प्रमुख चार प्रकार हैं—१ कुलयोगी, २ गोत्रयोगी, ३. प्रवृत्तचक्रयोगी तथा ४ निष्पन्नयोगी।

कुलयोगी—जो योगी योगसाधना मे लीन रहकर यथाविधि धार्मिक अनुष्ठानो का पालन करता है और किसी प्रकार का आलस नही करता, उसे कुलयोगी कहते हैं। कुलयोगी का अधिकारी कोई भी सामान्य जन हो सकता है, क्योकि वह इच्छानुसार धर्म मे प्रवृत्त रहते हुए भी अन्य जीवो के प्रति राग-द्वेष नही रखता, देवगुरु के प्रति श्रद्धा रखता है, ब्रह्मचर्य मे रत रहता है, ब्राह्मणो का प्रिय होता है, इन्द्रियो को वश मे रखता है तथा विवेकी, विनम्र और दयालु होता है।[2]

गोत्रयोगी—साधक के गोत्र मे जन्म लेनेवाले योगी को गोत्रयोगी कहते हैं। इस योगी का आचार-विचार कुलयोगी के विपरीत होता है। वह यम-नियमादि का पालन करनेवाला नहीं होता है, क्योकि उसकी प्रवृत्ति संसाराभिमुख होती है। अत ऐसे व्यक्ति को योग के लिए अनधिकारी माना गया है।

प्रवृत्तचक्रयोगी—यह योगी क्रमश. अपनी मोक्षाभिलाषा को बढाने वाला, सेवाशुश्रूषा अर्थात् दया, प्रेम, शील, ज्ञान आदि मे यत्नपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाला होता है।[3] यह भी योगाधिकारी होता है।

---

१ अतस्त्वयोगो योगाना योग परमुदाहृत ।
मोक्षयोजन भावेन सर्वसन्यास लक्षण ॥
—वही, ११; तथा अध्यात्मतत्त्वालोक, ७।१२

२. योगदृष्टिसमुच्चय, २०८-९

३. प्रवृत्तचक्रास्तु पुनर्यम द्वयसमाश्रया. ।
शेषद्वयार्थिनोऽत्यन्त शुश्रूषादिगुणान्विता ।. —वही, २१०

यम की अपेक्षा से इस योगी के भी चार विभेद किये गये हैं—१ इच्छायम, २ प्रवृत्तियम, ३ स्थिरयम और ४ सिद्धियम।[1] यहाँ यम शब्द का व्यवहार अहिंसा, सत्य आदि के वाचक के रूप मे हुआ है। अत. इन पाँचो व्रतो का निष्ठापूर्वक पालन करनेवाला, योग-कथा में अभिरुचि रखनेवाला तथा योगकथाओ द्वारा अपने मन को स्थिर करनेवाला योगी इच्छायम कहलाता है। उपशमादि भावो को धारण करके जो योगी यमादि व्रतो का पालन करता है, वह प्रवृत्तियम है। क्षयोपशमभाव से अतिचारो की चिन्ता न करके, दृढ भावना से यमो का पालन करनेवाला योगी स्थिरयम कहलाता है और जिसकी अन्तरात्मा विशुद्ध होकर परमार्थपद की प्राप्ति के लायक होती है, वह सिद्धियम योगी कहा जाता है।[2]

इस प्रकार प्रवृत्तचक्रयोगी अपनी आत्मोन्नति के लिए अनेक प्रकार के चारित्र का पालन करता हुआ, राग-द्वेषादि से रहित होता है तथा आत्मगुणो की वृद्धि के क्रम में तीन प्रकार के अवचको को पूरा करता है।

अवंचक के प्रकार

अवचक तीन प्रकार के है—१ योगावचक, २. क्रियावचक तथा ३ फलावचक।[3] जिनके दर्शन से कल्याण एवं पुण्य की प्राप्ति होती है, ऐसे सद्‌गुरुओ का सत्संग ही योगावंचक है। पापक्षय के लिए सद्‌गुरुओ की प्राप्ति के बाद उनकी पूजा-सत्कार करना क्रियावंचक है। गुरु के उपदेशानुसार सम्यक्‌रूप से यमनियमादि का पालन करते हुए धर्म की सिद्धि को प्राप्त होकर उत्तम योग के फलो को पाना फलावचक कहलाता है।[4]

इस प्रकार योग-प्राप्ति की ओर उन्मुख साधक अब योगावचक

---

१ यमाश्चतुर्विधा इच्छाप्रवृत्तिस्थैर्यसिद्धय ।—योगभेदद्वात्रिंशिका, २'

२. योगदृष्टिसमुच्चय, २१३–१६

३ योगक्रियाफलाख्यं यच्छ्रूयते वचकत्रयम् ।
साधूनाश्रित्य परम मिपुलक्ष्यक्रियोपमम् । —वही, ३४

४. वही, २१७-१८

नामक प्रथम योग को पूर्णतया सिद्ध कर लेता है और फिर शेष दोन अवचको को साध लेता है, तब वह प्रवृत्तचक्रयोगी कहा जाता है।[1]

निष्पन्नयोगी--उस योगी को कहते है, जिसका योग निष्पन्न अर्थात् पूरा हो गया है। अत. इस योगी को भी योग का अधिकारी नही माना गया है, क्योकि सिद्धि की प्राप्ति के अधिक निकट होने के कारण इस योग मे धर्म-व्यापार का सर्वथा लोप हो जाता है और योगी के लिए कुछ भी करना शेष नही रहता।

जप एवं उसका फल

चूंकि ध्यान के अन्तर्गत ही विभिन्न प्रकार के मन्त्रो, जपो आदि का विधान है, अत. इनके सम्बन्ध मे विस्तृत रूप से वर्णन आगे किया जायेगा। इसके सम्बन्ध मे कुछ विचार कर लेना यहाँ प्रसगोचित जान पड़ता है, क्योकि इनके द्वारा योग के स्वरूप का पूर्ण प्रतिबिम्ब स्पष्ट होता है। किसी मन्त्र का बार-बार चिन्तन-मनन करना ही जप है। मन्त्र देवता अथवा जिनेन्द्र की स्तुति से सम्बन्धित होता है और इन मन्त्रों से जहाँ पाप, क्लेश, विषाद आदि दूर होते हैं, वहाँ मानसिक एकाग्रता भी प्राप्त होती है।[2] ऐसे जापों से मोह, इन्द्रियलिप्सा, काम आदि कषायो का शमन होता है और मनोजय, परीषहजय, कर्मनिरोध, कर्मनिर्जरा, मोक्ष तथा शाश्वत आत्मसुख प्राप्त होता है।[3]

कुण्डलिनी

जहाँ तक जैन-योग का सम्बन्ध है, कुण्डलिनी की चर्चा न आगम-ग्रन्थों

---

१. आद्यावचक्रयोगाप्त्या तदन्यद्वयलाभिन: ।
एतेऽधिकारिणो योगप्रयोगस्येति तद्विद. ॥ —वही, २११

२ जप: सन्मन्त्रविषय. स चोक्तो देवतास्तव. ।
दृष्ट: पापापहारोऽस्माद्विषापहरणं यथा ॥ —योगबिन्दु, ३८१

३ सन्मन्त्रजपनेनाहो, पापारि क्षीयतेतराम् ।
मोहाक्षस्मर चौराद्यै., कषायै सह दुर्धरै. । १५०;
मन.परीषहादीना, जय. कर्मनिरोधनम् ।
निर्जरा कर्मणा मोक्ष:, स्यात्सुखं स्वात्मजं सताम् । १५१,
—नमस्कार स्वाध्याय (संस्कृत), पृ० १४

मे प्राप्त होती है, न परवर्ती योग-विषयक वाड्मय मे। केवल मन्त्रराज-रहस्य[1] नामक पुस्तक में कुण्डलिनी की चर्चा मिलती है। योगशास्त्र एव ज्ञानार्णव में ध्यान के अन्तर्गत अवश्य कुछ यौगिक क्रियाओं का वर्णन मिलता है, जिसका सम्बन्ध कुण्डलिनी से है। यद्यपि उन यौगिक क्रियाओ पर आगे विचार किया जायेगा, लेकिन यहाँ केवल इतना उल्लेख कर देना आवश्यक है कि कुण्डलिनी द्वारा योगी आत्मस्वरूप की प्राप्ति करता है। अर्थात् योगी कुण्डलिनी के नवचक्रो के आधार पर क्रमश. जप एव मन्त्रो का चिन्तन करते-करते मन को एकाग्र करता है तथा आत्मदर्शन करने मे समर्थ होता है। कुण्डलिनी के नवचक्र इस प्रकार हैं[2]–१. गुदा के मध्यभाग मे आधार चक्र, २. लिंगमूल के पास स्वाधिष्ठान चक्र, ३ नाभि के पास मणिपूर चक्र, ४ हृदय के पास अनाहत चक्र, ५ कण्ठ के पास विशुद्ध चक्र, ६. घण्टिका के पास ललना चक्र, ७ कपालस्थित आज्ञा चक्र, ८. मूर्ध्वास्थित ब्रह्मरन्ध्र चक्र एव ९. उर्ध्वभाग स्थित सुषुम्ना चक्र।

जैन योग-साधना शारीरिक कष्टो अर्थात् अनेक प्रकार के तपो पर भी जोर देती है, क्योकि उनके द्वारा इन्द्रियो के विषयो को स्थिर किया जाता है। इन्द्रियो को स्थिर करने पर मन एकाग्र होकर अनेकविध धर्म-व्यापारो द्वारा चित्तशुद्धि, समताभाव आदि गुणो को प्राप्त करता है, जिनसे कि साधक क्रमश. आत्मोन्नति करता हुआ अपने सम्पूर्ण कर्मो का क्षय करते हुए मोक्षसुख को प्राप्त करता है।

---

१ वि० स० १३३३ मे रचित।

—जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भा० ४, पृ० ३१८

२. गुदमध्य लिंगमूलेनाभौ हृदि कण्ठ-घटिका भाले।
मूर्ध्नेन्यूर्ध्वे नवषट्क (चक्र) ठान्ता पच भालेयुता:॥

—नमस्कार स्वाध्याय (सस्कृत), पृ० १२१

: ४ : योग के साधन : आचार

(१) श्रावकाचार

जैन-दर्शनानुसार रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यक् चारित्र को, जो कि मोक्ष के कारणभूत है, साधन-योग माना गया है।[1] अतः योग के लिए चारित्र आधारस्तम्भ है, क्योकि सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होने पर ही साधक अथवा योगी अपनी अन्तर्बाह्य प्रवृत्तियो को सयमित करके अथवा भोग-कषायादि प्रवृत्तियो को नियन्त्रित करने पर आत्म-स्वरूप का चिन्तन करने योग्य बनता है। चारित्र का सम्यक् पालक योगी ही वैराग्य तथा समता की ओर उन्मुख होकर आत्म-चिन्तन मे स्थिर होता है। इस प्रकार योग के लिए चारित्र एक अनिवार्य साधन है, जिससे आत्मिक विकास एव मोक्ष की प्राप्ति होती है।

चारित्र मे शुद्ध आचार-विचार का बडा महत्त्व है, क्योकि आचार एव विचार दोनो परस्परावलंबी हैं और दोनो के सम्यक् पालन से ही चारित्र का उत्कर्ष होता है। इसी को ध्यान मे रखकर जैन योग मे आचार-विचार के सम्यक् पालन का विधान है। बिना आचार-विचार की शुद्धि के चारित्र की प्राप्ति नही हो सकती और बिना चारित्र की सम्पन्नता के न योग सम्भव है तथा न मोक्ष की प्राप्ति ही।

अत. चारित्र की दृढ़ता एवं सम्पन्नता के लिए जैन-दर्शन मे विभिन्न व्रतो, क्रियाओ, विधियो, नियम-उपनियमो आदि का विधान है जिनमें तप, आसन, प्राणायाम, धारणा, प्रत्याहार, ध्यान आदि प्रमुख हैं। इस सदर्भ मे निर्देश किया गया है कि ध्यानादि नियम उत्तरोत्तर चित्त की शुद्धि करते हैं, इसलिए ये सभी चारित्र ही हैं।[2]

---

१. चतुर्वर्गेऽग्रणी मोक्षो, योगोस्तस्य च कारणम्।
ज्ञान-श्रद्धान-चारित्ररूप, रत्नत्रय च स ॥ —योगशास्त्र, १।१५

२. चारित्रिणस्तु विज्ञेय शुद्धयपेक्षो यथोत्तरम्।
ध्यानादिरूपो नियमात् तथा तात्त्विक एव तु ॥ —योगबिन्दु, ३७१

योग की सम्पन्नता एव सफलता अथवा चारित्र की प्राप्ति के लिए गृहस्थो (श्रावको) एव श्रमणों (साधुओं) के आचार-विचारो के विधान अलग-अलग हैं; क्योकि दोनो की साधना-भूमि अथवा जीवन-व्यवहार अलग-अलग है। इस दृष्टि से श्रावकाचार एवं साध्वाचार का दिग्दर्शन आवश्यक जान पड़ता है। इस सन्दर्भ मे यह भी निर्देश कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि जैन श्रावक अपने सम्यक् आचार-विचार के परिपालन से साधुत्व तक पहुँच सकता है एव साध्वाचार के सम्यक् परिपालन से मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से योग के विकास एवं महत्त्व के प्रतिपादन के लिए क्रमश. वैदिक, बौद्ध एवं जैन आचार-विकास का सिंहावलोकन करना भी आवश्यक होगा।

वैदिक परम्परासम्मत आचार

यद्यपि वेदकालीन साहित्य के अनुसार ऐहिक सुख-प्राप्ति ही जीवन का लक्ष्य रहा है, तथापि सहिताओ के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि लोगो के हृदय मे सत्य, दान, आदि के प्रति सम्मान था, क्योंकि विविध प्रकार के नियमो, गुणो एव दण्डों के प्रवर्तको के रूप मे विभिन्न देवो की कल्पना की गयी है।[१]

उपनिषदो मे दार्शनिक भित्ति पर सदाचार, सन्तोष, सत्य आदि आत्मिक गुणो का विधान है और इन्हे आत्मानुभूति के लिए आवश्यक माना गया है, क्योकि उन गुणो के आचरण से श्रेय की प्राप्ति होती है। यही कारण है कि उपनिषदो मे ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, सत्य आदि व्रतो के पालन का आदेश[२] है और साधक के लिए साध्य की ओर बढने के लिए दस यमो का सयमपूर्वक पालन करना तथा शुद्ध आत्म-तत्त्व की पहचान करना आवश्यक माना गया है।[३]

स्मृतिशास्त्रो मे आचार, विचार, व्यवहार, प्रायश्चित्त, दण्ड आदि का विधान विस्तारपूर्वक वर्णित है, जिनमे चारो आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास) एव चारो वर्णो सम्बन्धी विधि-

१ जैन आचार, पृ० ९

२. ब्रह्मचर्यमहिंसां चापरिग्रहं च सत्य च यत्नेन। —आरुणिकोपनिषद्, ३

३. तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यदयाजपक्षमाधृतिमिताहारशौचानि चेति यमा दश। —शाण्डिल्योपनिषद्, १

विधानों एव कर्तव्यो का वर्णन है तथा योगी साधक के लिए गृहस्थाश्रम महत्त्वपूर्ण माना गया है।[1] सदाचार, दम, अहिंसा, दान, कर्तव्य, स्वाध्याय आदि एवं योगाभ्यास द्वारा आत्म-दर्शन करना चाहिए[2] तथा इन्द्रियो को विषयों से रोककर सिद्धि प्राप्त करनी चाहिए।[3]

महाभारत तो वैदिक सस्कृति का आचार-कोश ही है। इसमे पग-पग पर गृहस्थ, योगी, त्यागी आदि के आचार, विचार, आहार आदि सम्बन्धी वर्णन भरा है। इसमें जहाँ मन, इन्द्रिय, सत्य, काम, क्रोधादि कषायो का निरूपण है[4] वहाँ व्रत, उपवास, ब्रह्मचर्य, अतिथि-सेवा[5] का भी विधान है। गृहस्थ सम्बन्धी कर्त्तव्यों का पालन करने[6] पर विशेष जोर देते हुए कहा गया है कि वही साधक परमात्मा को प्राप्त करता है जो गृहस्थ-धर्म का सम्यक्‌रूप से पालन करता है।[7]

गीता महाभारत का ही एक अंग है। इसमे भी विभिन्न योगो के माध्यम से यज्ञ मे होनेवाली हिंसा को अनावश्यक[8] बताया गया है और अहिंसा, समता सन्तोष, तप, कीर्ति आदि[9] भावो के सम्यक् पालन का उपदेश है। इसमें यति-मुनि को इन्द्रिय-सयमी, इच्छाभयरहित, क्रोधरहित, मोक्षपरायण तथा मुक्त[10] माना गया है और वेदविद् तथा वीतराग कहा गया है।[11] इस प्रकार गीता मे विभिन्न प्रकार के आचार-

---

१. (क) मनुस्मृति, अध्याय २, ३।७७
(ख) याज्ञवल्क्यस्मृति (ब्रह्मचारी प्रकरण), १७–२३,
(गृहस्थप्रकरण) ९७–१०३ , ११८–२४

२. इज्याचारदमाहिंसादान स्वाध्यायकर्म्मं च।
अय तु परमो धर्म्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥ —याज्ञवल्क्यस्मृति, ८

३. इद्रियाणा प्रसंगेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
सनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धि नियच्छति ॥ —मनुस्मृति, २।९३

४. महाभारत, आपद्धर्म, अध्याय, १६०

५. वही, मोक्षधर्म, २२१ ६. वही, शान्तिपर्व, १२

७. वही, मोक्षधर्म, २२० ८. भगवद्‌गीता, ४।२३-३३

९. अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दान यशोऽयश.।—वही, १०।५

१०. यतेन्द्रियमनोवुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो य. सदा मुक्त एव स। —वही, ५।२८

११. वही, ५।२६ ; ८।११

विचार का सयोजन है, जिनमे गृहस्थ एवं मुनि धर्मों की झाँकी प्रस्तुत की गयी है।

पुराणो मे भी कथा एव आख्यानो के माध्यम से तरह-तरह के आचार-विचार का प्रतिपादन हुआ है, जिनमें वानप्रस्थ के कर्त्तव्यो[१] का, यतिधर्म[२] का गृहस्थ सम्बन्धी सदाचार[३] का तथा मोक्षधर्म[४] का प्ररूपण है। इन आचार-पद्धतियो के द्वारा सत्य की प्राप्ति, चारित्र का निर्माण तथा जीवन को सयममय बनाने का उपदेश है। वैदिक दर्शनों मे भी यम-नियम तथा योगशास्त्रविहित अध्यात्मविधि तथा उपायसमूह द्वारा आत्म-संस्कार[५] का उल्लेख है और बताया गया है कि योगियो को आत्म-प्रत्यक्ष होता है एव आत्मकर्म से मोक्ष की प्राप्ति होती है।[६]

योगदर्शन मे तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्राणिधान को क्रियायोग[७] कहा गया है, क्योकि इनसे समाधि की उत्पत्ति तथा क्लेशो का शमन होता है।[८] योग की यह साधना सम्पन्न होने पर ही कैवल्य की प्राप्ति होती है और इस साधना के लिए विभिन्न सम्यक् आचारो का सफल अनुसरण अष्टागयोग द्वारा होता है।

बौद्ध-परम्परा में आचार

बौद्ध-परम्परा मे भी श्रावको एवं श्रमणो के आचार एव विचार पर विशेष बल दिया गया है। इतना अवश्य है कि बौद्ध-परम्परा में गृहस्थों की अपेक्षा श्रमणो के आचार-विचार, खान-पान, रहन-सहन आदि से सम्बन्धित नियम-उपनियमो का विधान विशेष है। यही कारण है कि श्रमणो का मुख्य धर्म है शील एव प्रज्ञा का समुचित पालन करना।

---

१. श्री भागवतपुराण, स्कन्ध ७, अध्याय १२
२. वही, ,, ,, १३
३ वही, ,, ,, १४
४. वही, ,, ,, १५
५. तदर्थयमनियमाभ्यामात्मसंस्कारोयोगाच्चाध्यात्मविध्युपायै.। —न्यायदर्शन, ४।२।४६
६ वैशेपिकदर्शन, ६।२।१६
७ तप स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।—योगदर्शन, २।१
८. समाधिभावनार्थ. क्लेशतनूकरणार्थश्च।—वही, २।२

यहाँ शील का तात्पर्य धर्म को धारण करना, कर्त्तव्यों मे प्रवृत्त होना तथा अकर्त्तव्यो से पराङ्मुख होना है।[1] समाधि का तात्पर्य चित्त मे एकाग्रता अर्थात् एक ही आलम्बन मे चित्त को स्थापित करना है।[2] कुशल चित्तयुक्त विपश्य विवेकज्ञान ही प्रज्ञा है।[3] इस प्रकार इन तीनो साधनों के सम्यक् परिपालन द्वारा ही श्रमण साधक को निर्वाण की प्राप्ति होती है।

जैन-परम्परा में आचार

जैन-परम्परा मे आचार अथवा चारित्रधर्म का सर्वाधिक महत्त्व है। जैन-परम्परा में श्रावक तथा श्रमण दोनो के आचार-विचार का अति विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। श्रावक एव श्रमण के विभिन्न आचार-विधानो का विधिवत् पालन करने का निर्देश है, क्योकि मुक्ति-लाभ के लिए विशुद्ध विचारो के साथ-साथ विशुद्ध अर्थात् अतिचाररहित आचरण अपेक्षित है। यही कारण है कि मोक्ष के हेतुभूत समस्त धर्म-व्यापार-क्रिया को योग कहा गया है[4] और प्रकाशक ज्ञान, शोधक तप तथा गुप्तिकारी सयम इन तीनो के समायोग को जिनशासन मे मोक्ष कहा गया है।[5] इसी विचार के समानान्तर मुक्तिलाभ के लिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप[6] का विधान है, जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र[7] मे समाविष्ट है। इन तीनो को रत्नत्रय कहते हैं। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इन चार पुरुषार्थों मे मोक्ष प्रमुख है। अत. मोक्ष-प्राप्ति के जो कारणभूत साधन हैं, वही योग है। अर्थात् ज्ञान, श्रद्धा और

---

१ विशुद्धिमार्ग, १।१९-२५

२ वही, ३।२-३

३. वही, १४।२-३

४ दर्शन और चिन्तन, खण्ड १, पृ २४१

५ णाण पयासग सोहओ तवो सजमो य गुत्तिकरो।
तिण्हपि समाजोगे मोक्खो जिणसासणे भणिओ।
—आवश्यकनिर्युक्ति, १०३

६ नाण च दसणं चैव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मणुत्ति पन्नतो, जिणेहि वरदसिहि॥ —उत्तराध्यन, २८।२

७. सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। —तत्त्वार्थसूत्र, १।१

चारित्र ही योग है।[१] दूसरे शब्दो मे सम्यग्दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र निश्चय-योग भी है और व्यवहार-योग भी। आत्मा रत्नत्रयस्वरूप है और उसी को सत्यार्थ समझना निश्चयदृष्टि से योग है,[२] क्योंकि वही मोक्ष है। रत्नत्रय के पालन से अथवा स्वरूपाचरण से जीव के परिणामो मे शुद्धता आती है और ज्यो-ज्यो परिणामो मे उत्तरोत्तर विकास होता जाता है त्यो-त्यो कर्मविकार घटते जाते है और साधक मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। आत्मविकास के लिए चारित्र के अन्तर्गत अनेक यमनियमो का, शास्त्रीय विधि-निषेधो का अनुसरण आवश्यक है और आध्यात्मिक शिक्षा का सहारा लेना पड़ता है। कारण में कार्य के उपचार की दृष्टि से सम्यग्ज्ञानादि के कारणो का आत्मा के साथ जो सम्बन्ध है, उसे व्यवहारयोग कहते हैं।[3] अतः धर्मशास्त्रोक्त विधि के अनुसार गुरु की विनय तथा परिचर्या आदि करना और यथाशक्ति विधि-निषेधो का पालन करना व्यवहारयोग है।[४]

सम्यग्दर्शन

जैन-दर्शन मे दर्शन शब्द अनाकार-ज्ञान का प्रतीक माना गया है[५] और श्रद्धा के अर्थ मे भी प्रयुक्त हुआ है।[६] सही दर्शन सही ज्ञान तक और सही ज्ञान ही सही आचरण तक ले जाने की क्षमता रखता है।[७] अत धर्म का मूल दर्शन है। इस दृष्टि से आप्तवचनों तथा तत्त्वो पर श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।[८] आप्तपुरुष वह है जो अठारह दोषो से विमुक्त

---

१. अभिधानचिन्तामणि, १।७७

२. निच्छायओ इह जोगो सन्नाणाईण तिण्ह सबंधो।
　मोक्खेण जोयणाओ निद्दिट्ठो जोगिनाहेंहि। —योगशतक, २

३ ववहारओ य एसो विन्नेओ एयकारणाण पि।
　जो सम्बन्धो वि य कारणज्जोवयाराओ। —योगशतक, ४

४. गुरुविणओ सुस्सूसाइया य विहिणा उ धम्मसत्थेसु।
　तह चेवाणुट्ठाणं विहिपडिसेहेसु जहसती। —वही, ५

५ साकारं ज्ञान अनाकार दर्शनम्। —तत्त्वार्थराजवार्तिक, पृ० ८६

६. उत्तराध्ययन, २८।३५　　७ वही, २८।३०

८. समयसार, १४

हो ।[1] आप्तवचनो के प्रति श्रद्धान, रुचि, अनुराग, आदर, सेवा एव भक्ति रखने से सत्य का साक्षात्कार होता है।

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा तथा मोक्ष के प्रति श्रद्धान या विश्वास ही सम्यक्त्व है ।[2] आत्मा परद्रव्यो से भिन्न है, यह श्रद्धा ही सम्यक्त्व है ।[3] इस प्रकार सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए सच्चा गुरु एवं धर्म-वुद्धि आवश्यक है, जिनके द्वारा यथार्थ-अयथार्थ का विवेक उत्पन्न होता है ।

सम्यक्त्व के पाँच लक्षण[4]

१. शम—क्रोध, मान, माया तथा लोभ का उदय न होना,
२. सवेग—मोक्ष की अभिलाषा,
३ निर्वेद—ससार के प्रति विरक्ति,
४. अनुकम्पा—बिना भेदभाव के दु खी जीवों के दु.ख को दूर करने की भावना,
५ आस्तिक्य—सर्वज्ञ वीतराग द्वारा कथित तत्त्वों पर दृढ़ श्रद्धा ।

सम्यक्त्व के पच्चीस दोष

सम्यक्त्व के पच्चीस दोष माने गये हैं, जो सम्यक्त्व की प्राप्ति के मार्ग मे अवरोध उत्पन्न करते हैं। उनसे साधक को रहित होने का

---

१ पुह तण्हा भय दोसो रायो मोहो जरा रुजा चिन्ता ।
मिच्चू खेओ सेओ अरइ मओ विम्हओ जम्मं ॥
निद्दा तहा विसाओ दोसा एएहिं वज्जिओ अता ।
वयण तस्य पमाणं सतत्थपरुवय जम्हा ॥ —वसुनन्दि श्रावकाचार, ८-९
अर्थात्-क्षुधा, तृषा, भय, द्वेष, राग, मोह, जरा, रोग, चिन्ता, मृत्यु, खेद, स्वेद, अरति, मद, विस्मय, जन्म, निद्रा और विषाद ये अठारह दोष हैं। जो आत्मा इन दोषो से रहित है, वही आप्त है और इसी आप्त के वचन प्रमाण माने जाते हैं ।

२ (क) तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शनम् । —तत्त्वार्थसूत्र, १।२
(ख) जीवाजीवास्रवबन्धसवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ।—वही, १।४
(ग) रुचिर्जिनोक्ततत्त्वेषु, सम्यक् श्रद्धानमुच्यते ।—योगशास्त्र, १।१७

३ परद्रव्यनतें भिन्न आपमे रुचि, सम्यक्त्व भला है। —छहढाला, ३।२

४. शम-सवेग निर्वेदानुकम्पाऽऽस्तिक्य लक्षणैः ।
लक्षणैः पचभिः सम्यक्, सम्यक्त्वमुपलक्ष्यते ॥ —योगशास्त्र, २।१५

आदेश है।[१] वे दोष इस प्रकार हैं—तीन मूढताएँ, आठ मद, छह अनायतन और आठ शंका आदि।[२]

तीन मूढताएँ—१ देवमूढता, २. गुरुमूढता एवं ३ लोकमूढ़ता।

आठ मद—(१) ज्ञान, (२) अधिकार, (३) कुल, (४) जाति, (५) वल, (६) ऐश्वर्य, (७) तप और (८) रूप।

छह अनायतन—(१) कुदेव, (२) कुदेवमन्दिर, (३) कुशास्त्र, (४) कुशास्त्र के धारक, (५) कुतप एवं (६) कुतप के धारक।

आठ शंका आदि (सम्यक्त्व के आठ अंगो से विपरीत)—(१) शका, (२) काक्षा, (३) विचिकित्सा, (४) अन्यदृष्टि प्रशंसा, (५) निन्दा, (६) अस्थितीकरण, (७) अवात्सल्य और (८) अप्रभावना। इन्ही दोपो मे सम्यक्त्व के पाँच अतिचारो का अन्तर्भाव है।

सम्यग्ज्ञान

सम्यग्दर्शनपूर्वक ही सम्यग्ज्ञान होता है। सम्यग्दर्शन के लिए जिन तत्त्वो पर श्रद्धान अथवा विश्वास अपेक्षित है, उनको विधिवत् जानने का प्रयत्न करना ही सम्यग्ज्ञान का लक्ष्य है।[३] अर्थात् अनेक धर्मयुक्त स्व तथा पर-पदार्थो को यथावत् जानना ही सम्यग्ज्ञान है।[४]

वस्तुतः जीव मिथ्याज्ञान के कारण चेतन-अचेतन वस्तुओ को एक-रूप समझता है, परन्तु चेतनस्वभावी जीव या आत्मा अचेतन या जड़

---

१. मूढत्रय मदाश्चाष्टौ तथाऽनायतानि पड्।
अष्टौ शकादयश्चेति दृग्दोपा पंचविंशति ॥
—उपासकाध्ययन, २१।२४१

२ योगशास्त्र मे सम्यक्त्व के पाँच दोष क्रमशः शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टिप्रशसा तथा मिथ्यादृष्टिसस्तव वताये गये हैं।

शकाकाङ्क्षाविचिकित्सा–मिथ्यादृष्टिप्रशसनम्।
तत्सस्तवश्च पचापि, सम्यक्त्व दूपयन्त्यलम् ॥
—योगशास्त्र, २।१७

३ नाणेण जाणई भावे। —उत्तराध्ययन, २८।३५

४ स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाणम्। —प्रमेयरत्नमाला, १

पदार्थों के साथ एकीभूत कैसे हो सकता है ? विषय-भेद के कारण इसके चार भेद है,[1] जिनका वर्णन यहाँ आवश्यक नही है ।

सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान का होना असंभव है ।[2] सम्यग्ज्ञान के तीन दोष–सशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय स्व तथा पर पदार्थों के अन्तर को जानने के मार्ग मे बाधक हैं। अत इन तीनो दोषो को दूर करके आत्मस्वरूप को जानना चाहिए ।[3] आत्मस्वरूप का जानना ही निश्चय-दृष्टि से सम्यग्ज्ञान है ।[4]

सम्यक्चारित्र

सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान होने के बाद चारित्र सम्यक्चारित्र हो जाता है। क्योकि दृष्टि मे परिवर्तन आ जाता है, दृष्टि परिशुद्ध, यथार्थ बन जाती है। राग-द्वेषादि कषाय-परिणामो के परिमार्जन के लिए अहिंसा, सत्यादि व्रतो का पालन करने के लिए सम्यक्चारित्र का विधान है ।[5] ज्ञानसहित चारित्र ही निर्जरा तथा मोक्ष का हेतु है। दूसरे शब्दों मे अज्ञानपूर्वक चारित्र का ग्रहण सम्यक् नही होता, इसलिए चारित्र का आराधन सम्यग्ज्ञानपूर्वक ही सम्यक् कहा गया है ।[6]

---

१ प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग ।
—समीचीन धर्मशास्त्र, २, ४३–४६

२ सम्यग्ज्ञान कार्यं सम्यक्त्व कारण वदन्ति जिना. ।
ज्ञानाराधनमिष्ट, सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात् ॥
कारणकार्यविधान समकालं जायनोरपि हि ।
दीपप्रकाशयोरिव, सम्यक्त्वज्ञानयो सुघटम् ॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ३३-३४

३. तातै जिनवरकथित तत्त्वअभ्यास करीजे ।
संशय विभ्रम मोह त्याग, आपो लख लीजे ॥ —छहढाला, ४।६

४. आपरूप को जानपनो सो सम्यग्ज्ञान कला है । —छहढाला, ३।२

५. मोहतिमिराऽपहरणे, दर्शनलाभादवाप्तसज्ञान ।
रागद्वेषनिवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥
—समीचीन धर्मशास्त्र, ३।२१।४७

६. नहि सम्यग्व्यपदेश चारित्रमज्ञानपूर्वक लभते ।
ज्ञानान्तरमुक्तं, चारित्राराधन तस्मात् ॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ३८

श्रमण एवं गृहस्थ की दृष्टि से चारित्र दो प्रकार का है[1]—(१) सकलचारित्र और (२) विकलचारित्र। बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रहो के त्यागपूर्वक श्रमण द्वारा गृहीत चारित्र सर्वसयमी अर्थात् सकलचारित्र है। गृहस्थो या श्रावको द्वारा गृहीत चारित्र देशसयत अर्थात् विकलचारित्र है। उक्त दोनों प्रकार के चारित्र को क्रमश सर्व-देश तथा एकदेश[2] कहा गया है। चारित्र के पाँच भेदो का भी वर्णन किया गया है—(१) सामायिक, (२) छेदोपस्थापना, (३) परिहारविशुद्धि, (४) सूक्ष्म संपराय तथा (५) यथाख्यात।[3]

१. सामायिकचारित्र—जिसका राग-द्वेष परिणाम शान्त है अर्थात् समचित्त है, उसे सामायिकचारित्र कहते हैं। इस चारित्र की प्राप्ति के बाद मन मे किसी प्रकार की ईर्ष्या, मोह आदि नही रह पाते।

२. छेदोपस्थापनाचारित्र--पहली दीक्षा ग्रहण करने के बाद विशिष्ट श्रुत का अभ्यास कर चुकने पर विशेष शुद्धि के लिए जीवन भर के लिए जो पुन· दीक्षा ली जाती है और प्रथम ली हुई दीक्षा मे दोपापत्ति आने से उसका उच्छेद करके पुनः नये सिरे से जो दीक्षा का आरोपण किया जाता है उसे छेदोपस्थापना-चारित्र कहते हैं।

३ सूक्ष्मसंपरायचारित्र—जहाँ सूक्ष्म कषाय विद्यमान हो अर्थात् किंचित् लोभ आदि हों, वह सूक्ष्मसंपरायचारित्र है।

४. परिहारविशुद्धिचारित्र—कर्म-मलों को दूर करने के लिए विशिष्ट तप का अवलम्बन लेने को अर्थात् आत्मा की शुद्धि करने को परिहार-विशुद्धिचारित्र कहते हैं।

---

१. सकलं विकलं चरण तत्सकलं सर्वसंग–विरतानाम्।
अनगाराणा, विकलं सागाराणां ससगानाम्॥
—समीचीन धर्मशास्त्र, ३।४।५०

२. छहढाला, ४।१०

३. सामाइयत्थ पढमं, छेओवट्ठावणं भवे बीयं।
परिहारविसुद्धीयं, सुहुमं तह सपरायं च॥
अकसायंअहक्खायं, छउमत्थस्स जिणस्स वा।
एयं चयरित्तकर, चारित्तं होइ आहियं॥—उत्तराध्ययन, २८।३२-३३

५. **यथाख्यातचारित्र**—आत्मा मे स्थित लोभादि कषायों का भी अभाव हो जाना यथाख्यातचारित्र है। यह अवस्था सिद्धपद के पूर्व चारित्र-विकास की पूर्णता की सूचक है।

इस सदर्भ में योगाधिकारी की दृष्टि से भी चारित्र के चार भेद वर्णित हैं और चारित्र अर्थात् चारित्रशील के क्रमशः चार लक्षणो का प्रतिपादन किया गया है। वे चार लक्षण इस प्रकार हैं[1]—(१) अपुनर्बन्धक, (२) सम्यग्दृष्टि, (३) देशविरति तथा (४) सर्वविरति।

१ **अपुनर्बन्धक**—जो उत्कट क्लेशपूर्वक पाप-कर्म न करे, जो भयानक दुःखपूर्ण ससार मे लिप्त न रहे और कौटुम्बिक, लौकिक एवं धार्मिक आदि सब बातो मे न्याययुक्त मर्यादा का अनुपालन करे, वह अपुनर्बन्धक है।

२. **सम्यग्दृष्टि**—धर्म-श्रवण की इच्छा, धर्म मे रुचि, समाधान या स्वस्थता बनी रहे, इस तरह गुरु एवं देव की नियमित परिचर्या-ये सब सम्यग्दृष्टि जीव के लिंग हैं।

३ **देशविरति**—मार्गानुसारी, श्रद्धालु, धर्म-उपदेश के योग्य, क्रिया-तत्पर, गुणानुरागी और शक्य बातो मे ही प्रयत्न करनेवाला देशविरति चारित्री होता है।[2]

४ **सर्वविरति**—अन्तिम वीतरागदशा प्राप्त होने तक सामायिक यानी शुद्धि के तारतम्य के अनुसार तथा शास्त्रज्ञान को जीवन मे उतारने की परिणति के तारतम्य के अनुसार सर्वविरति-चारित्री होता है।

---

१. पावं न तिव्वभावा कुणइ न वहु मन्नई भवं घोर।
उचियट्ठिइ च सेवइ सव्वत्थ वि अपुणवंधो त्ति ॥१३॥
सुस्सूस धम्मराओ गुरुदेवाण जहासमाहीए।
वेयावच्चे नियमो सम्मद्दिठिस्स लिंगाइ ॥१४॥
मग्गणुसारी सद्धो पन्नवणिज्जो कियावरो चेव।
गुणरागी सक्कारभसगओ तह य चारित्ती ॥१५॥
एसो सामाइयसुद्धिभेयओऽणेगहा मुणेयव्वो।
आणापरिणइमेया अंते जा वीयरागो त्ति ॥१६॥—योगशतक

२. योगविन्दु, ३५२-५३

प्रथम अधिकारी (चारित्री) मे मिथ्याज्ञान के रहने से दर्शन प्रकट नही होता, क्योकि दर्शनमोहनीय कर्म अस्तित्व में रहता है। द्वितीय अधिकारी मे मोहनीय कर्म का क्षय होता है, परन्तु वीतरागता की प्राप्ति नही होती। तीसरे अधिकारी मे कर्म अल्पाश मे नष्ट होते हैं, किन्तु पूर्णत नही। और चौथे मे जाते-जाते पूरे कर्म ढीले पड़ जाते है तथा पूर्ण चारित्र का उदय हो जाता है।[1]

इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र आत्मविकास की क्रमिक सीढ़ियाँ हैं, मोक्ष-मार्ग के साधन हैं, क्योकि इनके द्वारा क्रम-क्रम से आत्मविकास होता है, कषाय एव कर्म क्षीण होते जाते हैं और स्वानुभूति की परिधि का विस्तार होता जाता है तथा एक ऐसी अवस्था आती है जब साधक मोक्ष का अधिकारी बन जाता है।

चारित्र के दो भेद

पूर्व वर्णित चारित्र के दो भेद—सकलचारित्र एव विकलचारित्र, क्रमश श्रमण एवं श्रावक के होते हैं, क्योकि मुनि जहाँ बाह्य एव आभ्यन्तर दोनो प्रकार के परिग्रहो का त्यागी होता है वहाँ श्रावक वैसा न होकर कुछ परिग्रहो का त्यागी होता है। मुनि विरक्त एव गृहत्यागी होने के कारण ऐसा करने मे सक्षम हो सकते हैं, लेकिन श्रावक के लिए सर्वसग-परित्यागी बनना अशक्य है। उसे जीविकोपार्जन के लिए विविध उद्योग-व्यवसाय आदि का अवलम्बन लेना पडता है। इस प्रकार मोटे तौर पर जैनशास्त्र मे दो प्रकार की आचार-सहिताओ का विधान है, जिनका वर्णन क्रमश. यहाँ किया जाता है।

श्रावकाचार

श्रावक देशसयमी होता है। उसके आचार मे मर्यादापूर्वक आत्म-विकास की छूट है। यही कारण है कि आरम्भ-समारम्भपूर्ण श्रावकधर्म मे सदाचार एव सद्विचार की प्रतिष्ठा द्वारा निर्वाण, वीतरागता की प्राप्ति का विधान है। श्रावकाचार श्रमणाचार का पूरक अथवा उस दिशा मे सहायक होता है।

---

१. योगशतक, पृ० २१

श्रावक के लिए देशसयमी, गृहस्थ, श्राद्ध, उपासक, अणुव्रती, देश-विरत, सागार, आगारी आदि शब्दो के भी प्रयोग होते हैं।[1]

श्रावक के विभिन्न दृष्टियो से कई भेद-प्रभेद किये गये है। सागार-धर्मामृत के अनुसार श्रावक तीन प्रकार के हैं—१ पाक्षिक, २. नैष्ठिक, और ३. साधक।[2] निर्ग्रन्थ धर्म मे श्रद्धा रखनेवाला पाक्षिक, श्रावक-धर्म का पालन करनेवाला नैष्ठिक तथा आत्मध्यान मे लीन होकर सलेखना लेनेवाला साधक है। ग्यारह प्रतिमाओ के आधार पर भी श्रावक तीन प्रकार के कहे गये हैं[3]—१ जघन्य, २ मध्यम तथा ३ उत्कृष्ट। चामुण्डराय ने गृहस्थ को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन चार आश्रमो में विभाजित किया है।[4] इसमें वैदिक परम्परा का अनुकरण स्पष्ट दीख पड़ता है। हरिभद्र ने सामान्य और विशेष दो प्रकार के श्रावक बताये है।[5] श्रावक के भेद-विभेद मे न जाकर यहाँ केवल श्रावकाचार का प्रतिपादन करना ही अभीष्ट है।

श्रावक-धर्म अथवा श्रावकाचार का प्ररूपण मुख्यत तीन प्रकार से किया गया है—(१) बारह व्रतो के आधार पर, (२) ग्यारह प्रतिमाओं के आधार पर तथा (३) पक्ष, चर्या अथवा निष्ठा एवं साधन के आधार पर। उपासकदशाग, तत्त्वार्थसूत्र, रत्नकरण्ड-श्रावकाचार आदि मे संलेखनासहित बारह व्रतो के आधार पर श्रावक-धर्म का प्रतिपादन है। आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्र-प्राभृत में, स्वामि कार्तिकेय ने द्वादश अनुप्रेक्षा मे एव आचार्य वसुनन्दि ने वसुनन्दि-श्रावकाचार मे ग्यारह प्रतिमाओं के आधार पर श्रावक-धर्म का प्ररूपण किया है।[6] श्रावक के बारह व्रत

---

१. जैन आचार, पृ० ८३

२ पाक्षिकादिभिदा त्रेधा, श्रावकस्तत्र पाक्षिक ।
तद्धर्मगृह्यस्तन्निष्ठो, नैष्ठिक. साधक: स्वयुक् ।—सागारधर्मामृत, १।२०

३. वही, ३।२-३

४. चारित्रसार, पृ० २०

५. तत्र च गृहस्थधर्मोऽपि द्विविध' —सामान्यतो विशेषतश्चेति ।
—धर्मबिन्दु, १।२

६. जैन आचार, पृ० ८३-८४

इस प्रकार है--पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत।[१] उपासकदशांग मे तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत के लिए सामूहिक नाम शिक्षाव्रत व्यवहृत हुआ है।[२] कुन्दकुन्द ने ग्यारह प्रतिमाओं के साथ ही बारह व्रतो का उल्लेख कर दिया है।[३] तत्त्वार्थसूत्रकार ने भी बारह व्रतो का ही उल्लेख किया है।[४] पाँच अणुव्रतो को मूलगुण भी माना गया है, लेकिन इन व्रतों के साथ मद्य, मास एव मधु का त्याग भी मूलगुण के अन्तर्गत ही है।[५] कही-कही पाँच अणुव्रतो के साथ जुआ, मद्य एवं मास-त्याग को भी मूलगुण माना गया है।[६] पद्मपुराण मे मधु, मद्य, मास, जुआ, रात्रि-भोजन एव वेश्यागमन के त्याग को नियम[७] कहा गया है। हरिवशपुराण के अनुसार पाँच उदुम्बर फल के त्याग एवं परस्त्री-त्याग को नियम कहा गया है।[८]

अणुव्रत

श्रावक के लिए विहित पाँच अणुव्रत मुनि के महाव्रतो की अपेक्षा लघु अथवा सरल, स्थूल होते हैं। अहिंसा आदि महाव्रतो का पालन तीन योग (मन, वचन, काय) तथा तीन करण (कृत, कारित, अनुमोदन)

---

१. सम्यक्त्वमूलानि पचाणुव्रतानि गुणात्रयः।
शिक्षापदानि चत्वारि, व्रतानि गृहमेधिनाम्।—योगशास्त्र, २।१,
तथा विंशतिविंशिका, ९।३

२. ······पचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइय दुवालसविह सावय धम्म······।
—उपासकदशाग, १।५५

३ प्राभृतसंग्रह, पृ० ५९

४ तत्त्वार्थसूत्र, ७।१५-१६

५. (क) रत्नकरण्डश्रावकाचार, ६६, (ख) सागारधर्मामृत, २।२

६. हिंसाऽसत्यस्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च वादरभेदात्।
द्यूतान्मासान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्ट सन्त्यमीमूलगुणा॰॥
—चारित्रसार, पृ० १५

७ मधुनो मद्यतो मासाद् द्यूततो रात्रिभोजनात्।
वेश्यासगमनाच्चास्य विरतिर्नियमः स्मृतः॥ —पद्मपुराण, १४।२०२

८. हरिवशपुराण, १८।४८

पूर्वक होता है,[1] लेकिन अणुव्रतो का पालन साधारणतः तीन योग तथा दो करणपूर्वक होता है।[2]

अणुव्रत पाँच है--(१) स्थूल प्राणातिपात-विरमण, (२) स्थूल मृषावाद-विरमण, (३) स्थूल अदत्तादान-विरमण, (४) स्वदारसन्तोष तथा (५) इच्छा-परिमाण।[3]

१ **स्थूल प्राणातिपात विरमण**—इसे अहिंसाणुव्रत भी कहते हैं। अहिंसाणुव्रती श्रावक स्थूल हिंसा का त्यागी होता है। स्थूल हिंसा अर्थात् त्रस जीवो की हिंसा। दो, तीन, चार एव पाँच इन्द्रियो के जीव त्रसजीव कहलाते हैं। गृहस्थ होने के कारण श्रावक को अनेक प्रकार की प्रवृत्तियाँ करनी पड़ती हैं, अतः वह पूर्ण हिंसा का त्याग नहीं कर सकता; वरन् परिस्थिति-विशेष मे सूक्ष्म हिंसा किसी-न-किसी प्रकार उससे होती ही है। अतः इस व्रत के अनुसार श्रावक अपनी सुविधा, शक्ति एवं परिस्थिति के अनुसार स्थूल हिंसा का त्याग करता है।

श्रावक की अपेक्षा से हिंसा चार प्रकार की होती है--आरम्भी, उद्योगी, विरोधी और संकल्पी। अहिंसाणुव्रती श्रावक केवल संकल्पी हिंसा का ही त्यागी होता है। महाव्रती मुनि सब प्रकार की हिंसा का त्यागी होता हैं।

इस सन्दर्भ मे, उल्लेखनीय है कि हिंसा के प्रमुख दो भेद हैं--(१) भावहिंसा एवं (२) द्रव्यहिंसा।[4] मन, वचन एवं काय मे राग-द्वेष आदि कषाय की प्रवृत्ति भावहिंसा है तथा कषाय की तीव्रता, दीर्घश्वासोच्छ्वास एव हस्तपादादिक से किसी को कष्ट पहुँचाना अथवा प्राणघात करना द्रव्यहिंसा है। वास्तव मे भाव एवं द्रव्य हिंसा का सर्वथा त्याग

---

१. दशवैकालिक, ४।७

२. विरतिस्थूलहिंसादेर्द्विविधत्रिविधादिना।
अहिंसादीनि पंचाणुव्रतानि जगदुर्जिना। —योगशास्त्र, २।१८

३ स्थूलप्राणातिपातादिभ्यो विरतिरणुव्रतानि पंचेति। —धर्मबिन्दु, ३।१६

४. (क) प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपण हिंसा। —तत्त्वार्थसूत्र, ७।८

(ख) यत्खलुकषाययोगात्प्राणाना द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा।
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ४३

शास्त्र,[1] धर्मबिन्दु[2] आदि मे इन अतिचारों का उल्लेख इस प्रकार है—(१) सच्चा-झूठा समझाकर किसी को विपरीत मार्ग में डालना मिथ्योपदेश है, (२) रागवश विनोद के लिए किसी पति-पत्नी को अथवा अन्य स्नेहियो को अलग कर देना अथवा किसी के सामने दूसरे पर दोषारोपण करना रहस्याभ्याख्यान है, (३) मोहर, हस्ताक्षर आदि द्वारा झूठी लिखा-पढी करना तथा खोटा सिक्का आदि चलाना कूटलेखक्रिया है, (४) कोई धरोहर रखकर भूल जाय तो उसका लाभ उठाकर थोडी या पूरी धरोहर दबा जाना न्यासापहार है, (५) किन्ही की आपसी प्रीति तोडने के विचार से एक-दूसरे की चुगली खाना, या किसी की गुप्त बात प्रकट कर देना साकार मन्त्र-भेद है।[3]

३. स्थूलअदत्तादानविरमण

इसे अचौर्याणुव्रत भी कहते हैं। अचौर्याणुव्रती श्रावक व्यावहारिक एवं सामाजिक-दृष्टि से चोरी करने-कराने तथा चोरी का व्यापार करने का त्यागी होता है। अहिंसा एव सत्य व्रतो की प्रतिष्ठा एव सपोषण के लिए श्रावक स्थूलअदत्तादानविरमणव्रत का पालन करता है। बिना किसी की आज्ञा से किसी वस्तु को ले लेने पर मन मे अशांति उत्पन्न हो जाती है, दिन-रात, सोते-जागते चौर्य कर्म की चुभन होती रहती है।[4] श्रावक के लिए केवल दो करण तथा तीन योग से ही इस व्रत का पालन करना आवश्यक है।

अचौर्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं[5]—(१) प्रतिरूपकव्यवहार अर्थात्

---

१. योगशास्त्र, ३।९१

२. धर्मबिन्दु, ३।२४

३. मिथ्योपदेशरहस्याभ्याख्यान कूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदा:।
—तत्वार्थसूत्र, ७।२१

४. दिवसे वा रजन्या वा स्वप्ने वा जागरेऽपि वा।
सशल्य इव चौर्येण, नैति स्वास्थ्य नर. क्वचित्॥ —योगशास्त्र, २।७०

५ (क) स्तेनानुज्ञा तदानीतादानं द्विड्राज्यलङ्घनम्।
प्रतिरूपक्रिया मानान्यत्व चास्तेयसश्रिता॥ —योगशास्त्र, ३।९२
(ख) स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मान-प्रतिरूपकव्यवहारा.। —तत्त्वार्थसूत्र, ७।२२

अच्छी वस्तु मे खराब वस्तु को मिलाकर बेचना या असली के स्थान पर नकली वस्तु चलाना। (२) स्तेन प्रयोग अर्थात् किसी को चोरी करने के लिए प्रेरित करना अथवा चोरी करनेवालो की मदद करना। (३) स्तेन-आहृतदान अर्थात् चोरी करके लायी गयी वस्तु को लेना। (४) विरुद्धराज्यातिक्रम अर्थात् राज्य की ओर से निर्धारित नियमो का उल्लघन करना और (५) हीनाधिक मानोन्मान अर्थात् न्यूनाधिक नाप, बाट तथा तराजू आदि से लेन-देन करना।

व्रती-श्रावक को इन अतिचारो से बचना या सावधान रहना चाहिए। अचौर्याणुव्रती श्रावक वही है जो दूसरे की तृणमात्र वस्तु को चुराने के अभिप्राय से न अपने लिए ग्रहण करता है और न दूसरो को देता है।[1]

४. स्वदारसंतोष

इसे ब्रह्मचर्याणुव्रत भी कहते है। यह व्रत श्रावक के लिए नितान्त आवश्यक है और उसे अपनी पत्नी मे ही सतुष्ट रहना चाहिए।[2] वह अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य सभी स्त्रियो को माँ, बहन एव बेटी के रूप मे देखे।[3] इस व्रत का प्रतिपादन कई ग्रथो मे विभिन्न दृष्टियों से किया गया है, जिनमें रत्नकरण्डश्रावकाचार,[4] सर्वार्थसिद्धि,[5] पुरुषार्थ सिद्‍युपाय,[6] स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा[7] सागारधर्मामृत आदि उल्लेखनीय हैं।[8] ज्ञानार्णव मे तो स्त्री-समागम के दस दोषो[9] का उल्लेख है,

---

१. परस्वस्याप्रदत्तस्यादान स्तेयमुदाहृतम।
सर्वस्वाधीनतोयादेरन्यत्र तन्मतंसताम्। —प्रबोधसार, ६१
(ख) उपासकाध्ययन, २६।२६४

२. उपासकदशागसूत्र, १।१६

३. अमितगतिश्रावकाचार, ६।४६

४. रत्नकरण्डश्रावकाचार, ३।१३

५. सर्वार्थसिद्धि, ७।२०

६. पुरुषार्थसिद्‍युपाय, ११८

७ स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३३८

८. सागारधर्मामृत, १३।५२

९. ज्ञानार्णव, ११।७-९

ही अहिंसा है। क्योकि कषायो की वृद्धि से ही हिंसा का भाव उत्पन्न होता है और मद्य, मांस, मधु आदि चीजो के सेवन करनेवालों के मन में कषायो की वृद्धि अधिक होती है। इसलिए इन वस्तुओ का वर्जन अहिंसा-पालन के लिए आवश्यक है।

सावधानीपूर्वक व्रत का पालन करते हुए भी श्रावक को प्रमाद या अज्ञानवश दोष लगने की सम्भावना रहती है। ये दोष अतिचार कहलाते हैं। प्रथम अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार हैं—(१) बन्ध, (२) वध, (३) छेद अथवा छविच्छेद, (४) अतिभारारोपण, तथा (५) अन्नपाननिरोध।[1]

१. बन्ध—तीव्र क्रोध से प्रेरित होकर, किसी भी प्राणी को उसके इष्ट स्थान पर जाने से रोकना या बाँधकर रखना।

२ वध—किसी भी प्राणी पर लाठी, कोड़े आदि से या अस्त्र-शस्त्रादि से घातक प्रहार करना।

३. **छेद अथवा छविच्छेद**—क्रोध अथवा स्वार्थवश किसी भी प्राणी के नाक-कान, चमडी आदि अंगो का भेदन या छेदन करना।

४ अतिभारारोपण—मनुष्यो या पशुओ आदि पर शक्ति से अधिक भार लादना या अधिक कार्य लेना।

५. अन्नपाननिरोध—किसी भी प्राणी के खान-पान मे कटौती करना अथवा रुकावट डालना।

गृहस्थ को इन दोषो से यथासम्भव बचना चाहिए। किन्तु घर-गृहस्थी का कार्य आ पड़ने पर या विशेष प्रयोजनवश इन दोषो का सेवन करना ही पड़े तब भी कोमल भाव से ही काम लेना चाहिए।[2]

२. **स्थूल मृषावादविरमण**—इसे सत्याणुव्रत भी कहते हैं। सत्याणुव्रती श्रावक स्थूल असत्य का, झूठे व्यवहार का त्यागी होता है। इससे जहाँ समाज मे व्यक्ति की प्रामाणिकता की प्रतिष्ठा होती है, वहाँ अहिंसा का पोषण भी होता है, सत्य और अहिंसा दोनो अन्यो-

---

१ बन्धवधच्छविच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः।

—तत्त्वार्थसूत्र, ७।२०

२. पं० सुखलालजी, तत्त्वार्थसूत्र, पृष्ठ १८७

न्याश्रित हैं तथा एक-दूसरे के पूरक भी। श्रावक नवकोटि से सर्वथा मृषावाद का त्याग नहीं कर सकता, क्योंकि उसे जीवन-यापन के लिए व्यवहार-व्यापार करना पडता है।

असत् कथन को अनृत[1] अर्थात् हेय माना गया है। असत्य की विभिन्न ग्रन्थो मे कई कोटियाँ वर्णित हैं। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय[2] एवं अमितगति श्रावकाचार[3] मे असत्य के चार भेद किये गये हैं, जैसे (१) सद्आलापन, (२) असद्आलापन, (३) अर्थान्तर तथा (४) निंद्य। उपासकाध्ययन[4] के अनुसार असत्यासत्य (२) सत्यासत्य, (३) सत्यसत्य, एवं (४) असत्य-असत्य—इन चार प्रकारों का उल्लेख है। असत्य के पाँच भेद भी बताये गये है—कन्यालीक, गौअलीक अर्थात् गवालीक, भूम्यलीक, न्यासापहार एव कूटसाक्षी।[5] सागारधर्मामृत[6] मे भी यही बात है। कन्यादि के वैवाहिक सबंध की बातचीत मे झूठ बोलना कन्यालीक है। पशुओ की खरीद-बिक्री मे झूठ का व्यवहार गौअलीक अर्थात् गवालीक है। भूमि की खरीद-बिक्री मे मिथ्याभापण करना भूम्यलीक है। दूसरो की अमानत-धरोहर को हजम करना न्यासापहार है। और उसी प्रकार कचहरी के कामों मे झूठा व्यवहार करना कूटसाक्षी है।

स्थूलमृषावाद अथवा असत्य-व्यवहार के त्यागी श्रावक को सत्याणुव्रत के पालन मे सावधानी रखनी चाहिए। सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं, जो विभिन्न ग्रथो मे अनेक नामो से वर्णित हैं। उपासकादशाग[7] सागारधर्मामृत,[8] पुरुपार्थसिद्ध्युपाय,[9] अमितगतिश्रावकाचार,[10] योग-

१. असदभिधानमनृतम्।—तत्त्वार्थसूत्र, ७।१४
२ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ९१-९८
३. अमितगतिश्रावकाचार, ६।४९-५४
४ उपासकाध्ययन, ३८३
५. कन्यागोभूम्यलीकानि, न्यासापहरण तथा।
कूटसाक्ष्यच पचेति, स्थूलासत्यान्यकीर्त्तयन्।—योगशास्त्र, २।५४
६ सागारधर्मामृत, ४, ३९
७. उपासकदशाग, १।४६
८ सागारधर्मामृत, ४।४५
९ पुरुपार्थसिद्ध्युपाय, १८४
१० अमितगतिश्रावकाचार, ७।४

जिनको टालकर मन, वचन, एवं कायपूर्वक स्वदारसन्तोषव्रत का पालन करना चाहिए।

इस व्रत के पाँच अतिचार हैं[1]—(१) इत्वरपरिगृहीतागमन अर्थात् रुपये देकर किसी दूसरे के द्वारा स्वीकृत स्त्री या वेश्या के साथ अमुक समय तक गमन करना, (२) अपरिगृहीतागमन अर्थात् वेश्या, कुलटा, वियोगिनी आदि का उपभोग करना, (३) अनगक्रीडा अर्थात् सृष्टि विरुद्ध या अस्वाभाविक कामसेवन, (४) परविवाहकरण अर्थात् कन्यादान के फल की भावना से दूसरो की संतति का व्याह करवाना, एवं (५) तीव्र कामभोगाभिलाषा अर्थात् बारबार विविध प्रकार से कामक्रीड़ा करना।

इन अतिचारो के प्रति श्रावक के साथ-साथ श्राविका को भी सावधानी रखनी चाहिए। श्राविका को भी चाहिए कि स्वपति सतोष रूप, स्थूलमैथुनविरमणव्रत का पालन करे और किसी भी दूसरे पुरुष के साथ वैषयिक सम्बन्ध न रखे।

५. इच्छा-परिमाण व्रत

इसे अपरिग्रहाणुव्रत या परिग्रह-परिमाणव्रत भी कहते हैं। इच्छाएँ अनन्त हैं और मनुष्य इच्छाओ के अनुरूप अपनी आवश्यकताओ को बढाते-बढाते उनके पीछे ही दु ख, दारिद्र्य आदि सकटो मे फँस जाता है। यह व्रत इस तथ्य का द्योतक है कि श्रावक देश, काल, परिस्थिति एवं सामर्थ्य के अनुसार अपनी आवश्यकताओ को परिमित करे और किसी वस्तु के प्रति मूर्च्छा अथवा ममत्व न रखे। क्योकि मूर्च्छा ही परिग्रह है[2], और धन-धान्यादि के संग्रह से ममत्व घटाना अथवा लोभ कषाय को कम करके सतोषपूर्वक वस्तुओ का आवश्यकता भर उपयोग करना परिग्रहपरिमाणव्रत है।[3] इस प्रकार श्रावक को अपनी इच्छाओ की मर्यादा अवश्य बाँध लेनी चाहिए। आवश्यकतानुसार वस्तुओ को

---

१. (क) इत्वरात्तागमोऽनातागतिरन्य —विवाहनम्।
मदनात्याग्रहोऽनगक्रीडा च ब्रह्मणि स्मृता.॥ —योगशास्त्र, ३।९३

(ख) परविवाहकरणेत्वरपरिगृहीताऽपरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडातीव्र कामाभिनिवेशा.। —तत्त्वार्थसूत्र, ७।२३

२ मूर्च्छा परिग्रह। —तत्त्वार्थसूत्र, ७।१२

३. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३३९-३४०

परिमित करने का सकल्प व्यावहारिक होना चाहिए, कथन मात्र का नही, क्योकि केवल कथन से वस्तुत्याग का संकल्प कर लेना निरर्थक है।[१] परिग्रह ही ससार में जन्म-मरण का मूल है।[२]

परिग्रह के अनेक भेद-प्रभेद वर्णित है। पुरुषार्थसिद्धयुपाय[३] में अन्तरग एव बहिरग दो प्रकार के परिग्रह की चर्चा है, जिसमे अन्तरग परिग्रह के चौदह तथा बहिरग के दो भेद बतलाए गये हैं, जबकि उपासकाध्ययन[४] मे बाह्य परिग्रह दस प्रकार का कहा गया है। इसी तरह सिद्धसेनगणी[५] ने भी आभ्यंतर परिग्रह के चौदह भेद ही गिनाये हैं। बाह्य परिग्रह के नव[६] एव दस[७] भेद भी मिलते है। इन परिग्रहो के परिमाण के निर्णय के सबंध मे स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा[८] तथा लाटीसहिता[९] आदि ग्रथो में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

इस व्रत के अतिचारो के सबध मे अनेक मत हैं, जिनकी चर्चा यहाँ आवश्यक नही है। इस व्रत के भी पाँच अतिचार इस प्रकार के है[१०]–(१) क्षेत्र वास्तु परिमाण-अतिक्रमण अर्थात् जमीन, आदि वस्तुओ की मर्यादा का उल्लघन, (२) हिरण्यसुवर्ण-प्रमाणातिक्रम अर्थात् सोने एव चाँदी

---

१. तस्मादात्मोचिताद् द्रव्याद् ह्रासनं तद्वर स्मृतम्।
अनात्मोचितसकल्पाद् ह्रासन तन्निरर्थकम्॥ —लाटीसहिता, ८६

२. ससारमूलमारम्भास्तेषा हेतु: परिग्रह.।
तस्मादुपासक कुर्यादल्पमल्प परिग्रहम्॥ —योगशास्त्र, २।११०

३. पुरुषार्थसिध्युपाय, ११५–११७

४ उपासकाध्ययन, ४३३

५ तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम्, भा० २, ७।२४

६ नवपदप्रकरण, ५८

७ चारित्रसार, पृ० ७

८. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३३९–४०

९ लाटीसहिता, ८६–८७

१० धनधान्यस्य कुप्यस्य, गवादेः क्षेत्रवास्तुन।
हिरण्यहेम्नश्च सख्याऽतिक्रमात्र परिग्रहे। —योगशास्त्र, ३।९४
(ख) क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमा।
—तत्त्वार्थसूत्र, ७।२४

आदि की मर्यादा का उल्लंघन, (३) धनधान्य-प्रमाणातिक्रम अर्थात् चतुष्पद आदि जानवरो एव अनाज की मर्यादा का अतिक्रमण, (४) दासीदास प्रमाणातिक्रम—नौकर चाकरो आदि कर्मचारियो की सख्या मर्यादा का अतिक्रमण, (५) कुप्यप्रमाणातिक्रम अर्थात् वर्तनो एव वस्त्रो के प्रमाण का अतिक्रमण।

रात्रिभोजनविरमण व्रत

जैनधर्म मूलत. अहिंसाप्रधान है, इसलिए श्रमण के लिए रात्रि-भोजन के त्याग का विधान है। यहाँ तक कि इसे छठा व्रत कहा गया है। रात्रिभोजन मे बहुत से जीवो की हिंसा होती है।[१] स्वामिकार्तिकेया-नुप्रेक्षा[२] एव रत्नकरण्डश्रावकाचार[३] के अनुसार रात्रिभुक्तिविरत श्रमण वे ही हो सकते है जिन्होने रात्रि में चारों प्रकारो के भोजन का त्याग कर दिया है। योगशास्त्र[४] के अनुसार भी रात्रि मे किसी प्रकार का भोजन करना विहित नही है। सावयवधम्म दोहा[५] के अनुसार श्रावकों को रात्रि मे केवल औषध, पानी एव पान खाने की छूट है। भोजन तो रात मे निषिद्ध ही है। उल्लेखनीय है कि चारित्रसार[६], उपासकाध्ययन[७], वसुनन्दि श्रावकाचार,[८] अमितगति श्रावकाचार[९], सागारधर्मामृत[१०] के अनुसार रात्रि मे स्त्री-भोग करने एव दिन मे ब्रह्मचर्य का

---

१. घोरांधकाररुद्धाक्षैः पतन्तो यत्र जन्तव ।
नैव भोज्ये निरीक्ष्यन्ते, तत्र भुजीत को निशि । —योगशास्त्र, ३।४९;
—दशवैकालिक, ४।१३; १५।१

२. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३८२

३. रत्नकरण्डश्रावकाचार, ५।२१

४. योगशास्त्र, ३।४८–७०

५. सावयवधम्मदोहा, ३७

६ चारित्रसार, पृ० १९

७ उपासकाध्ययन, ८५३

८. वसुनन्दि श्रावकाचार, २९६

९. अमितगति श्रावकाचार, ७।७२

१०. सागारधर्मामृत, ७।१२

पालन करने को ही रात्रिभुक्तिविरत अथवा दिवामिथुनविरत कहा गया है।

यह स्वतंत्र व्रत नहीं है, बल्कि अहिंसाव्रत मे ही निहित है, क्योकि इस व्रत का मूल उद्देश्य मूल व्रतों को विशुद्ध रखना ही है।

गुणव्रत

अणुव्रत के साथ-साथ श्रावकों के लिए गुणव्रतो का भी विधान है। गुणव्रत अणुव्रतों की रक्षा एवं विकास के लिए ही है। इन व्रतो के साथ शिक्षा-व्रतो को जोड़कर सामूहिक नाम 'शीलव्रत' रखा गया है और कहा गया है कि जैसे नगर के चारो ओर बने प्राकार से नगर की रक्षा होती है वैसे ही शीलो से व्रतो की रक्षा होती है।[1] अतः व्रतो का पालन करने के लिए शीलो का पालन करना आवश्यक है। ज्ञातव्य है कि गुणव्रत अणुव्रत की तरह एक ही वार ग्रहण किये जाते हैं, जबकि शिक्षाव्रत वार-वार ग्रहण किये जाते हैं। अर्थात् अणुव्रत एवं गुणव्रत जीवनभर के लिए होते हैं और शिक्षाव्रत अमुक समय के लिए ही होते हैं।[2]

गुणव्रत के भेदो के सम्बन्ध मे विभिन्न मत हैं। जहाँ इसके कुछ भेद शिक्षाव्रत मे गिनाये जाते हैं, वहाँ शिक्षाव्रत के भी भेद गुणव्रत में संवलित कर लिये जाते हैं। यहाँ तक कि गुणव्रतो एव शिक्षाव्रतो को सामूहिक नाम 'शीलव्रत' देकर दोनो के भेदो को एक साथ समाहित कर दिया गया है। इस विचारधारा का प्रतिपादन उपासकदशांग[3], तत्त्वार्थसूत्र[4], पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, उपासकाध्ययन[5], चारित्रसार[6], अमितगति श्रावका-

१. परिधय इव नगराणि व्रतानि परिपालयन्ति शीलानि।
व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, १३६

२. जैन आचार, पृ० ११३

३ उपासकदशाग, १।११

४. तत्त्वार्थसूत्र, ७।१६

५. उपासकाध्ययन, ४४८–४५९

६. चारित्रसार, पृ० ८

चार[1], पद्मनन्दिपंचविंशति[2] आदि ग्रन्थो में हुआ है। अर्थात् प्राभृत-सग्रह[3] स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा[4], सागारधर्मामृत[5], धर्मविन्दु[6], योग-शास्त्र[7], पद्मचरित[8], रत्नकरण्डश्रावकाचार[9] आदि ग्रंथों में नाम एव क्रम मे अन्तर रहते हुए भी गुणव्रत का निर्देश इस प्रकार हुआ है—

(१) दिग्व्रत, (२) अनर्थ-दण्डव्रत एव (३) भोगोपभोगपरिमाणव्रत। सर्वार्थसिद्धि[10], हरिवंशपुराण[11], वसुनन्दिश्रावकाचार[12], आदिपुराण[13] आदि ग्रथो मे नाम एव क्रम मे अन्तर रहते हुए भी गुणव्रत का वर्गीकरण इस प्रकार हुआ है—(१) दिग्व्रत, (२) देशव्रत एवं (३) अनर्थ-दण्डव्रत।

इस तरह पता चलता है कि इन दोनो विचारधाराओ ने दिग्व्रत एव अनर्थदण्डव्रत को गुणव्रत मे स्वीकार किया है, लेकिन जहाँ कुन्दकुन्द, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, सागारधर्मामृत आदि ने गुणव्रत मे भोगोपभोग-परिमाणव्रत को लिया है, वहाँ सर्वार्थसिद्धि, वसुनन्दिश्रावकाचार, आदिपुराण आदि ग्रन्थों ने उसका उल्लेख शिक्षाव्रत के अन्तर्गत किया है और उसके बदले देशव्रत का उल्लेख किया है। उसी प्रकार देशव्रत के बदले देशावकाशिक की सज्ञा देकर रत्नकरण्डश्रावकाचार, स्वामिकार्ति-केयानुप्रेक्षा आदि ने इसे शिक्षाव्रत के अन्तर्गत रखा है।

---

१. अमितगति श्रावकाचार, ६।७६–९५
२ पद्मनन्दिपचविंशति, ६।२४
३. प्राभृतसग्रह, पृ० ६०
४. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३६१–३८६
५ सागारधर्मामृत, ५।१
६ धर्मविन्दु, ३।१७
७ योगशास्त्र, ३।१।४।७३
८ पद्मचरित, १४।१९८
९ रत्नकरण्डश्रावकाचार, ३।२१
१०. सर्वार्थसिद्धि, ७।२१
११. हरिवंशपुराण, १८।४६
१२. वसुनन्दिश्रावकाचार, २१४–१६
१३ आदिपुराण, १०।६५

१. दिग्व्रत

जिस व्रत द्वारा दिशाओं की मर्यादा स्थिर की जाती है उसे दिग्व्रत कहते हैं।[1] इस व्रत द्वारा श्रावक दशो दिशाओ की सीमा बाँधकर संकल्प लेता है कि वह मरणपर्यन्त अमुक दिशा की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करेगा।[2] ऐसा करने से लोभ, तृष्णादि का नियन्त्रण होता है ओर परिणामस्वरूप संग्रह की भावना पर अंकुश लगता है तथा चराचर प्राणियों की व्यर्थ हिंसा से भी बचाव होता है।[3] इस व्रत के पांच अतिचार हैं, जिनका सम्यक्रूपेण पालन करना श्रावकों के लिए अनिवार्य है। वे अतिचार इस प्रकार हैं[4]—(१) उर्ध्व दिशा की मर्यादा का उल्लघन, (२) अधो दिशा की मर्यादा का उल्लघन, (३) तिरछी दिशाओ की मर्यादाओं का उल्लंघन, (४) दिशाविदिशाओ की मर्यादाओ का उल्लंघन एवं (५) क्षेत्र-वृद्धि अर्थात् क्षेत्र की मर्यादा का उलंघन करना।

२. अनर्थदण्डव्रत

निष्प्रयोजन मन वचन काय की अशुभ या पापप्रवृत्ति का नाम अनर्थ दण्ड है। दिग्व्रत मे तो मर्यादा से बाहर पापोपदेश आदि का त्याग होता है, किन्तु अनर्थदण्डव्रत में मर्यादा के भीतर ही उनका त्याग किया जाता है। यह त्यागरूप व्रत ही अनर्थदण्डव्रत है।[5] इस व्रत के मुख्य

---

१. दशस्वपि कृता दिक्षु यत्र सीमा न लङ्घ्यते।
स्यातं दिग्विरतिरिति प्रथम तद्गुणव्रतम्॥—योगशास्त्र, ३।१

२. दिग्वलय परिगणितं कृत्वातोऽहं बहिर्न यास्यामि।
इति संकल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपापविनिवृत्त्यै॥
—रत्नकरण्डश्रावकाचार, ४।६८

३. चराचराणां जीवाना विमर्दन निवर्त्तनात्।—योगशास्त्र, ३।२

४. स्मृत्यन्तर्धानमूर्ध्वाधस्तिर्यग्भागव्यतिक्रमः।
क्षेत्रवृद्धिश्च पचेति स्मृता दिग्विरतिव्रते॥—वही, ३।९७

५. पीडापापोदेशाद्यैर्देहाद्यर्थाद्विनाङ्गिनाम्।
अनर्थदण्डस्तत्त्यागोऽनर्थदण्डव्रतं मतम्॥—सागारधर्मामृत, ५।६

पांच भेद हैं[1]--(१) पापोपदेश अर्थात् हिंसा, खेती और व्यापार आदि को विषय करनेवाला प्रसग वारवार उठाना। ऐसे वचन को व्याध, ठग और चोर आदि से नही कहने का उपदेश दिया गया है। (२) हिंसादान अर्थात् विष और हथियार आदि हिंसा के कारणभूत उपकरण या पदार्थ दूसरों को देना। (३) अपध्यान अर्थात् दूसरो के नुकसान, पराजय, मृत्यु आदि का चिन्तन करना। (४) दुःश्रुति अर्थात् आरम्भ, परिग्रह, विषयभोग आदि से चित्त को मलिन करनेवाले शास्त्रो का श्रवण करना और (५) प्रमादचर्या अर्थात् निष्प्रयोजन पृथ्वी के खोदने, वायु को रोकने, अग्नि को बुझाने, जल को उछालने-गिराने तथा वनस्पति को छेदने का कार्य करना। योगशास्त्र मे दु श्रुति का उल्लेख नही है।[2]

उक्त कार्यो को किसी भी रूप मे न करना श्रावक के लिए व्रत रूप है। अहिंसादि व्रतो के सम्यक् निर्वाह के लिए और आत्मविशुद्धि के लिए अनर्थदण्ड से बचना चाहिए।

इस व्रत के पांच अतिचार कहे गये हैं[3]—(१) सयुक्ताधिकरणता अर्थात् हल, मूसल आदि हिंसाजनक उपकरणो को जोडकर रखना जैसे उखल के साथ मूसल, हल के साथ फाल आदि। (२) उपभोगातिरिक्तता अर्थात् आवश्यकता से अधिक भोग, उपभोग की वस्तुएँ रखना, (३) मौखर्य अर्थात् बिना विचारे बकवाद करना, (४) कौत्कुच्य अर्थात् शारीरिक कुचेष्टाएँ करना, तथा (५) कन्दर्प अर्थात् कामोत्पादक वचन बोलना।

इस सदर्भ मे ध्यातव्य है कि उक्त अतिचारो के नामों में भिन्नता भी देखी जाती है, लेकिन अर्थ मे नही।

३. भोगोपभोगपरिमाण

जो पदार्थ एक बार भोगने के बाद पुनः भोगने योग्य नही रहता, उसे

---

१. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३४४-३४८

२. शरीराद्यर्थदण्डस्य, प्रतिपक्षतया स्थित. ।
योऽनर्थदण्डस्तत्त्यागस्तृतीय तु गुणव्रतम् ॥—योगशास्त्र, ३।७४

३. सयुक्ताधिकरणत्वमुपभोगातिरिक्तता ।
मौखर्य्यमथ कौत्कुच्य कन्दर्पोऽनर्थदण्डगा ॥—वही, ३।११५

भोग कहते हैं, जैसे भोजन, गध, माला आदि, और जो पदार्थ बार-बार भोगा जा सकता है, उसे उपभोग कहते हैं[1], जैसे वस्त्र, आभूषण आदि। दोनो ही प्रकार की वस्तुओ की मर्यादा निश्चित करना भोगोपभोगपरिमाण व्रत है। इस व्रत के द्वारा श्रावक भोग-उपभोग की वस्तुओ की नियत काल तक मर्यादा बाँधता है अर्थात् उन वस्तुओ का निषेध अथवा इच्छा करता है। इस व्रत का पालक श्रावक मधु, मांस आदि पदार्थों के एव साधारण वनस्पतियो के भक्षण का भी त्याग करता है, जिनमें अनेक जीवो की हिंसा होने की सम्भावना रहती है।[2]

इस व्रत के पाँच अतिचार है[3]—(१) सचित्त भोजन अर्थात् चेतना वाली हरितकाय वनस्पति का सेवन, (२) सचित्त वृक्षादि से सम्बद्ध गोद या पके फल का जैसे खजूर, आम आदि का सेवन, (३) सचित्त संमिश्र अर्थात् ऐसे पदार्थ जिनमें सूक्ष्म जन्तु होते हैं उनका सेवन, (४) दुष्पक्व अर्थात् अनेक द्रव्यों के संयोग से निर्मित सुरा, मदिरा आदि का सेवन अथवा दुष्टरूप से पके, कम पके पदार्थ का सेवन, (५) अभिषव भोजन अर्थात् पतले अथवा गरिष्ठ पदार्थों का सेवन।

रत्नकरण्डश्रावकाचार मे भिन्न प्रकार के अतिचार वर्णित हैं।[4]

शिक्षाव्रत

शिक्षाव्रत भी गुणव्रत की ही तरह अणुव्रतो की सुरक्षा और विकास मे सहायक हैं। शिक्षाव्रतो को ग्रहण करने मे श्रावक को बार-बार अभ्यास करना होता है।

---

१. सकृदेव भुज्यते यः स भोगोऽन्नस्रगादिक ।
पुन पुनः पुनर्भोग्य उपभोगोऽङ्गनादिक. ॥—वही, ३।५

२. जत्थेक्क मरइजीवो, तत्थ दु मरण हवे अणताणं ।
वक्कमइ जत्थ एक्को, वक्कमणं तत्थ-णताणं ॥
—गोम्मटसार (जीवकाण्ड), १९३

३. (क) सचित्त तेन सम्बद्ध, समिश्र तेन भोजनम् ।
दुष्पक्वमभिषवं, भु जानोऽत्येति तद्व्रतम् ॥—सागारधर्मामृत, ५।२०
(ख) योगशास्त्र, ३।९७

४. रत्नकरण्डश्रावकाचार, ४।९०

शिक्षाव्रत के भेदो मे मतभेद है। चारित्रपाहुड[1], पद्मचरित[2], भावसग्रह[3], हरिवंशपुराण[4], आदिपुराण[5] आदि के अनुसार इस व्रत के क्रमशः सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिसविभाग और संलेखना चार प्रकार हैं और रत्नकरण्डश्रावकाचार[6], स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा[7], सागारधर्मामृत[8] आदि के अनुसार देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास एव अतिथिसविभाग ये चार प्रकार हैं। वसुनन्दिश्रावकाचार[9] के अनुसार इस व्रत के चार भेद क्रमश· भोगविरति, परिभोग-विरति, अतिथिसंविभाग तथा संलेखना का उल्लेख है। शीलव्रत के निरूपण के क्रम में तत्त्वार्थसूत्र, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, उपासकाध्ययन, उपासकदशांग, चारित्र-सार, योगशास्त्र आदि के अनुसार इस व्रत के चार भेद इस प्रकार हैं--(१) सामायिक, (२) प्रोषधोपवास, (३) देशावकाशिक तथा (४) अतिथिसविभाग।

१. सामायिक—इंद्रियों को स्थिर करके रागद्वेषरूपी परिणामो को छोडकर, समताभाव धारण करके आत्मलीन हो जाना सामायिक शिक्षाव्रत है।[10] इस व्रत के पाँच अतिचार हैं[11]—(१) मन की सदोष प्रवृत्ति, (२) वचन की सदोष प्रवृत्ति, (३) काय की सदोष प्रवृत्ति, (४)

---

१. चारित्रपाहुड, २५
२ पद्मचरित, १४।१९९
३. प्राभृतसग्रह, पृ ६०
४ हरिवंशपुराण, १८।४७
५ आदिपुराण, १०।६६
६. रत्नकरण्डश्रावकाचार, ४।१
७. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३५२, ३५५, ३५८, ३६७
८ सागारधर्मामृत, ५।२४
९ वसुनन्दिश्रावकाचार, २१३
१०. रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य।
तत्त्वोपलब्धिमूल बहुश. सामायिक कार्यम्॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, १४८
११. कायवाङ्मनसा दुष्ट-प्रणिधानमनादर.।
स्मृत्यनुपस्थापनच स्मृताः सामायिक व्रते॥ —योगशास्त्र, ३।११६

सामायिक के प्रति अनादर भाव एवं (५) सामायिक ग्रहण करने के समय का ज्ञान नही होना।

२. प्रोषधोपवास--कषायो को त्यागकर प्रत्येक चतुर्दशी एवं अष्टमी के दिन उपवास करके तप ब्रह्मचर्यादि धारण करना प्रोषधोपवास है।[1] इस व्रत के पाँच अतिचार हैं[2]—(१) विना देखे भूमि पर मल-मूत्रादि करना, (२) पाट, चौकी आदि को विना देखे उठाना-रखना, (३) विना देखे विस्तर, आसन लगाना, (४) प्रोषधव्रत के प्रति आदर न होना और (५) प्रोपध करके भूल जाना।

३ देशावकाशिक—गमनागमन की मर्यादित निश्चित दिशा को दिन एव रात्रि मे यथोचित और सक्षिप्त करना देशावकाशिकव्रत है।[3] इस व्रत के भी पाँच अतिचार हैं[4]—(१) मर्यादित क्षेत्र के बाहर किसी व्यक्ति को काम से भेजना, (२) क्षेत्र के बाहर की वस्तुओ को मँगवा लेना, (३) क्षेत्र के बाहर ध्यान आकर्षित करने के लिए पत्थर फेंकना, (४) क्षेत्र के बाहर के व्यक्ति को आवाज देकर बुलाना और (५) किसी व्यक्ति को आ जाने के लिए बाहरी क्षेत्र में स्थित आदमी को अपना चेहरा दिखाना।

४ अतिथिसंविभाग—त्यागियो, मुनियो आदि को खानपान, रहन-सहन आदि वस्तुएँ देकर स्वयं खानपान करना अतिथिसविभागव्रत है।[5] इस व्रत के भी पाँच अतिचार हैं[6]-(१) सचित्त पदार्थों से आहार ढँकना,

---

१ चतुष्पर्व्यां चतुर्थादि, कुव्यापारनिषेधनम्।
ब्रह्मचर्य-क्रिया-स्नानादित्याग. पोषधव्रतम ॥ —वही, ३।८५

२. वही, ३।११७

३ दिग्व्रते परिमाणं यत्तस्य सक्षेपण पुन.।
दिनेरात्रौ च देशावकाशिक-व्रतमुच्यते ॥ —वही, ३।८४

४ प्रेष्यप्रयोगानयने पुद्गलक्षेपणं तथा।
शब्दरूपाऽनुपातौ च व्रते देशावकाशिके ॥ —वही, ३।११७

५. दानं चतुर्विधाहारपात्राच्छादनसद्मानाम्।
अतिथिभ्योऽतिथिसविभागव्रतमुदीरितम् ॥ —वही, ३।८७

६. सच्चित्ते क्षेपणं तेन, पिधान काललघनम्।
मत्सरोऽन्यापदेशश्च, तुर्यशिक्षाव्रते स्मृता. ॥ —वही, ३।११८

(२) देय वस्तु को सचित्त पदार्थो के ऊपर रख देना, (३) भिक्षा का समय बीत जाने पर भोजन बनाना, (४) ईर्ष्या से प्रेरित होकर दान देना और (५) परायी वस्तु कहकर दान देना।

प्रतिमाएँ

प्रतिमा का अर्थ है प्रतिज्ञाविशेष, व्रतविशेष, तपविशेष अथवा अभिग्रहविशेष।[1] श्रावक जब श्रमण के सदृश ही जीवन व्यतीत करना चाहता है, तब इन प्रतिमाओ का आश्रय लेता है, क्योंकि गुण-स्थानो की तरह इन प्रतिमाओ के द्वारा क्रमिक आत्मविकास होता है। इस दृष्टि से प्रतिमाएँ आत्मविकास की क्रमिक सोपान हैं, जिसके डण्डों पर चढ़ते हुए श्रावक अपनी शक्ति के अनुसार मुनि की दीक्षा ग्रहण करने की भूमिका पर पहुँचता है।

प्रतिमाओ की संख्या, क्रम एवं नामो के सम्बन्ध मे दिगम्बर एव श्वेताम्बर परम्परा में किंचित् अन्तर दिखाई पड़ता है, लेकिन यह अन्तर नगण्य है। श्वेताम्बर परम्परा के दशाश्रुतस्कन्ध[2] एवं समवायाग[3] आगमों मे क्रमश: दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोपधोपवास, नियम, ब्रह्मचर्य, सचित्तत्याग, आरम्भत्याग, प्रेष्यपरित्याग, उद्दिष्टत्याग एवं श्रमणभूत इन ग्यारह प्रतिमाओ का वर्णन है। आचार्य हरिभद्र ने 'नियम' के स्थान पर 'पडिमा' का उल्लेख किया है।[4] दिगम्बर परम्परा के वसुनन्दिश्रावकाचार[5], सागारधर्मामृत[6] आदि ग्रन्थों मे दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रिभुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग एवं उद्दिष्टत्याग इन ग्यारह प्रतिमाओं का

---

१. जैन आचार, पृ० १२५

२. दशाश्रुतस्कन्ध, ६-७

३ समवायाग, ११

४. दसणवय सामाइय पोसह पडिमा अवभ सच्चित्ते।
आरंभ पेस उदिट्ठवज्जए समणभूए य ।। —विंशतिविंशिका, १०।१

५. वसुनन्दिश्रावकाचार, २०१-३०१

६. सागारधर्मामृत, ३।२-३

क्रम वर्णित है और स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा[1] में सम्यग्दृष्टि नामक एक और प्रतिमा जोड़कर बारह प्रतिमाओं का उल्लेख है।

दोनों परम्पराओं के अनुसार प्रथम चार प्रतिमाओ मे कोई अन्तर नहीं है। सचित्तत्याग का क्रम दिगम्बर-परम्परा मे पाँचवाँ है जब कि श्वेताम्बर-परम्परा मे सातवाँ है। दिगम्बराभिमत 'रात्रिभुक्तित्याग' श्वेताम्बराभिमत पाँचवी प्रतिमा 'नियम' मे समाविष्ट है। ब्रह्मचर्य प्रतिमा श्वेताम्बर-परम्परा मे छठी है जब कि दिगम्बर-परम्परा मे सातवी है। दिगम्बरसम्मत 'अनुमतित्याग' श्वेताम्बरसम्मत 'उद्दिष्टत्याग' मे ही समाविष्ट हो जाती है, क्योकि इस प्रतिमा मे श्रावक उद्दिष्टभक्त ग्रहण न करने के साथ ही किसी प्रकार के आरम्भ का समर्थन भी नही करता और श्वेताम्बराभिमत श्रमणभूतप्रतिमा ही दिगम्बराभिमत उद्दिष्टत्यागप्रतिमा है।[2]

इन ग्यारह प्रतिमाओ का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

१. दर्शनप्रतिमा—दर्शन अर्थात् सम्यक्दृष्टि। इस प्रतिमा के धारक श्रावक को सर्वगुण विषयक प्रीति उत्पन्न होती है, दृष्टि की विशुद्धता प्राप्त होती है और वह पंचगुरुओं के चरणों मे जाकर दृष्टि-दोषो का परिहार करता है।[3] वसुनन्दिश्रावकाचार के अनुसार वह पाँच उदुम्बर फलादि और सात व्यसनो का त्याग करता है।[4]

---

१. सम्मदंसण-सुद्धो रहिओ मज्जाइ-थूल-दोसेहिं।
वयधारी सामाइउ पव्ववइ पासुयाहारी ॥३०५॥
राइ-भोयण-विरओ मेहुण-सारम-सग चत्तो य।
कज्जाणुमोय-विरओ उद्दिट्ठाहार-विरदो य ॥३०६॥
—स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा

२. जैन आचार, पृ० १३०-३१

३ श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु।
स्वगुणा पूर्वगुणै. सह सन्तिष्ठन्ते क्रमविवृद्धा॰ ॥
—रत्नकरण्डश्रावकाचार, ७।१३६

४ पंचुंबर सहियाइं परिहरेइ जो सत्त विसणाइं।
सम्मत्तविसुद्धमई सो दंसणसावयो भणिओ ॥
—वसुनन्दिश्रावकाचार, २०५

२ **व्रतप्रतिमा**—इस द्वितीय प्रतिमा का धारक श्रावक अणुव्रतो, गुणव्रतो एव शिक्षाव्रतो को सम्यक्रूप मे धारण करता है और उनका विधिवत् पालन करता है।[१]

३ **सामायिकप्रतिमा**—इस तृतीय प्रतिमा में श्रावक मन, वचन एवं काय से तीनों संध्याओ मे सामायिक करता है।[२] इस प्रतिमा मे सामायिक, देशावकाशिक व्रतो की आराधना होती है, लेकिन अष्टमी-चतुर्दशी आदि पर्व-दिनों मे प्रोषधोपवास का पालन नही होता।[३]

४. **प्रोषधोपवासप्रतिमा**—इस चतुर्थ प्रतिमा मे श्रावक महीने के चारो पर्वों पर अर्थात् प्रत्येक चतुर्दशी व अष्टमी पर शक्ति के अनुसार शुद्ध भावना से प्रोषधनियमो का पालन करता है।[४]

५. **सचित्तत्यागप्रतिमा**—पचम प्रतिमाधारी श्रावक सचित्त अर्थात् हरित वनस्पति का सेवन नही करता, परन्तु आरंभी हिंसा का त्याग नही कर पाता है।[५] कार्तिकेयानुप्रेक्षा के अनुसार श्रावक जिस वस्तु को ग्रहण नही करे वह दूसरो को भी ग्रहण करने के लिए न दे, क्योकि दोनो क्रियाओ मे कोई अन्तर नही है।[६]

६. **रात्रिभुक्तत्यागप्रतिमा**—छठी प्रतिमाधारी श्रावक रात्रि मे

---

१. पचैवणुव्वयाइ गुणव्वयाइं हवन्ति पुणतिण्णि।
सिक्खावयाणि चत्तारि जाण विदियाम्मि ठाणामि॥ —वही, २०७

२. चतुरावर्त्त-त्रितयश्चतु. प्रणाम. स्थितो यथाजात.।
सामायिको द्विनिषद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसध्यमभिवन्दी॥
—रत्नकरण्डश्रावकाचार, ७।१३९

३ दशाश्रुतस्कन्ध, ६।३

४ पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य।
प्रोषध-नियम-विधायी प्रणधिपर प्रोषधानशनः॥
—रत्नकरण्डश्रावकाचार, ७।१४०

५. जाव राओ वराय वा बंभयारी सचित्ताहारे से परिणाए भवति।
आरभे से अपरिणाए भवति।—दशाश्रुतस्कन्ध, ६।७

६. स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा, ३८०

चारों प्रकार के आहार का त्याग करता है।[1] इस प्रतिमा का धारक मन, वचन, काय एवं कृत-कारित-अनुमोदना से दिवामैथुन का त्याग करता है।[2] श्वेताम्बर परम्परानुसार इस प्रतिमा को नियमप्रतिमा कहा गया है और रात्रि-भोजन त्याग, दिवामैथुन आदि क्रिया को वर्जित माना गया है।[3]

७ **ब्रह्मचर्यप्रतिमा**—इस सप्तम प्रतिमा मे पूर्वोक्त छह प्रतिमाओ का निरतिचार पालन करते हुए मन को वश मे करनेवाला श्रावक मन वचन काय से मानवी, दैवी, तिर्यंची और उनकी प्रतिरूप समस्त स्त्रियो के सेवन की अभिलाषा नही करता।[4]

८. **आरम्भत्यागप्रतिमा**—इस प्रतिमा का धारक श्रावक आरम्भ-सभारभ का त्याग कर देता है। वह मन, वचन, एव काय से कृषि, सेवा, व्यापार विषयक आरम्भ न तो स्वयं करता है न दूसरो को करने के लिए कहता है।[5]

९ **परिग्रहत्यागप्रतिमा**—नवम प्रतिमाधारी श्रावक पूर्ण परिग्रह का त्यागी होता है। वह शरीर ढँकने के लिए एक-दो वस्त्र रखकर शेप सभी प्रकार के परिग्रहों का त्याग कर देता है तथा मूर्च्छारहित होकर रहता है।[6]

---

१. अन्न पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम्।
स च रात्रिभुक्तिविरत सत्त्वेष्वनुकम्पमानमना:॥
—रत्नकरण्डश्रावकाचार, ७।१४२

२ मणवयणकाय कयकारियाणुमोएहिं मेहुण णवधा।
दिवसम्मि जो विवज्जइ गुणम्मि सो सावओ छट्ठो॥
—वसुनन्दिश्रावकाचार, २९६

३ दशाश्रुतस्कन्ध, ५।६

४ तत्तादृक्संयमाभ्यासवशीकृतमनास्त्रिधा।
यो जात्वशेषा नो योषा, भजति ब्रह्मचार्यसौ॥—सागारधर्मामृत, ७।१६

५ निरूढसप्तनिष्ठोऽङ्गिघातागत्वात् करोति न।
न कारयति कृष्यादीनारम्भविरतस्त्रिधा॥ —वही, ७।२१;
तथा स्वामीकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा, ३८५, समीचीन धर्मशास्त्र, ७।१४४

६ मोत्तूणवत्थमेत्तं परिग्गह जो विवज्जए सेसं।
तत्थ वि मुच्छण्ण करेइ जाण सो सावओ णवमो॥
—वसुनन्दिश्रावकाचार, २९९

१०. **अनुमतित्यागप्रतिमा**—इस प्रतिमा का धारी अब इतना मोहयुक्त हो जाता है कि कृषि आदि आरभ, धन-धान्यादि वाह्य पदार्थ, विवाहादि लौकिक कार्यों मे मनवचनकाय से अनुमति नही देता है।[1]

११. **उद्दिष्टत्यागप्रतिमा**—यह अन्तिम और ग्यारहवी प्रतिमा है। इस प्रतिमा का धारी श्रावक घर को त्यागकर मुनिजनो के निकट चला जाता है और गुरु के निकट व्रतो को ग्रहण करके छोटी चादर मात्र रखकर भैक्ष्यभोजन करता है और तपस्या आदि मे लग जाता है।[2] इस प्रतिमा मे कोई वस्त्र-खण्ड भी रखते हैं, कोई मात्र कोपीनधारी होते हैं।[3]

इस प्रकार इन प्रतिमाओ के द्वारा श्रावक क्रमश. आत्मविकास के सोपानो पर चढता है और ग्यारहवी प्रतिमा पर पहुँचकर वह उत्कृष्ट श्रावक अर्थात् श्रमणवत् बन जाता है। प्रतिमाओ के द्वारा जहाँ व्रतो के पालन मे एकनिष्ठता, श्रद्धा, आत्मशुद्धि, वैराग्य आदि गुणो का आविर्भाव होता है, वहाँ कलुषता, क्षुद्रता आदि कषायो का स्वतः परिशमन हो जाता है। योगारभ मे इष्ट तथा अनिष्ट वस्तु का त्याग तथा भोग की मात्रा पर ध्यान दिया जाता है। जैसे-जैसे आत्मशुद्धि में वृद्धि होती है, वैसे-वैसे सांसारिक मोहबन्ध की आशा छूटती जाती है।

श्रावक के छह आवश्यक

श्रमण के दैनिक आवश्यको की भाँति श्रावक के दैनिक छह आवश्यको का भी विधान है। देवपूजा, गुरुसेवा, स्वाध्याय, सयम, तप एव दान ये श्रावक के षट्कर्म हैं, जो प्रतिदिन करणीय हैं।[4] इनके करने से

---

१ नवनिष्ठापरः सोऽनुमतिव्युपरत' त्रिधा।
यो नानुमोदते ग्रन्थमारम्भं कर्म चैहिकम् ॥—सागारधर्मामृत, ७।३०

२. गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य।
भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चैलखण्डधर. ॥ —समीचीन धर्मशास्त्र, ७।१४७

३. एयारसेसु पढम वि जदो णिसिभोयण कुणतस्स।
ठाण ण ठाइ तम्हा णिसिभुत्तिं परिहरे णियमा।
—वसुनन्दिश्रावकाचार, ३१४

४. देवसेवागुरूपास्ति स्वाध्याय' सयमस्तपः।
दान चेति गृहस्थाना षट्कर्माणि दिने दिने ॥ —उपासकाध्ययन, ४६।९११

संयम मे वृद्धि होती है, धर्म-व्यापार मे मन स्थिर होता है, आन्तरिक दोषो का नाश होता है, समता, मैत्री, भावना आदि शुद्ध भाव पैदा होते हैं। इनके अभ्यास से आत्मविकास होता है।

१ **देवसेवा**—इसके अन्तर्गत अरहंत प्रभु का अभिषेक, पूजन, गुणों का स्तवन, जप तथा ध्यान की क्रियाएँ आती हैं।[1]

२ **गुरुपूजा**—इसके अन्तर्गत आचार्य तथा गुरु के प्रति श्रद्धा एवं पूजाभाव, शास्त्रों का मनन-विवेचन, सम्यक्आचरण आदि क्रियाएँ आती हैं, जो कल्याणप्रद है।[2] इसमें बताया गया है कि माता-पिता, विद्या गुरु, ज्ञाति कुटुम्ब, श्रुतशील एवं धर्म प्रकाशक गुरु हैं[3] और इनका आदर-सत्कार आदि करना धर्म है। इसी संदर्भ मे गीता के अनुसार उनकी सेवा करना तथा ज्ञान प्राप्त करना विहित माना गया है।[4]

३. **स्वाध्याय**—स्वाध्याय का अर्थ है आत्मा का अध्ययन अथवा अध्यात्म का चिन्तवन अर्थात् चारो अनुयोगो का एवं गुणस्थान, मार्गणा आदि का सम्यक् पठन-पाठन।[5] इससे चित्त स्थिर होता है और आत्मा की ओर देखने की प्रवृत्ति जाग्रत होती है।

४ **संयम**—कषायो का निग्रह, इन्द्रियजय, मन-वचन-काय की

---

१. स्नपन पूजनं स्तोत्र जपो ध्यान श्रुतस्तवः।
षोढाक्रियोदिता सद्भिर्देवसेवासु गेहिनाम् ॥
—वही, ४६।९१२, योगशास्त्र, ३।१२२-२३

२ आचार्योपासनं श्रद्धा शास्त्रार्थस्य विवेचनम्।
तत्क्रियाणामनुष्ठान श्रेयःप्राप्तिकरो गणः ॥
—वही, ४६।९१३ ; योगशास्त्र, ३।१२४

३. मातापिताकलाचार्य एतेषा ज्ञातयस्तथा।
वृद्धाधर्मोपदेष्टारो गुरुवर्गः सता मतः ॥—योगबिन्दु, ११०

४. तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञान ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः। भगवद्गीता, ४।३४

५. अनुयोगगुणस्थानमार्गणास्थानकर्मसु।
अध्यात्मतत्त्वविद्यायाः पाठ. स्वाध्याय उच्यते ॥
—उपासकाध्ययन, ४६।९१५

प्रवृत्ति का त्याग और व्रतो का नियमपूर्वक पालन करना ही सयम है।[1] संयमपालन से ही धर्मपालन में स्थिरता आती है। गीता के अनुसार भी इन्द्रिय, मन, वाणी, विचार, रसेन्द्रिय, काम, क्रोध आदि पर अंकुश रखना सयम है।[2]

५ **तप**—इसके सम्बन्ध मे विस्तार के साथ अगले अध्याय मे प्रकाश डाला गया है।

६ **दान**—श्रावक के लिए आवश्यक माना गया है कि वह पात्र, आगम, विधि, द्रव्य, देश और काल के अनुसार अपनी शक्ति एव मर्यादाओ को ध्यान मे रखकर दान करे।[3] दान देने मे राग-द्वेष, कीर्ति की लालसा आदि मनोभावो को न आने दे।

इस प्रकार ये षट्कर्म या आवश्यक श्रावक के दैनिक कर्तव्य हैं। आदि-पुराण मे पूजा, वार्ता, दान, स्वाध्याय, संयम एवं तप को 'कुलधर्म' कहा गया है।[4]

(२) श्रमणाचार (साध्वाचार)

साध्वाचार अथवा श्रमणाचार जैन संस्कृति का मूल आधार है तथा सयममय योगपूर्ण जीवन का मूल मत्र है। यही कारण है कि साधु या मुनि योग के सम्पूर्ण स्तरों का सम्यक् रूप से पालन करने मे समर्थ होता है। योग के लिए किन-किन नियमो, उपक्रमों आदि की अपेक्षाएँ होती हैं वे अनायास ही अभ्यास-क्रम मे प्राप्त हो जाती हैं। योग-सिद्धि के लिए श्रमणचर्या सहायक है। अत· उसका उपयुक्त एवं समीचीन विश्लेषण यहाँ किया जाता है।

---

१ कषायेन्द्रियदण्डानां विजयो व्रतपालनम्।
सयम संयतैः प्रोक्तः श्रेयः श्रयितुमिच्छताम्॥—वही, ४६।९२४

२. त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मन.।
काम क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥—भगवद्गीता, १६।२१

३ पात्रागमविधिद्रव्य-देश-कालानतिक्रमात्।
दानं देयं गृहस्थेन, तपश्चर्यं च शक्तित.॥ —सागारधर्मामृत, २।४८

४. आदिपुराण, २४।२५

श्रावक अथवा गृहस्थ के अणुव्रत आदि व्रत-शील साधक को साधुत्व की ओर प्रेरित करते हैं और दीक्षा लेने के उपरांत साधु संसार सम्बन्धी ममता-मोह तथा राग-द्वेष से ऊपर उठकर समभाव में स्थित होते हैं। साधु-सामाचारी के सम्बन्ध में कहा गया है कि गुरु के समीप रहना, विनय करना, निवासस्थान की शुद्धि रखना, गुरु के कार्यों में शांति-पूर्वक सहयोग देना, गुरु-आज्ञा को निभाना, त्याग में निर्दोषता, भिक्षा-वृत्ति से रहना, आगम का स्वाध्याय करना एवं मृत्यु आदि का सामना करना आवश्यक है।[1] सामाचारी का तात्पर्य ही यह है कि विवेकपूर्वक संयम-चारित्र का पालन करना।[2] उत्तराध्ययनसूत्र में भी कहा है कि विनय की शिक्षा का स्रोत यही है।[3] साधु या निर्ग्रन्थ हिंसा आदि का पूर्णतः त्यागी होता है। उसके अहिंसादिव्रत महाव्रत कहलाते हैं। पहले कहा ही गया है कि श्रावक देशव्रती होता है और श्रमण सर्वदेशव्रती या सकल चारित्र का पालनकर्ता। साधु के अट्ठाईस मूलगुण[4] और सत्तर उत्तर-गुण[5] कहे गये हैं, जिनका पूरी तरह पालन करना प्रत्येक श्रमण के लिए नितान्त आवश्यक है। इन मूलगुणों एवं उत्तरगुणों में श्रमण की चर्या समाहित हो जाती है, फिर भी क्रमशः पंचमहाव्रतों, त्रिगुप्तियों, पंचसमितियों आदि का वर्णन यहाँ कर देना उपयुक्त होगा।

---

१. योगशतक, २३-२५

२. वही, पृ० ४६

३. सामाचारी का सामान्य अर्थ है सम्यक्चर्या या सम्यक् आचरण। यह सब दुःखों से मुक्त करानेवाली है। इसके दस अंग हैं—आवश्यकी, नैषेधिकी, आपृच्छना, प्रतिपृच्छना, छन्दना, इच्छाकार, मिथ्याकार, तथाकार, अभ्युत्थान, उपसंपदा। —उत्तराध्ययन, २६।१-७

४. महाव्रत-समित्यक्षरोधाः स्युः पंचचैकशः।
परमावश्यकं षोढा, लोचोऽस्नानमचेलता॥
अदन्तधावनं भूमिशयनं स्थिति-भोजनम्।
एकभक्तं च सन्त्येते पाल्या मूलगुणा यते॥—योगसारप्राभृत, ८।६-७

५. पिंडविसोही समिई भावण पडिमा य इन्दियनिरोहो।
पडिलेहण गुत्तीओ अभिग्गहा चैवकरणं तु॥
—ओघनिर्युक्तिभाष्य, पृ० ६

पंचमहाव्रत

श्रमण के पाँच महाव्रत इस प्रकार हैं[1]—

(१) सर्वप्राणातिपातविरमण (अहिंसाव्रत)

यह प्रथम महाव्रत है। श्रमण को अहिंसा का सम्पूर्णतया पालन तीन योग एवं तीन करण से करना होता है। अहिंसा महाव्रत की पाँच भावनाएँ हैं—(१) **ईर्यासमिति**—साधु उठने-बैठने, गमनागमन करने आदि मे अत्यन्त सावधानी बरते ताकि किसी भी जीव की विराधना न हो।[2] (२) **मन की अपापकता**—मन मे अनेक प्रकार के विचार आते हैं। वे सावद्यकारी, आस्रव करनेवाले, सक्रिय, छेदन-भेदन एवं कलह करनेवाले, दोषपूर्ण एवं प्राणो के घातक हो सकते हैं, जिन्हे मन से हटाना साधु के लिए अनिवार्य है।[3] (३) **वचनशुद्धि**—वाणी के समस्त दोषो से बचना चाहिए।[4] अर्थात् साधु को ऐसे वचनो का प्रयोग करना चाहिए, जिनसे दूसरे जीवो को पीडा अथवा तकलीफ न हो और न किसी भी प्रकार के दोष उत्पन्न हो। (४) **भण्डोपकरणसमिति**—साधु को पात्रादि उपकरणो के रखने आदि मे सावधानी रखनी चाहिए, क्योकि इनसे अनेक प्रकार की हिंसा होना संभव है।[5] (५) **आलोकित-पानभोजन**—विवेकपूर्वक आहारचर्या की जाय ताकि किसी प्रकार की हिंसा न हो। आहार-पानी की असावधानता से छोटे-मोटे जीवो की हिंसा सम्भव है, इसलिए हिंसा आदि दोषो से युक्त आहार का निषेध है। साधु को शुद्ध, निर्दोष आहार ही लेना विहित है।[6]

---

१. अहिंस सच्चं च अतेणगं च, ततो य बभ अपरिग्गहं च।
पडिवज्जिया पंचमहव्वयाणि, चरिज्जधम्मं जिणदेसियं विऊ॥
—उत्तराध्ययन, २१।१२

२. तत्थिमा पढमा भावना इरियासमिए से निग्गथे·· अणइरिया समिइत्ति पढमा भावना। —आचारागसूत्र, द्वितीय श्रुत०, अ० १५ पृ० १४२०

३. वही, पृ० १४२२

४. वही, पृ० १४२३

५. आचारागसूत्र, द्वि० श्रुत०, अ० १५, पृ० १४२४

६. वही, पृ० १४२६

(२) सर्वमृषावादविरमण[1] (सत्यव्रत)

यह द्वितीय सत्य महाव्रत है। साधु को अहिंसा की भाँति ही सत्य-महाव्रत का पालन तीन योग तथा तीन करण से करना होता है। इस महाव्रत की पाँच भावनाएँ हैं—

(१) अनुवीचिभाषण—विवेक-विचारपूर्वक बोलना।

(२) क्रोधत्याग—साधु को क्रोध या आवेश से बचना चाहिए।

(३) लोभत्याग—साधु को लोभ से सर्वथा दूर रहना चाहिए, जिससे कि मिथ्याभाषण का दोष न लगे।

(४) भयत्याग—साधु को हर प्रकार के भय से सर्वथा अलग रहना चाहिए।

(५) हास्यत्याग—हँसी-मजाक भी असत्य का कारण है। इसलिए साधु को इससे दूर रहना चाहिए।

(३) सर्वअदत्तादानविरमण (अस्तेयव्रत)

यह तृतीय अचौर्य महाव्रत है। बिना अनुमति से साधु को एक तिनका भी ग्रहण करना वर्जित है। साधु को तीन योग तथा तीन करण से अचौर्य महाव्रत का पालन करना होता है।[2] इस महाव्रत की भी पाँच भावनाएँ हैं—

(१) **विचारपूर्वक वस्तु या स्थान की याचना**—साधु को सोच-समझकर ही उपयोग के लिए वस्तु या स्थान के स्वामी या श्रावक से याचना करनी चाहिए।

(२) **गुरु की आज्ञा से भोजन**—विधिपूर्वक अन्नपानादि लाने के बाद गुरु को दिखाकर उनकी अनुज्ञापूर्वक उपभोग करना चाहिए।

(३) **परिमित पदार्थ ग्रहण**—साधु को स्थान, उपकरण, आहार आदि के ग्रहण मे परिमितता अर्थात् मर्यादा का ध्यान रखना चाहिए।

(४) **पुनः पुनः पदार्थों की मर्यादा**—साधु को बार बार अवग्रह की मर्यादा निर्धारित करनी चाहिए।

---

१. वही, पृ० १४३०-३१

२. वही, पृ० १४३७-३८

(५) **सार्घमिक अवग्रहयाचन**—साधु अपने समानघर्मी दूसरे साधु से आवश्यक होने पर परिमित स्थान की याचना करे।

इस प्रकार साधु को विवेकपूर्वक स्थान या वस्तु ग्रहण करना चाहिए।

(४) सर्वमैथुनविरमण (ब्रह्मचर्यव्रत)

यह चतुर्थ ब्रह्मचर्य महाव्रत है। अन्य महाव्रतो की भाँति ही इस महाव्रत का पालन साधु को मन-वचन-काय एवं कृत-कारित-अनुमोदना पूर्वक करना होता है। इस महाव्रत की भी पाँच भावनाएँ हैं--

(१) **स्त्रीकथात्याग**—साधु को कामवर्धक स्त्रीकथा या बाते नही करना चाहिए।

(२) **मनोहर क्रियावलोकनत्याग**—महाव्रती को अपने से विजातीय व्यक्ति के मुख, स्तन, दण्ड, बाल आदि कामोद्दीपक अंगो का अवलोकन करना वर्जित है।

(३) **पूर्वरतिविलासस्मरणत्याग**—साधु को चाहिए कि वह ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार करने के पूर्व के काम-भोगो का स्मरण न करे।

(४) **प्रणीतरसभोजनत्याग**—प्रमाण से अधिक अथवा कामवर्धक रसयुक्त आहारपानी ग्रहण नही करना चाहिए।

(५) **शयनासन-त्याग**—स्त्री, पशु, नपुसक आदि के आसन अथवा शैया आदि का उपयोग करना साधु को विहित नही है।[1]

इस तरह सभी प्रकार से मन, वचन एवं काय द्वारा मैथुन-भावनादि की निवृत्ति ही ब्रह्मचर्य है और उसका सम्पूर्णतया पालन करना किसी भी योगी के लिए नितान्त आवश्यक है।

(५) सर्वपरिग्रहविरमण (अपरिग्रहव्रत)

यह पाँचवाँ अपरिग्रह महाव्रत है। साधु को सब प्रकार के अन्तरङ्ग एव बाह्य परिग्रह से मुक्त रहना चाहिए। परिग्रहों से मन कलुषित होता है, अशाति, भय, तृष्णा, बढती है और मन एकाग्र नही हो पाता। परिग्रह अर्थात् मूर्च्छा के कारण अहिंसादि महाव्रतो का पालन

---

१ वही, पृ० १४४५-४६

२. वही, पृ० १४५५-५७

भी नही हो पाता। इस महाव्रत की भी पाँच भावनाएँ हैं, जो पांच इद्रियों के विषयो से सम्बन्वित हैं—

(१) श्रोतेन्द्रिय मे अनासक्ति—साधु प्रिय-अप्रिय, कोमल-कठोर शब्दो के प्रति राग-द्वेष नही रखे।

(२) चक्षुरिन्द्रियों में अनासक्ति—साधु को प्रिय-अप्रिय रूपों के अवलोकन के प्रति उदासीन रहना चाहिए।

(३) घ्राणेन्द्रिय में अनासक्ति—साधु सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध के प्रति उदासीन रहे।

(४) रसनेन्द्रिय में अनासक्ति—साधु को प्रिय अथवा अप्रिय वस्तु के स्वाद मे, रस मे आसक्ति नही रखनी चाहिए।

(५) स्पर्शेन्द्रिय मे अनासक्ति—प्रिय स्पर्श में राग और अप्रिय में द्वेप उत्पन्न होता है और ऐसा रागद्वेष रखने से शान्ति भङ्ग होती है। अत. साधु को हर प्रकार के स्पर्श के प्रति उदासीन रहना चाहिए।

अपरिग्रह महाव्रत के धारी साधु या योगी को संसार के प्रति सारी आसक्ति का त्याग कर देने का विधान है। अपरिग्रही साधु ही सही अर्थ मे योगी होता है।

गुप्तियाँ एवं समितियाँ (अष्ट प्रवचनमाता)

मानसिक एकाग्रता एव विशुद्धि के लिए अशुभ प्रवृत्तियो का शमन और शुभ प्रवृत्तियो का आचरण आवश्यक है। मन की विशुद्धता एवं एकाग्रता श्रमण के महाव्रतो की रक्षा एवं पोपण करती है और आत्मिक विकास अर्थात् योग द्वारा मोक्ष की स्थिति तक पहुँचाने मे सहायक है। इसके लिए गुप्तियो और समितियो का विधान है, क्योकि गुप्तियाँ मन, वचन एव काय की अशुभ प्रवृत्तियों को रोकती हैं, और समितियाँ चारित्र की प्रवृत्ति के लिए हैं।[१] वस्तुत गुप्ति एव समिति से एकाग्रता प्राप्त होती है तथा शुभ प्रवृत्तियो की ओर उन्मुख होने का अभ्यास प्रबल बनता है। इन दोनो का सयुक्त नाम अष्ट प्रवचनमाता है।[२]

---

१ एयाओ पच समिईओ, चरणस्स य पवत्तणे।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता असुभत्थेसु सव्वसो॥—उत्तराध्ययन, २४।२६

२ एताश्चारित्रगात्रस्य, जननात्परिपालनात्।
सशोधनाच्च साधूना, मातरोऽष्टौ प्रकीत्तिता॥
—योगशास्त्र, १।४५; उत्तराध्ययन, २४।१

(अ) गुप्तियाँ

गुप्ति का लक्षण—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक त्रियोग (मन, वचन, काय) को अपने अपने मार्ग में स्थापित करना गुप्ति है।[1] वस्तुतः मन, वचन एव काय की प्रवृत्ति सर्वदा राग-द्वेष की ओर रहती है। साधु अपनी साधना द्वारा मन-वच-न-काय को शुभ प्रवृत्ति की ओर उन्मुख करता है। तथा कषायरूपी वासनाओ से रक्षा के लिए गुप्ति रूपी अस्त्र का प्रयोग करना काहिए।[2]

गुप्ति के भेद—गुप्तियाँ तीन हैं—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति।

(१) **मनोगुप्ति**—संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ मे प्रवृत्त मन को रोकना मनोगुप्ति है।[3] दूसरे शब्दों मे रागद्वेष आदि कषायो से मन को निवृत्त करना मनोगुप्ति है। इसके चार भेद है[4]—सत्या, मृषा, सत्यामृषा एवं असत्यामृषा। सत्य चिंतन करना सत्या मनोगुप्ति है और असत्य चिन्तन करना मृषामनोगुप्ति है। सत्य असत्य का मिश्रित चिंतन सत्या-मृषा मनोगुप्ति तथा केवल लोक-व्यवहार देखना (न सच न झूठ) असत्या मृषा मनोगुप्ति है।

(२) **वचनगुप्ति**—असत्य भाषणादि से निवृत्त होना या मौन धारण

---

१ (क) वाक्कायचित्तजानेकसावद्यप्रतिषेधक।
त्रियोगरोधक वा स्याद्यत्तद्गुप्तित्रयं मतम्॥—ज्ञानार्णव, १८।४;
(ख) सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्वकत्रित्रिधयोगस्य शास्त्रोक्त विधिना स्वाधीनमार्ग—व्यवस्थापन रूपत्व गुप्ति सामान्यस्य लक्षणम्।
—आर्हत्दर्शनदीपिका, ५।६४२

२ सद्धं नगर किच्चा, तवसवरमग्गल।
खन्ति निउणपागारं, तिगुत्त दुप्पधसय॥ —उत्तराध्ययन, ९।२०

३. (क) वही, २४।२१
(ख) जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणाहि त मणोगुत्ति।
—मूलाराधना, ६।११८७

४. सच्चा तहेव मोसा य, सच्चमोसा तहेव य।
चउत्थी असच्चमोसा, मणगुत्ती चउव्विहा॥—उत्तराध्ययन, २४।२०

करना वचनगुप्ति है।[१] असत्य, कठोर, आत्मश्लाघी वचनों से दूसरो के मन का घात होता है अर्थात् वाचना, पृच्छना, प्रश्नोत्तर आदि में वचन का निरोध करना ही वचनगुप्ति है।[२] अत. चाहे सत्य हो या असत्य हो जिससे दूसरो के मन को पीडा पहुँचे ऐसे वचन नही बोलना चाहिए। इसके चार भेद हैं[३]—सत्यवाग्गुप्ति, मृषावाग्गुप्ति, सत्यामृषावाग्गुप्ति, असत्यामृषावाग्गुप्ति।

(३) कायगुप्ति—अज्ञानवश शारीरिक क्रियाओं द्वारा बहुत-से जीवो को पीड़ा होती है, उनका घात होता है अत इससे साधु को बचना चाहिए। इन प्रकार संरम्भ, समारम्भ और आरम्भपूर्वक कायिक प्रवृत्तियों का निरोध करना कायगुप्ति है,[४] जिससे कि खड़े रहने, शयन करने, बैठने, लघन अथवा प्रलंघन करने मे किसी भी जीव की हिंसा न हो।

(आ) समितियाँ

सयम मे दृढता तथा चारित्र-विकास के लिए—महाव्रतों की रक्षा के लिए—समितियो का विधान महत्त्वपूर्ण है। समितियाँ पाँच हैं—

(१) ईर्यासमिति—मार्ग, उद्योग, उपयोग एवं आलम्बन की शुद्धियों का आश्रय करके गमन करने मे ईर्यासमिति का व्यवहार किया जाता है।[५] सावधानीपूर्वक गमन करना, जिससे किसी भी जीव की विराधना न हो, मार्गशुद्धि है। प्रकाश मे देखभालकर सावधानीपूर्वक चलना उद्योतशुद्धि और द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा से गमन करना उपयोग-शुद्धि है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते समय

---

१. सज्ञादिपरिहारेण यन्मौनस्यावलम्बनम्।
वाग्वृत्तेः संवृत्तिर्वा या सा वाग्गुप्तिरिहोच्यते॥—योगशास्त्र, १।४२

२. वाचनप्रच्छनप्रश्नव्याकरणादिष्वपि सर्वथा वाङ्निरोधरूपत्वं, सर्वथा भाषानिरोधरूपत्वं वा वाग्गुप्तेर्लक्षणम्। —आर्हत्दर्शनदीपिका, ५।६४४

३ उत्तराध्ययन, २४।२२

४. उत्तराध्ययन, २४।२४-२५

५ मग्गुज्जोदुपओगालंवणसुद्धीहिं इरियदो मुणिणो।
सुत्ताणुवीचि भणिदा इरियासमिदी पवणम्मि।
—मूलाराधना, ६।११९१, ज्ञानार्णव, १८।५-७; उत्तराध्ययन, २४-४.

उपदेश देना, गुरु, तीर्थ एवं चैत्यवदना का निर्वाह करना आलंबन-शुद्धि है। इस प्रकार सम्यक् रूप से देखभालकर चलना ईर्यासमिति है।

(२) **भाषासमिति**—संयतमुनि क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, मुखरता, विकथा आदि आठ दोषो से रहित यथासमय परिमित एवं निर्दोष भाषा बोले।[1]

(३) **एषणासमिति**—आहारादि की गवेषणा, ग्रहणैषणा तथा परिभोगैषणा मे आहारआदि के उद्गम, उत्पादन आदि दोषो का निवारण करना एषणासमिति है।[2] इस समिति के द्वारा साधु को अपने धर्मोपकरणो का शुद्धिपूर्वक उपयोग करने का विधान है। बौद्धयोग[3] के अनुसार गमन, शयन स्थान और निषद्या ये चार ईर्यापथ है, जिन्हे भलीभाँति देखकर धर्मप्रवृत्ति करने का विधान है।

(४) **आदाननिक्षेपसमिति**—सामान्य और विशेष, दोनो प्रकार के उपकरणो को आँखो से प्रतिलेखना तथा प्रमार्जन करके लेना और रखना आदाननिक्षेपसमिति है।[4] चक्षु से सम्यक् रूप से देखना प्रतिलेखना है और वस्तु को साफ करने की क्रिया प्रमार्जना है।

(५) **परिष्ठापना या व्युत्सर्गसमिति**—जीव-जन्तुरहित भूमि पर, साफ करके मलमूत्रादि का, नाक, आँख, कान तथा शरीर के मैल का उत्सर्ग करना परिष्ठापना या व्युत्सर्गसमिति है।[5] यह विसर्जन स्थण्डिलभूमि मे

---

१. कोहे माणे य मायाए लोभे य उवउत्तया।
हासे भए मोहरिए, विगहासु तहेव य॥
एयाइ अट्ठ ठाणाइ परिवज्जित्तु सजए।
असावज्ज मिय काले, भास भासेज्ज पन्नव॥—उत्तराध्ययन, २४।९–१०,
तथा योगशास्त्र, १।३७

२. उत्तराध्ययन, २४।११-१२; ज्ञानार्णव, १८।११

३ विशुद्धिमार्ग, पृथ्विकसिणनिदेश, ४

४. चक्खुसा पडिलेहित्ता, पमज्जेज्ज जयं जई।
आइए निक्खिवेज्जा वा, दुहओ वि समिए सया॥—उत्तराध्ययन, २४।१४,
तथा योगशास्त्र, १।३९

५. विजन्तुकधरापृष्ठे मूत्रश्लेष्ममलादिकम्।
क्षिपतो ऽतिप्रयत्नेन व्युत्सर्गसमितिर्भवेत्॥ —ज्ञानार्णव, १८।१४,
तथा उत्तराध्ययन, २४।१५

किया जाता है जो चार प्रकार की होती है, जैसे—अनापात असंलोक, अनापात सलोक, आपात असंलोक तथा आपात सलोक।[1]

इस प्रकार साधु अथवा साधक को गुप्ति-समितिपूर्वक अर्थात् साव-धानीपूर्वक क्रियाएँ करने का विधान है। समिति एव गुप्ति से आतरिक और वाह्य प्रवृत्तियो का सयमन होता है और साथ-साथ शुभ प्रवृत्तियों का पोषण भी।

षडावश्यक[2]

जिस प्रकार श्रावक के लिए पूजा-पाठ, स्वाध्याय, वदनादि दैनिक आवश्यक क्रियाओ का विधान है, उसी प्रकार साधु अथवा श्रमण के लिए भी आवश्यक (करने योग्य क्रियाओ) का विधान है। ये आवश्यक क्रियाएँ छह है—

(१) **सामायिक**—सम की आय अर्थात् समताभाव का आना ही सामायिक है। अर्थात् देहधारणा और प्राण-वियोग मे, इच्छित वस्तु का लाभ-अलाभ, इष्टानिष्ट के सयोग-वियोग, सुखदु ख, भूख-प्यास आदि वाधाओ मे राग-द्वेषरहित परिणाम होना सामायिक है। जो मन, वचन और काय की पापपूर्ण प्रवृत्तियों से हटाकर निरवद्य व्यापार मे प्रवृत्त कराती है, उसे सामायिक कहते है।[3]

(२) **चतुर्विंशतजिनस्तव**—चौबीस तीर्थंकरो की श्रद्धापूर्वक स्तुति करना चतुर्विशतिजिनस्तव आवश्यक है।

(३) **वन्दना**—मन, वचन एव काय की शुद्धिपूर्वक अरहत, सिद्ध, गुरु आदि की वदना करना वन्दना आवश्यक है।

(४) **प्रतिक्रमण**—धर्म-विधि अथवा दैनिक क्रियाओ मे प्रमाद आदि के कारण अशुभ परिणाम होने या दोष लगने पर उनकी निवृत्ति के लिए

---

१ उत्तराध्ययन, २४।१६

२ सामायिके स्तवे भक्त्या वन्दनाया प्रतिक्रमे।
प्रत्याख्याने तनूत्सर्गे वर्तमानस्य सवर ॥ —योगसारप्राभृत, ५।४६

३. यत् सर्व-द्रव्य-सदर्भे राग-द्वेष-व्यपोहनम्।
आत्मतत्त्व-निविष्टस्य तत्सामायिकमुच्यते ॥—वही, ५।४७

चिंतन करना प्रतिक्रमण आवश्यक है। इससे स्वीकृत व्रतो के छिद्र बन्द होते है। आठ प्रवचनमाता के आराधन से विशुद्ध चारित्र को प्राप्त करते हुए साधु सन्मार्ग मे सम्यक् समाधिस्थ होकर विचरण करता है।[1]

(५) **कायोत्सर्ग**—देहभाव के विसर्जन को ही कायोत्सर्ग कहते हैं। इस आवश्यक के अन्तर्गत बैठकर या खड़े रहकर ध्यान करते हुए साधु आत्मस्वरूप का चिंतन करता है। इसके द्वारा जीव अपने अतीत और वर्तमान काल के प्रायश्चित्त योग्य दोषो का शोधन करता है और प्रशस्त ध्यान मे लीन होकर सुखपूर्वक विचरण करता है।[2]

(६) **प्रत्याख्यान**—प्रत्याख्यान का अर्थ है सासारिक विषयों का त्याग। इस आवश्यक द्वारा नित्य के आहारादि में अमुक पदार्थ का अमुक काल विशेष के लिए त्याग किया जाता है। प्रत्याख्यान करने से कर्मास्रव रुकते हैं, इच्छाओ का निरोध होता है और सयम की वृद्धि होती है।[3]

इनका पालन करने से सम्यक्त्व या चारित्र की प्राप्ति होती है। इन आवश्यको मे जो साधक भक्तिपूर्वक संलीन होता है, उसके कर्मों का आस्रव रुक जाता है, परम शाति एव समाधि मे स्थित होता है।

दस धर्म

यद्यपि महाव्रतो अथवा अणुव्रतो में आत्मविकासमूलक धर्म का अतर्भाव हो जाता है, तथापि श्रमण अथवा श्रावक के लिए भाव या गुणमूलक धर्म का विधान अलग से प्ररूपित है, क्योकि सयम की स्थिरता और आत्मविकास के लिए ये धर्म सहायक और उपयुक्त हैं। यही कारण है कि मुक्तिलाभ के लिए आत्मोन्नति के क्रमिक विकास को धर्म कहा गया है।[4] श्रावक अथवा मुनि के जीवन मे कभी भी प्रमाद अथवा रागद्वेषवश कषायो की उत्पत्ति संभव है और किसी व्यक्ति मे क्षमादि भावों का अभाव होता है। अतः दैनिक जीवन की मन, वचन एवं कायादि सबंधी

---

१ उत्तराध्ययन, २९।९-१२

२. उत्तराध्ययन २९।१३, योगसारप्राभृत, ५।५२

३. उत्तराध्ययन, २९।१४, योगसारप्राभृत, ५।५१

४. अभ्युदयापवर्गहेतुरूपत्वं धर्मस्य लक्षणम्।—आर्हत्दर्शनदीपिका, ३।३५१

अनेक क्रियाओं के परिमार्जन तथा क्षमादि भावो की प्राप्ति के लिए धर्म का चिन्तवन एवं अभ्यास किया जाता है। अर्थात् साधु वही है जो लाभ, अलाभ, शत्रु, मित्र आदि मे न द्वेष रखता है न रागादि भाव। वह सदा रत्नत्रय से युक्त क्षमादि भावो मे लीन समताभाव का पोषक अथवा अभ्यासी होता है।[१]

धर्म दस प्रकार का है[२]—(१) क्षमा, (२) मार्दव, (३) आर्जव, (४) शौच, (५) सत्य, (६) सयम, (७) तप, (८) त्याग (९) आकिंचन्य एव (१०) ब्रह्मचर्य। तत्त्वार्थसूत्रकार ने इन्हे उत्तम कहा है। अर्थात् ये धर्म उत्कृष्ट हैं। नवतत्त्वप्रकरण मे इन्हे यति-धर्म की संज्ञा दी गयी है।[३] विंशतिर्विंशिका[४] के अनुसार आर्जव के बाद शौच के स्थान पर 'मुक्ति' है जो त्याग के अर्थ मे व्यवहृत है।

(१) **क्षमा**—अज्ञानी लोगों द्वारा शारीरिक कष्ट, अपशब्द, अपमान हँसी तथा दुर्व्यवहार किये जाने पर भी क्रोधकषाय या क्षोभ का प्रकट न होना क्षमाभाव है।[५]

(२) **मार्दव**—जाति, कुल, ऐश्वर्य या सौंदर्य, ज्ञान, शक्ति आदि का गर्व नही करना, विनय रखना ही मार्दव है।[६]

(३) **आर्जव**—मन, वचन एवं काय द्वारा कुटिल प्रवृत्तियो को रोकना, सरलभाव रखना आर्जव है।[७]

---

१. जो रयणत्तय जुत्तो खमादि-भावेहि-परिणदो-णिच्चं।
सत्वत्थवि मज्झत्थो सो साहू भणदे धम्मो।
—स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३९२

२. उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः।
—तत्वार्थसूत्र, ९।६

३. नवतत्त्वप्रकरण, २९

४. खतीय-मुद्दव अज्जव मुत्ती तव सजमं य बोद्धव्वे।
सच्चं सोयं अकिंचणं च बंभं च जइधम्मो॥
—विंशतिर्विंशिका, ११।२

५. पद्मनंदि पंचविंशतिका, १।८५

६. जात्यादिमदावेशादभिमानाभावो मार्दवम्। —तत्त्वार्थराजवार्तिक, ९।६

७. योगस्य वक्रता आर्जवम्। —वही, ९।६

(४) **शौच**—लोभ, तृष्णादि वृत्तियो का त्याग करना तथा भोजन मे गृद्धि नही रखना शौच है।[१] अन्तर्बाह्य शुचिता का ही महत्त्व है।

(५) **सत्य**—आचार का पालन करने मे असमर्थ होते हुए भी झूठ नही बोलना, आप्तवचनो को असत्य नही मानना तथा कठोर, निन्द्य बात न कहना ही सत्य है।[२]

(६) **संयम**—प्राणियो को पीड़ा न पहुँचाना तथा इन्द्रिय-विषयो में आसक्ति नही रखना संयम है।[३]

(७) **तप**—तप का तात्पर्य अपनी इद्रियों के विषयो को तपाकर आत्मशुद्धि करने से है और तप की आराधना अनेक प्रकार के काय-क्लेशो द्वारा होती है जिनमे इहलोक या परलोक के सुख की अपेक्षा नही होती।[४]

(८) **त्याग**—चेतन एव अचेतन समस्त अन्तर्बाह्य परिग्रह की निवृत्ति ही त्याग है।[५] त्याग का स्थूल अर्थ दान भी है।

(९) **आकिंचन्य**—मन, वचन एव काय से सब प्रकार की धन-सम्पत्ति, गृह-वैभव आदि परिग्रह मे ममत्वबुद्धि न रखना ही आकिंचन्य है।[६] त्याग और आकिंचन्य मे अन्तर यह है कि त्याग करने के बाद भी त्यक्त पदार्थ मे आसक्ति रह जाती है। त्याग करने के बाद साधक जब अपने को अकिंचन, शून्य बना लेता है, तभी उसके आकिंचन्य धर्म होता है।

(१०) **ब्रह्मचर्य**—स्त्री-सहवास, भोगे हुए कामभोगो का चिंतन-

---

१ स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा, ३९७

२. जिणवयणमेव भासदि त पालेंदु असक्क माणोवि।
ववहारेण वि अलिय ण वददि जो सच्चवाई सो ॥—वही, ३९८

३ समितिषु प्रवर्तमानस्य प्राणीन्द्रियपरिहार. संयम.।
—तत्त्वार्थराजवार्तिक, पृ० ५९६

४. इह पर लोयं सुहाणं णिखेक्खो जो करेदि समभावो।
विविह काय-किलेसं तव-धम्मो णिम्मलो तस्स॥
— स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा, ४४०

५. परिग्रहनिवृत्तिस्त्याग:।—तत्त्वार्थराजवार्तिक, पृ० ५९५

६. स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा, ४०२

स्मरण, स्त्री के रूप एव अगादि का दर्शन, कामोत्तेजक साहित्य का पाठ आदि प्रवृत्ति से दूर रहना तथा आत्मचर्या मे लीनता ही ब्रह्मचर्य है।[1]

इस तरह इन उत्तम धर्मों का पालन करने से दीर्घकाल से संचित राग-द्वेष, मोहादि का शीघ्र ही उपशमन हो जाता है तथा अहकार, परीपह, कषाय का भी भेदन होता है।[2] अतः योग-साधना मे दस धर्मों का आत्यन्तिक महत्त्व है, क्योंकि योग के लिए वाह्य आचारो की अपेक्षा अन्तरग परिणामो, भावो की शुद्धता ही परम आवश्यक है।

बारह अनुप्रेक्षाएँ

जिस प्रकार योगदर्शन मे क्लिष्ट और अक्लिष्ट दो वृत्तियो का उल्लेख है,[3] उसी प्रकार जैनदर्शन मे भी सकषाय और अकषाय इन दो मार्गों का निर्देश है।[4] जैसे क्लिष्ट वृत्ति मे अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष एव अभिनिवेश ये पाँच क्लेश आते हैं, वैसे ही सकषायवृत्ति मे भी मिथ्या-दर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग का वर्णन है।[5] इस प्रकार संसार के मूल कारण मे अज्ञान अथवा मिथ्यात्व ही है। जैन-दर्शन के इस मिथ्यात्व को ही योग-दर्शन मे अविद्या तथा बौद्ध-दर्शन मे अज्ञान कहा गया है। इसी मिथ्यात्व अथवा मोह के कारण जीव इस संसार मे अनत काल से भटकता आ रहा है। इसी संसार-बंधन में पड़कर जीव रागद्वेष, कषाय[6] आदि के कारण स्वभाव को भूलकर जन्म-मरण करता रहता है। अतः पिछले जन्म के कर्म-सस्कारो तथा वर्तमान जन्म के कर्मों को नष्ट करना जीव के लिए अत्यत आवश्यक है, ताकि वह मोक्ष प्राप्त करने

---

१. वही, ४०३

२. दशविधधर्मानुष्ठायिनः सदा रागद्वेषमोहानाम् ।
दृढरूढघनानामपि भवत्युपशमोऽल्पकालेन ॥ १७९ ॥
ममकाराहकारत्यागादतिदुर्जयोद्धतप्रबलान् ।
हन्ति परीषहगौरवकषायदण्डेन्द्रियव्यूहान् ॥ १८० ॥—प्रशमरतिप्रकरणम्

३. योग-दर्शन, २।१२

४. सकषायाकषाययो: साम्परायिकेर्यापथयो. ।—तत्त्वार्थसूत्र, ६।५

५ वही, ८।१

६. कषाय चार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ ।

मे समर्थ हो सके। इस दृष्टि से जैन-योग मे श्रावकाचार तथा साध्वाचार के निमित्त विभिन्न आचार-नियमो का प्ररूपण हुआ है। वस्तुत. इन आचार-नियमो के द्वारा जीव मे सयम की वृद्धि होती है, जिसे चारित्र कहा जाता है, और कर्मो का आस्रव रुकता है अर्थात् संवर की प्राप्ति होती है।[1] परन्तु साधक की इन्द्रियाँ तथा मन साधक को सर्वदा अपने मार्ग से विचलित करने एवं रागद्वेषादि भावों को बढाने के लिए तत्पर रहते हैं। इसलिए इन पर विजय प्राप्त करने के लिए अनुप्रेक्षाओं का विधान है, जिनके द्वारा चंचल प्रवृत्तियो का सयमन तथा आत्मविकास होता है। अनुप्रेक्षाओ को वैराग्य की जननी भी कहा है।[2]

अनुप्रेक्षा का अर्थ है गहन चिंतन, क्योकि आत्मा का विशुद्ध चिंतन होने के कारण इनमें सांसारिक वासना-विकारो का कोई स्थान नही रहता और साधक विकास करता हुआ मोक्षाधिकारी होने में समर्थ होता है। अनुप्रेक्षा से कर्मो का वंधन शिथिल होता है।[3] जब जीव में शुभ विचारो का उदय होता है, तव अशुभ विचारों का आना क्रमशः वंद होता जाता है। अत· अनुप्रेक्षाएँ कर्म-निरोध की साधना भी हैं। साधक को धर्म-प्रेम, वैराग्य, चारित्र की दृढता तथा कषायों के शमन के लिए इनका अनुचिंतन करते रहना चाहिए,[4] क्योकि जिसकी आत्मा भावनायोग से शुद्ध होती है, वह सब दु खो से मुक्त हो जाता है।[5] इस बात का समर्थन योग-दर्शन मे भी प्राप्त होता है। इसके अनुसार भावना अर्थात् अनुप्रेक्षा तथा जीव मे बहुत गहरा संबंध है और भावनाओ का चिंतवन करने से आत्मशुद्धि होती है। इसलिए ईश्वर का बार-बार जप करने का विधान है। कहा गया है कि जप के बाद ईश्वर-भावना करनी

---

१. आस्रवनिरोधः संवरः।—तत्त्वार्थसूत्र, ९।१

२. वैराग्य उपावन माई, चिंतो अनुप्रेक्षा भाई।—छहढाला, ५।१

३. उत्तराध्ययन, २९।२२

४. ताश्च संवेगवैराग्ययमप्रशमसिद्धये।
आलानिता मनःस्तम्भे मुनिभिर्मोक्षमिच्छुभिः॥—ज्ञानार्णव, २।६

५ भावणाजोग सुद्धप्पा, जले णावा व आहिया।
नावा व तीरसंपन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टइ॥—सूत्रकृतांग, १।१५।५

चाहिए और ईश्वर की भावना के पश्चात् जप। इस तरह दोनों योगों की प्राप्ति होने पर परमेश्वर-साक्षात्कार होता है।[1]

जैन-दर्शन में अनुप्रेक्षाओं की महती प्रतिष्ठा है। अनुप्रेक्षाएँ या भावनाएँ बारह हैं। यथा—अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, सवर, निर्जरा, धर्म, लोक और बोधिदुर्लभ।[2] अनुप्रेक्षा के इन प्रकारो का वर्णन बारस अणुवेक्खा[3], तत्त्वार्थसूत्र[4], प्रशमरतिप्रकरण[5], मूलाचार[6], स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा[7], शातसुधारस[8], मनोनुशासन[9]; बृहद् द्रव्यसग्रह[10], ज्ञानार्णव[11] आदि ग्रथो मे भी है। यद्यपि इनके क्रम मे कही-कही किंचित् अन्तर दीख पड़ता है, परन्तु प्रकारो में अंतर नही है।

(१) अनित्यानुप्रेक्षा—यह शरीर अपवित्र, अनित्य तथा अनेक अशुचियो से भरा है तथा विनष्ट होनेवाला है। जो जन्मता है वह मरता ही है। इसलिए संसार को अनित्य, अस्थिर, नाशवान् समझना और ऐसा चिंतवन करना ही अनित्यानुप्रेक्षा है।[12]

(२) अशरणानुप्रेक्षा—इस ससार में जीव का कोई शरण नही है, क्योकि जब वह रोगशय्या पर पड़ता है अथवा छेदन-भेदन किया जाता

---

१. तज्जपस्तदर्थभावनम्।—योगदर्शन, व्यासभाष्य, १।२८

२. योगशास्त्र, ४।५५-५६

३. अद्धुवमसरणमेगत्तमण्णत्तसंसारलोयमसुइत्तं।
आसवसवरणिज्जर धम्मं बोधि च चिंतिज्ज॥—बारसअणुवेक्खा, २

४. तत्त्वार्थसूत्र, ९।७

५ प्रशमरतिप्रकरण, ८।१४९-५०

६. मूलाचार, द्वादशानुप्रेक्षाधिकार, पृ० १-७६

७ स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, २-३

८. शान्तसुधारस, १।७-८

९. मनोनुशासन, ३।२२

१०. बृहद् द्रव्यसंग्रह, टीका, ३५

११. ज्ञानार्णव, अध्याय २

१२. इम सरीर अणिच्च, असुइ असुइसभव।
असासयावासमिणं, दुक्खकेसाण भायण।—उत्तराध्ययन, १९।१३

है तब कोई भी सबधी उसके दुःख मे हाथ बँटाने नही आता।[1] यहाँ सभी अपनी रक्षा की ही सोचते हैं। बालपन, यौवन एव बुढापा क्रमशः आता है, काल किसी का इन्तजार नही करता और विद्या, मंत्र, औषधि या जड़ी-बूटी से भी किसी का मरण टलता नही है।[2] अतः जीव का एकमात्र सहारा अथवा शरण धर्म ही है। धर्म से ही मोक्षमार्ग की प्राप्ति भी होती है। अत धर्म की शरण मे जाना ही श्रेयस्कर है। इस प्रकार का चिन्तवन करना अशरणानुप्रेक्षा है।

(३) **संसारानुप्रेक्षा**—यह जीव हमेशा यानी जन्म-जन्म मे शरीर धारण करता है और छोडता है। इस प्रकार जन्म-मरण का चक्र हमेशा चलता रहता है। ससार मे सुख लेशमात्र नही है, वह दु खों से भरा है। प्रत्येक जीव ससरण कर रहा है। संसार के स्वरूप का ऐसा चिन्तवन करना ससारानुप्रेक्षा है।[3]

(४) **एकत्वानुप्रेक्षा**—इस ससार मे जीव अकेला ही पैदा होता है और अकेला ही मरता है। सुख, दु ख, रोग, शोक एव वेदना उसी को सहन करनी पडती है।[4] चाहे जितना धन-वैभव, घर-द्वार, पुत्र-कलत्र हो, मरते समय किसी का कोई साथ नही देता। ऐसा चिन्तवन करना एकत्वानुप्रेक्षा है।

(५) **अन्यत्वानुप्रेक्षा**—ससार के सभी पदार्थ मुझसे भिन्न हैं और मैं उनसे भिन्न हूँ। अर्थात् शरीर तथा बाह्य वस्तुओ आदि का चेतन आत्मा से कुछ सबध नही है, क्योकि वे सभी जीव के स्वभाव नही हैं[5], ऐसा चिन्तवन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है।

---

१ पितुर्मातु. स्वसुर्भ्रातुस्तनयाना च पश्यताम्।
अत्राणो नीयते जन्तुः कर्मभिर्यमसद्मनि ॥—योगशास्त्र, ४।६२

२. विद्यामंत्रमहौषधिसेवा, सृजतुवशीकृत-देवा।
रसतु-रसायनमुपचयकरणं, तदपि न मुचति मरणम् ॥—शान्तसुधारस, २।४

३ न याति कतमा योनिं कतमा वा न मुञ्चति।
संसारी कर्मसम्बन्धादवक्रयकुटीमिव ॥—योगशास्त्र, ४।६६

४. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, ७४-७५

५. क्षीरनीरवदेकत्र स्थितयोर्देहदेहिनोः।
भेदो यदि ततोऽन्येषु कलत्रादिषु का कथा।
—पद्मनंदि पंचविंशतिका, ६।४९; योगशास्त्र, ४।७०

(६) **अशुचित्वानुप्रेक्षा**—जिसे हम अपना मानकर चलते है, वह शरीर अनेक दुर्गन्वित पदार्थों से भरा है जिसमे रक्त, मांस, रुधिर, चर्बी आदि भरे हैं।[१] शरीर के प्रति प्रेम अथवा ममत्व रखना व्यर्थ है और फिर यह शरीर भी तो नाशवान् है। शरीर एवं ससार की अशुचिता, अपवित्रता का चिन्तवन करना अशुचित्वानुप्रेक्षा है।

(६) **आस्रवानुप्रेक्षा**—मन, वचन, एवं काय के व्यापार को योग कहते हैं। इसी से शुभ-अशुभ कर्मों का आगमन होता है। मन, वचन, काय के व्यापार ही कर्मों के आस्रव के द्वार हैं।[२] शुभाशुभ कर्मास्रव का चिन्तवन करना आस्रवानुप्रेक्षा है।

(८) **संवरानुप्रेक्षा**—आस्रवो का निरोध अर्थात् कर्मो के आने के मार्गों को वन्द करके साधना की ओर उन्मुख होना ही सवर है। संवर दो प्रकार का है—(१) द्रव्यसवर व भावसंवर। कर्मो के आगमन का रुकना द्रव्यसवर कहा जाता है और भव-भ्रमण की कारणभूत क्रियाओ का स्थान भावसवर है।[3] इस प्रकार संवर का चितवन करना सवारानु-प्रेक्षा है।

(९) **निर्जरानुप्रेक्षा**—पूर्वसंचित अथवा बँधे हुए कर्मो को तप के द्वारा नष्ट करना निर्जरा है। निर्जरा दो प्रकार की है—सकाम-निर्जरा तथा अकाम-निर्जरा। तपस्वी या योगीगण तपस्या द्वारा कर्मों को नष्ट करते है। अत उनके सकाम-निर्जरा होती है। आत्मा के शुद्ध-निर्मल रूप का चिन्तवन करना ही निर्जरानुप्रेक्षा है।[४]

१०. **धर्मानुप्रेक्षा**—इस ससार मे अहिंसा, सयम और तपरूप धर्म उत्कृष्ट मंगल है, जिसे देवता भी नमस्कार करते हैं।[५] साधक चिन्तवन

---

१. असृग्मासवसापूर्णं शीर्णकीकसपञ्जरम्।
शिरानद्ध च दुर्गन्ध क्व शरीरं प्रशस्यते ॥—ज्ञानार्णव, २।१०७

२. मनोवाक्कायकर्माणि योगा. कर्म शुभाशुभम्।
यदाश्रवन्ति जन्तूनामाश्रवास्तेन कीर्तिता: ॥—योगशास्त्र, ४।७४

३. वही, ४।८०

४. ज्ञानार्णव, २।१४०—१४८

५. दशवैकालिक, १।१

करता है कि धर्म ही गुरु और मित्र है, धर्म ही स्वामी और बन्धु है, असहायों का सहज प्रेमी है और रक्षक है। इस प्रकार मुनि क्षमादि दस धर्मो का बार-बार चितवन करता है।[1]

११. लोकानुप्रेक्षा—इस लोक अर्थात् सम्पूर्ण जगत् के स्वरूप का, उसकी स्थिति का विचार करना कि इसको न किसी ने बनाया है और न धारण किया है। यह अनादि अनन्तकाल से स्वयमेव सिद्ध है, तीन वातवलयो से वेष्टित है, निराधार है—यह लोकानुप्रेक्षा है।[2]

१२ बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा—जीव सम्यक्त्व-प्राप्ति के बाद अपने कर्मो को धीरे-धीरे क्षीण करता हुआ मोक्षमार्ग मे अग्रसर होता है।[3] मोक्ष की प्राप्ति दु.साध्य है, क्योकि जन्म-जन्मान्तरो के सचित कर्म शीघ्र क्षय नही होते हैं। चतुर्गति मे भ्रमण करनेवाले जीव के लिए चार बातों की प्राप्ति अति दुर्लभ है—मनुष्यत्व, श्रुति, श्रद्धा एवं संयम में पुरुषार्थ।[4] अतः साधक इन चार दुर्लभ तत्त्वो का सहारा लेकर आत्मस्वरूप की प्राप्ति या ज्ञान-प्राप्ति का पुरुषार्थ करता है। आत्मज्ञान का चिन्तन करना ही बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है।

इस प्रकार इन बारह अनुप्रेक्षाओ अथवा भावनाओ के चिन्तवन से चित्त समभावयुक्त होता है जिनसे कषायो का उपशमन होता है और सम्यक्त्व प्रकट होता है।[5] वैराग्य मे दृढ़ता आती है। ससार सम्बन्धी दु.ख, सुख, पीडा, जन्म-मरण आदि का मनन-चिन्तन करने से वृत्ति अन्तर्मुखी होती है, रागद्वेषमोहादि की भावना क्षीण होती है और आत्म-शुद्धि होती है। इसी कारण इन्हे वैराग्य की जननी कहा है और इनका चिन्तवन महाभाग्यशाली मुनि-योगी करते रहते हैं।

---

१. ज्ञानार्णव, २।१४९-१७०

२ योगशास्त्र, ४।१०४-६

३. वही, ४।१०७-९

४. चत्तारि परमगाणि दुल्लहाणीह जन्तुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा सजमम्मि य वीरिय ॥ —उत्तराध्ययन, ३।१

५. योगशास्त्र, ४।१११

संलेखना

संलेखना श्रमण तथा श्रावक दोनो के लिए समान रूप से शरीर और आत्मा को शुद्ध करनेवाला अन्तिम व्रत है।[1] इसे व्रत न कहकर व्रतान्त कहना ही अधिक उपयुक्त होगा, क्योकि इसमे समस्त व्रतो का अन्त होता है। इसमें जैसे शरीर का प्रशस्त-अन्त अभीष्ट है, वैसे ही व्रतों का भी पवित्र अन्त वांछित है।[2] यदि मरते समय मन मैला रहा तो जीवनभर का यम, नियम, स्वाध्याय, तप, पूजा, दान आदि निष्फल है।[3] अतः मृत्यु सन्निकट आ जाने पर अथवा आचार आदि पालन मे अशक्तता आने पर आहार आदि का त्याग करके प्राणो का उत्सर्ग करना ही सलेखना है। संलेखना शब्द सत् और लेखना शब्दो के योग से बना है, जिसका क्रमशः अर्थ सम्यक् प्रकार से और कृश करना है अर्थात् सम्यक्-प्रकार से कषाय आदि वृतियों को क्षीण करना ही संलेखना है।

संलेखना को आत्महत्या नही कह सकते। वास्तव में जो लोग क्रोधादि कषायो के वशीभूत होकर, रागद्वेषपूर्वक श्वास, जल, अग्नि आदि द्वारा शरीरघात करते हैं, वह आत्मघात कहलाता है[4], परन्तु जो साधक विषयादि से पूर्ण निवृत्त होकर मरणकाल निकट जानकर प्रसन्न रहते हैं वह सलेखना है।[5] अतः इसमे आत्म-हनन का भाव लेशमात्र भी नही। सलेखना मे तो उपवास से शरीर को तथा ज्ञानभावना द्वारा कषायो को कृश किया जाता है।[6] यद्यपि सलेखना धारण करने का

---

१ न इम सव्वेसु भिक्खूसु, न इमं सव्वेसुगारिसु। —उत्तराध्ययन, ५।१९

२. जैन आचार, पृ० १२१

३. उपासकाध्ययन, ८९७, पृ० ३२३

४. यो हि कषायाविष्टः कुम्भकजलधूमकेतुविपशस्त्रैः।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात्सत्यमात्मवध।
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, १७८

५. (क) मरणं पि सपुण्णाणं जहा मेयमणुस्सुय।
विप्पसण्णमणाघायं सजयाणं वुसीमओ॥ —उत्तराध्ययन, ५।१८
न सल्लेखना प्रतिपन्नस्य रागादयः सन्ति ततो नात्मवधदोषः।
—सर्वार्थसिद्धि, ७।२२

६. उपवासादिभिरगे कपायदोपे य बोधिभावनाया।
कृतसल्लेखनकर्मा प्रायाय यतेत गणमध्ये॥ —उपासकाध्ययन, ४५।८९६

कोई समय निर्धारित नही है, तथापि इसे धारण तभी किया जाता है जब शरीर की शक्ति घट जाती है, खाना-पीना छूट जाता है, दूसरा कुछ भी काम करने का उपाय नही रहता और स्वयं शरीर ही समाधि-मरण का आकांक्षी हो जाता है।[1] अत शरीर का निर्जर अथवा पतन होते ही प्रेमपूर्वक संलेखना धारण करना चाहिए।[2] संलेखना के काल में साधक मन में किसी भी प्रकार का मोह न रखे, संसार संबन्धी आशा-आकाक्षा के न रहने पर ही समाधि-मरण सार्थक है। श्रावक ममत्व-रहित होकर समझे कि जन्म-मरण बाह्य शरीरादि का होता है, आत्मा का नही।[3]

सलेखना के पाँच अतिचार हैं[4]— जीने की इच्छा, मरने की इच्छा, मित्रो का स्मरण, भोगे हुए भोगो का स्मरण तथा आगामी भोगो की आकांक्षा। इनसे साधक को बचना चाहिए। सलेखना को समाधि-मरण, पंडितमरण, मरण-समाधि आदि भी कहते है।

परीषह

साधना-अवस्था मे श्रमण अथवा श्रावक के समक्ष तरह-तरह की बाधाएँ, कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं, जिन्हें परीषह अथवा उपसर्ग कहते हैं। अर्थात् मार्ग से च्युत न होने और कर्मों के क्षयार्थं जो सहन करने योग्य हो, वे परीपह हैं।[5] बाईस परीषह इस प्रकार हैं—क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दशमशक, नग्नत्व, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या,

---

१. प्रतिदिवसं विजहद्‌बलमुज्झद्‌भुक्तिं त्यजत्प्रतीकारम्।
वपुरेव नृणा निगिरति चरमचरित्रोदयं समयम्॥
—उपासकाध्ययन, ४५।८९३

२. देहे प्रीत्या महासत्व. कुर्यात्सल्लेखनाविधिम्। —सागारधर्मामृत, ८।१२

३. जन्ममृत्युजरातंका: कायस्यैव न जातु मे।
न च कोऽपि भवत्येष ममेत्यगेऽस्तु निर्ममः॥—वही, ८।१२

४. जीवितमरणाशसे सुहृदनुरागः सुखानुबन्धविधि.।
एते सनिदाना स्यु सल्लेखनहानये पञ्च॥—उपासकाध्ययन, ४५।९०३

५. मार्गाऽच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहा.।—तत्त्वार्थसूत्र, ९।८

आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन।[1]

साधक को इन परीषहों पर विजय प्राप्त करना अनिवार्य है, क्योंकि परीषह-जय के बिना न चित्त की विकलता हटेगी, न मन एकाग्र होगा, न सम्यक् ध्यान होगा और न कर्मों का क्षय ही होगा। परीषह या उपसर्ग प्राकृतिक और देव मानव-तिर्यंचकृत तीनों प्रकार के होते हैं। उपसर्गजन्य पीडा को समभावपूर्वक सहन करने मे साधक यह समझता है कि यह उपसर्ग कर्मक्षय मे सहायक है।

तप का महत्त्व

'तप' दस धर्मांगो मे से एक अंग है। वस्तुत यह योग की एक ऐसी कड़ी है, जिससे साधक समस्त कर्मों की निर्जरा करने में समर्थ होता है। सभी भारतीय धर्म-परम्पराओ मे जीवन के नैतिक तथा सम्यक् उन्नयन के लिए तप की महती प्रतिष्ठा है। तप द्वारा ही कर्म-पाशो (अज्ञान) से साधक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्-चारित्र को प्राप्त होता है। आत्मतत्त्व को ज्ञानस्वरूप जानना ही सम्यग्ज्ञान है तथा इसकी अनुभूति तप से होती है। अत. तपस्या ,भारतीय दर्शन-परम्परा की ही नही, किन्तु उसके सम्पूर्ण इतिहास की प्रस्तावना है। भारतीय सस्कृति मे जो कुछ भी शाश्वत है, जो कुछ भी उदात्त एवं महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, वह सब तपस्या से ही सम्भूत है—प्रत्येक चिन्तनशील प्रणाली चाहे वह आध्यात्मिक हो, चाहे आधिभौतिक, सभी तपस्या की भावना से अनुप्राणित है—वेद, वेदाग, दर्शन, पुराण, धर्मशास्त्र आदि सभी विद्या के क्षेत्र में जीवन की साधनारूप तपस्या के एकनिष्ठ उपासक हैं।[2]

तप की आराधना गृहस्थ एवं साधु दोनो के लिए आवश्यक है। लेकिन गृहस्थ तपस्वी की भाँति तप की कठोर आराधना नही कर

---

१ (क) क्षुत्पिपासाशीतोष्णदशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्या-क्रोशवधयाचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि ।

—वही, ९।९

(ख) देखें, उत्तराध्ययन, अध्ययन २।

२. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग १, पृ० ७१–७२।

सकता, क्योकि व्यावहारिक कर्तव्यों का सम्पूर्ण उच्छेद कर देना उसके लिए संभव नही है। तप का अर्थ ही होता है कर्ममल या संचित कर्म को जलाना या नष्ट करना तथा ऐसी साधना के लिए सर्वांशतः तपस्वी अथवा साधक ही उपयुक्त ठहरते हैं।

अतः तप का उद्देश्य कर्मों को क्षीण करना अथवा नष्ट करना है तथा आत्मतत्त्व की पहचान भी है। वैदिक, बौद्ध एवं जैन तीनो परम्पराओ मे तप का विस्तृत वर्णन मिलता है। यहाँ संक्षेप में तप का विवेचन प्रस्तुत है।

वैदिक परम्परा में तप

वैदिक वाङ्मय में तप का उल्लेख कई स्थलों पर हुआ है। प्राचीन ऋषि-परम्परा तप पर ही विशेष जोर देती है। यही कारण है कि 'तपस्या से ही ऋत और सत्[1] उत्पन्न हुए हैं' तथा 'आत्मा को तप से तेजस्वी करने'[2] जैसे विधान मिलते हैं। यह ठीक है कि वैदिक धर्म मे यज्ञ का प्रचलन विशेष रूप से रहा है, लेकिन परिस्थिति के अनुसार वह ज्ञान तप मे परिवर्तित हो गया।[3] तप प्रथमतः देहदमन के लिए आवश्यक माना जाता रहा, परन्तु जैसे-जैसे आध्यात्मिकता की ओर प्रवृत्ति होने लगी वैसे-वैसे देहदमन के साथ ही साथ इंद्रिय-दमन के अर्थ मे भी तप प्रयोजनीय समझा जाने लगा। यही कारण है कि उपनिषद्काल में 'तप के द्वारा ही ब्रह्म प्रबृद्ध होता है'[4] तथा कहा गया कि ऋत तप है, सत्य तप है, श्रुत तप है, शांति तप है और दान तप है।[5] तपस्वी के लिए तप के साथ श्रद्धा-युक्त होना भी आवश्यक है।[6]

श्रीमद्भगवद्गीता में तप के तीन प्रकार बतलाये गये हैं—दैहिक, वाचिक, तथा मानसिक।[7] दैहिक तप के अन्तर्गत पवित्रता, सरलता

---

१. ऋतं च सत्यं चामीद्धात्तपसोऽध्यजायत्।—ऋग्वेद, १०।१९०।१
२. अजो भागस्तपसा त तपस्व।—वही, १०।१६।४
३. तपसा ब्रह्मविजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति।—तैत्तिरीय आरण्यक, ९।२
४. तपसा चीयते ब्रह्म ...।—मुण्डकोपनिषद्, १।१।८
५. तैत्तिरीय आरण्यक (नारायणोपनिषद्), १०।८
६. तप श्रद्धे ये ह्युपवसन्ति। —मुण्डकोपनिषद् १।२।११
७. भगवद्गीता, १७।१४–१६

तथा ज्ञानीजनों की पूजा-सेवा करने की प्रवृत्ति का होना और वाणी विषयक तप के अन्तर्गत स्वाध्याय, अकषायी तथा सुभाषी होना आवश्यक है। तथा मानसिक प्रसन्नता, भगवद्-चिंतन, शांति, मनोनिग्रह, पवित्रता को मानसिक तप कहा गया है। वही पर आगे तप के सात्विक, राजसिक तथा तामसिक तीन भेद निरूपित हैं, जो साधको के स्वभाव के द्योतक हैं। अहिंसा, सत्य तथा ब्रह्मचर्य का निष्कामभाव से पालन करना सात्त्विक तप है। मान, प्रतिष्ठा या अन्य प्रलोभनवश तप करना राजसिक तप है तथा अपने को तथा दूसरो को भी तप द्वारा पीडा पहुँचाना तामसिक तप है।[1] इस तरह गीता में तप के विभिन्न अंगों का विवेचन करते हुए सात्विक तप को ही श्रेष्ठ तथा आत्मशुद्धि का श्रेष्ठ साधन कहा गया है।

योग-दर्शन मे तप की महत्ता मे कहा है कि तप से शरीर तथा इंद्रियो की शुद्धि एव सिद्धि होती है।[2] वैदिक योग मे तप के अनेक प्रकार एवं विधियाँ बतलायी गयी हैं। चांद्रायण, कृच्छादि तप, सूर्याग्नि तथा जल में खड़े होकर तप करना आदि सभी तपो का उद्देश्य एक ही है कि शरीर का दमन किया जाय, परन्तु शरीर-दमन के साथ ही साथ इन्द्रियविषयों को जीर्ण कराने का भी भाव उसमे निहित है।

बौद्ध-परम्परा में तप

वौद्ध-परम्परा के अनुसार चित्तशुद्धि का सतत प्रयत्न करना ही तप का उद्देश्य है। ब्रह्मचर्य, चार आर्यसत्यों का दर्शन और निर्वाण के साक्षात्कार के साथ तप को भी उत्तम मगल कहा गया है,[3] क्योकि आत्मा की अकुशल चित्तवृत्तियाँ अथवा पापवासनाएँ तप से क्षीण होती हैं।[4] यही कारण है कि बौद्ध आगमिक साहित्य मे तपस्या का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है।[5] बुद्ध ने भी प्रारम्भ मे शरीरदमन के लिए तप

---

१. वही, १७।१७–१९

२. कार्येंद्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः। —योगदर्शन, २।४३

३. तपो च ब्रह्मचरियं च, अरियसच्चान दस्सनं।
निब्बाण सच्छिकिरिया च एतं मंगलमुत्तमं ॥—महामंगलसुत्त, १०

४. बुद्धलीलासारसंग्रह, पृ० २८०–८१

५. दीघनिकाय, ३।२, मज्झिमनिकाय, १।२।२

साधना की थी, परन्तु जब उन्हें उससे समाधान नही हुआ, तब उन्होंने मध्यममार्ग का प्रतिपादन किया। अतः बुद्ध की तपस्या में शारीरिक यत्रणा का भाव नही था, किन्तु वह सर्वथा सुखसाध्य भी नही थी। जैसा कि डा० राधाकृष्णन् ने लिखा है, सैद्धान्तिक रूप मे बुद्ध ने तप के बिना भी निर्वाण-प्राप्ति की सभावना को स्वीकार किया है, किन्तु व्यावहारिक रूप मे वे प्रायः सबके लिए तप की आवश्यकता मानते हैं।[१]

बौद्ध-परम्परा मे तप का वर्गीकरण इस प्रकार निर्दिष्ट है—यथा, (१) जो आत्मन्तप है परन्तु परन्तप नही है, (२) दूसरा वह जो परन्तप है परन्तु आतमन्तप नही, (३) तीसरा आत्मन्तप भी है और परन्तप भी है तथा (४) चौथा वह जो आत्मन्तप भी नही और परन्तप भी नही है। इस तरह भगवान् बुद्ध ने चौथे प्रकार के तप का प्रतिपादन करते हुए मध्यममार्ग के अनुसार उसका आचरण करने को कहा है।[२]

जैन-परम्परा में तप

जैन-साधना का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति है और इसके लिए तप को विशेष साधन कहा गया है, क्योकि तप से समस्त कर्मो की निर्जरा होती है।[३] यही कारण है कि तप का विशेष वर्णन जैन आगमो एवं अन्य ग्रंथो मे दृष्टिगोचर होता है।

श्रावक तथा श्रमण दोनो के लिए तप का विधान है, क्योकि तप से शरीर एवं इद्रियो का सयम सधता है। स्वभावतः इन्द्रियाँ चंचल होती हैं तथा वैराग्य एवं अध्यात्म की ओर उन्मुख होने के बदले विषय-वासना की ओर अधिक दौड़ती हैं। लालसा, तृष्णा, इच्छा आदि अनत और अमर्यादित हैं। और इनकी जितनी ही पूर्ति की जाती है, उतनी ही ये उग्र बनती जाती हैं। इनके वशीभूत मनुष्य कभी भी शाति प्राप्त नही कर सकता। इसलिए इनके नियंत्रण के लिए सामर्थ्य के अनुसार जो शारीरिक कष्ट उठाया जाता है, वही तप है।[४] दूसरे शब्दो मे तप से

---

१. Indian Philosophy, Radhakrishnan, Vol. I, p 436

२. मज्झिमनिकाय, २।५।४, २।१।१

३. तपसा निर्जरा च।—तत्त्वार्थसूत्र, ९।३

४. अनिगूहितवीर्यस्य मार्गाविरोधि कायक्लेशस्तपः।—सर्वार्थसिद्धि, ६।२४

आत्मा परिशुद्ध होती है।[1] अतः तप वह विधि है, जिससे जीव बद्ध कर्मों का क्षय करके व्यवदान-विशुद्धि को प्राप्त होता है।[2]

तप के भेद—जैन-आगम के अनुसार तप दो प्रकार का है[3]—(१) बाह्य और (२) आभ्यन्तर। बाह्य तप का उद्देश्य शारीरिक विकारों को नष्ट करना तथा इन्द्रियो पर जय प्राप्त करना है और आभ्यंतर तप के द्वारा कषाय, प्रमाद आदि विकारो को नष्ट किया जाता है। बाह्य तप आंतरिक तप में सहायक या पूरक होते हैं। बाह्यतपो से इंद्रिय-विषयो की तृष्णा मंद होती है और फिर क्रमशः जब आत्म-शक्ति बढती है तो आंतरिक शुद्धि होती है। इन दोनो प्रकार के तपो का सम्यक् रूप से पालन करनेवाला पडितमुनि शीघ्र ही सर्वसंसार से मुक्त हो जाता है।[4]

शरीर को कष्ट देना आत्मघात नही है, क्योंकि उसके पीछे इंद्रियों के दमन का उद्देश्य निहित है। शरीर को कष्ट देना इसलिए भी जरूरी है कि तपावस्था मे किसी भी प्रकार के उपद्रव या संकट के आ जाने पर साधक देहेन्द्रियो पर विजय प्राप्त कर उपस्थित शारीरिक, प्राकृतिक अथवा अन्यकृत पीड़ा अथवा कष्ट को सहन करने में समर्थ हो सके। इस संदर्भ मे ध्यातव्य है कि तप मे मन हमेशा पवित्र रहे तथा इन्द्रियो की विकार-शक्तियो का ह्रास हो एव दैनिक चर्या मे शिथिलता न आने पाये। जैन-परम्परा में इसे 'समत्वयोग की साधना' कहा गया है और यही समत्वयोग समष्टि की दृष्टि से अथवा आचरण के व्यावहारिक क्षेत्र में अहिंसा कहलाती है और यही अहिंसा निषेधात्मक रूप मे तप बन जाता है।[5]

---

१. तवेण परिसुज्झई।—उत्तराध्ययन, २८।३५

२ तवेण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? तवेण वोदाण जणयइ।
—वही, २९।२८

३ सो तवो दुविहो वुत्तो वाहिरब्भतरो तहा।—वही, ३०।७

४. एय तव तु दुविहं, जे सम्म आयरे मुणी।
से खिप्पं सव्वससारा, विप्पमुच्चई पडिए॥—वही, ३०।३७

५ जिनवाणी, अगस्त-सितम्बर, १९६६, वर्ष २३, अंक ८-९, पृ० ९९

बाह्यतप

बाह्यतप छह प्रकार का है—(१) अनशन, (२) अवमौदर्य, (३) वृत्तिपरिसंख्यान, (४) रसपरित्याग, (५) विविक्तशय्यासन, तथा (६) कायक्लेश।[1]

१. अनशन—विशिष्ट अवधि तक या आजीवन सब प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन है। अनशन की अवधि एक या दो अथवा तीन दिनो की भी हो सकती है अर्थात् अपनी सामर्थ्य के अनुसार साधक लम्बी अवधि तक का भी अनशन कर सकता है। इसे उपवास भी कहते हैं।

२. अवमौदर्य या ऊनोदरी—किसी विशेष स्थान या समय पर जितनी भूख हो उससे कम आहार ग्रहण करना ऊनोदरी या अवमौदर्य तप है।

३ वृत्तिपरिसंख्यान—विविध वस्तुओं की लालसा कम करना, वस्तुओ की सख्या की मर्यादा करना वृत्तिपरिसख्यान तप है।

४. रसपरित्याग—दूध, घी, मक्खन, मधु आदि गरिष्ठ विकारवर्धक पदार्थों का त्याग करना रस-परित्याग है। प्रतिदिन एक-एक रस का परित्याग भी किया जाता है। स्वादेन्द्रिय-विजय का अपना महत्त्व है।

५. विविक्तशय्यासन—अपने ध्यान अथवा तप में बाधा उत्पन्न होने की आशका से बाधारहित एकान्त स्थान मे रहना अथवा तप करना प्रतिसलीनता तप है, क्योकि इसका अर्थ 'गोपन रखना' ही है। इसके चार भेद हैं[2]—(१) इद्रिय प्रतिसलीनता (२) कषाय प्रतिसंलीनता (३) योग प्रतिसंलीनता तथा (४) विविक्तशय्यासन।

६ कायक्लेश—ठंढ, गरमी, अथवा विविध आसनो द्वारा शरीर को कष्ट पहुंचाना कायक्लेश तप है।[3]

---

१. (क) अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तप.।—तत्त्वार्थसूत्र, ९।१९
(ख) अनशनमौनोदर्यं वृतेः संक्षेपणं तथा।
रसत्यागस्तनुक्लेशो लीनतेति बहिस्तप ॥—योगशास्त्र, ४।८९

२. ठाणांग, ६।५११, प्रवचनसारोद्धार, २७०-७२

३. तत्त्वार्थराजवार्तिक, ९।१९, तत्त्वार्थसूत्र (प० सुखलालजी), पृष्ठ २११

ये सब बाह्यतप खाद्य एवं स्वाद्य पदार्थों की अपेक्षा से वर्णित हैं, क्योंकि साधक स्वाभिप्राय के अनुसार उनका सेवन करते हैं। बाह्यतप से जहाँ पाँचों इन्द्रियों की विषयवासना क्षीण होती है, वहाँ चित्त के आंतरिक विकारों के परिशमन में भी मदद होती है।

आभ्यन्तरतप

आभ्यंतरतप से आत्म-परिणामों में विशुद्धि आती है। अतिशय कर्मों को नष्ट करने में समर्थ तप को आभ्यंतरतप कहते हैं।[1] आभ्यंतर तप भी छह प्रकार का है—(१) प्रायश्चित, (२) विनय, (३) वैयावृत्य, (४) स्वाध्याय, (५) व्युत्सर्ग तथा (६) ध्यान।[2]

१. प्रायश्चित-तप—किसी व्रत-नियम के भंग होने पर उसमें लगे दोष का परिहार करना अथवा गुरु के समक्ष चित्तशुद्धि के लिए दोषों की आलोचना करना और उसके लिए प्रायश्चित स्वीकार करना प्रायश्चित तप है।[3]

इस प्रायश्चित तप के भी नौ भेद हैं, जैसे—(१) आलोचना, (२) प्रतिक्रमण, (३) तदुभय, (४) विवेक, (५) व्युत्सर्ग, (६) तप, (७) छेद, (८) परिहार और (९) उपस्थापना।[4]

---

१. अतिशयेन कर्मनिर्दहन् समर्थरूपत्वमाभ्यन्तर तपसो लक्षणम् :
—आर्हत्दर्शनदीपिका, ६९२

२. (क) प्रायश्चित्तं वैयावृत्त्य स्वाध्यायो विनयोऽपि च।
व्युत्सर्गोऽथ शुभ ध्यानं षोढेत्याभ्यन्तरं तप.॥
—योगशास्त्र, ४।९०;

(ख) प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम्।
—तत्त्वार्थसूत्र, ९।२०

३. (क) प्रमाददोष परिहार प्रायश्चित्तम्।—सर्वार्थसिद्धि, पृ० ४७८

(ख) बाहुल्येन चित्तशुद्धि हेतुत्वात् यत् प्रायश्चित्तं।
—तत्त्वार्थसूत्र, (हरिभद्र), पृ० ४७८

(ग) योगशास्त्र, स्वोपज्ञवृत्ति, पृ० ८६०

४ आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारोपस्थापनानि।
—तत्त्वार्थसूत्र, ९।२२

(क) **आलोचना**—व्रत की मर्यादा का उल्लंघन होने पर, गुरु के पास जाकर, दोष स्वीकार करना तथा उसके बदले नया व्रत ग्रहण करना।

(ख) **प्रतिक्रमण**—हो चुकी भूल का अनुताप करके उससे निवृत्त होना और नयी भूल न हो उसके लिए सावधान रहना।

(ग) **तदुभय**—उक्त आलोचन और प्रतिक्रमण दोनो साथ-साथ करना।

(घ) **विवेक**—खाने-पीने आदि की यदि अकल्पनीय वस्तु आ जाय और बाद मे पता चले तो उसका त्याग करना या वस्तु की शुद्धता-अशुद्धता का विचार करना।

(च) **व्युत्सर्ग**—एकाग्रतापूर्वक शरीर और वचन के व्यापारो को छोड़ना।

(छ) **तप**—अनशनादि बाह्य तप करना।

(ज) **छेद**—दोष के अनुसार दिवस, पक्ष, मास या वर्ष की प्रव्रज्या (दीक्षा) कम करना।

(झ) **परिहार**—दोषपात्र व्यक्ति से दोष के अनुसार पक्ष, मास आदि पर्यन्त किसी प्रकार का संसर्ग न रखकर उसे दूर से परिहरना।

(ट) **उपस्थापन**—अहिंसादि व्रतो का भंग हो जाने पर शुरू से उन महाव्रतों का आरोपण करना।[1]

२. **विनय-तप**—अपने से वरिष्ठ गुरु अथवा आचार्यों का आदर करना तथा उनकी आज्ञा का पालन करना विनय तप है।[2] इसके भी चार भेद हैं—(क) ज्ञान, (ख) दर्शन, (ग) चारित्र और (घ) उपचार।[3]

निम्न ग्रंथो मे प्रायश्चित्त के दस भेदो का वर्णन है—उत्तराध्ययन, ३०।३१; स्थानांग, ७३३, भगवतीसूत्र, २५।७।८०१; जीतकल्प मे इस प्रकार कहा गया है :

तं दसविहमालोयण-पडिकमणो-भय-विवेग-वोस्सग्गा।
तव-छेद-मूल-अणवठ्या य पारचियं चेव॥—जीतकल्प, ४

१. तत्त्वार्थसूत्र (पं० सुखलालजी), पृष्ठ २२०

२. पूज्येष्वादरो विनयः।—सर्वार्थसिद्धि, पृ० ४३९

३ ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः।—तत्त्वार्थसूत्र, ९।२३

(क) **ज्ञान**—ज्ञान प्राप्त करना, उसका अभ्यास जारी रखना और भूलना नही। हरिभद्र ने मति, श्रुत, अवधि, मन.पर्यय तथा केवलज्ञान को ज्ञान विनय कहा है।[1]

(ख) **दर्शन**—तत्त्व की यथार्थ प्रतीतिस्वरूप सम्यग्दर्शन से विचलित न होना, उसके प्रति उत्पन्न होनेवाली शंकाओ का निवारण करके नि शंकभाव की साधना करना।

(ग) **चारित्र**—सामाजिक आदि चारित्रो में चित्त का समाधान रखना।

(घ) **उपचार**—अपने से सद्ग्रथो मे श्रेष्ठ आचार्यों के समक्ष उठने, बैठने, बोलने, नमस्कार करने आदि क्रियाओ मे आदर एव नम्रतापूर्वक वर्तन करना, वन्दन करना आदि।[2]

३. **वैयावृत्त्य-तप**—शरीर से अथवा योग्य साधनो को जुटाकर उपासना-भाव से गुरु, मुनि, वृद्ध व रोगी साधक आदि की सेवाशुश्रुषा करना वैयावृत्त्य तप है।[3] इस तप के भी दस भेद हैं—(क) आचार्य, (ख) उपाध्याय, (ग) तपस्वी, (घ) शैक्ष्य, (च) ग्लान, (छ) गण, (ज) कुल, (झ) संघ, (ट) साधु और (ठ) मनोज्ञ।[4]

(क) **आचार्य**—व्रत और आचार ग्रहण करानेवाला तथा चतुर्विध सघ को अनुशासित करनेवाला।

(ख) **उपाध्याय**—श्रुताभ्यास करानेवाला।

(ग) **तपस्वी**—महान् एव उग्र तप करनेवाला।

(घ) **शैक्ष्य**—नवदीक्षित होकर श्रुत का अध्ययन करनेवाला शिक्षार्थी।

---

१ (क) श्रीतत्त्वार्थसूत्रम्, (हरिभद्र), पृ० ४८२-८३

(ख) स्थानागसूत्र मे इसके सात भेद हैं—(१) ज्ञान, (२) दर्शन, (३) चारित्र, (४) मनोविनय, (५) वचनविनय, (६) कायविनय तथा (७) लोकोपचार विनय।—स्थानागसूत्र, ५८५

२ सर्वार्थसिद्धि, पृ० ४४२, तत्त्वार्थसूत्र (पं० सुखलालजी), पृष्ठ २२०

३. कायचेष्टया द्रव्यान्तरेण चोपासनं वैयावृत्त्यम्। —सर्वार्थसिद्धि, पृ० ४३९

४. आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षकग्लानगणकुलसघसाधुसमनोज्ञानाम्।

—तत्त्वार्थसूत्र, ९।२४

(च) **ग्लान**—रोग आदि से क्षीण साधक।

(छ) **गण**—भिन्न-भिन्न-आचार्यों के सहाध्यायी शिष्यों का समुदाय या संघ।

(ज) **कुल**—एक ही दीक्षाचार्य का शिष्य-परिवार।

(झ) **संघ**—धर्म का अनुयायी समुदाय संघ है, जो साधु और साध्वी, श्रावक और श्राविका के रूप मे चतुर्विध है।

(ट) **साधु**—संयम का पालन करनेवाला प्रव्रजित मुनि।

(ठ) **समनोज्ञ**—ज्ञान आदि गुणों मे समान या समानशील।[1]

४. **स्वाध्याय-तप**—ज्ञान-प्राप्ति के लिए आलस तजकर अध्ययन करना स्वाध्याय तप है।[2] ज्ञान प्राप्त करने, उसे सन्देहरहित, विशद और परिपक्व बनाने एवं उसका प्रचार करने का प्रयत्न भी स्वाध्याय है। अतः अभ्यास-शैली के क्रमानुसार यह तप भी पाँच प्रकार का है—(क) वाचना, (ख) प्रच्छना, (ग) अनुप्रेक्षा, (घ) आम्नाय तथा (च) धर्मोपदेश।[3]

(क) **वाचना**—शब्द या अर्थ का पहला पाठ लेना।

(ख) **प्रच्छना**—जिनागमो के बारे मे संशय निवारणार्थ, अथवा विशेष निर्णय के लिए पूछना।

(ग) **अनुप्रेक्षा**—आत्म-स्वरूप का, शब्द और अर्थ का चिंतन-मनन करना।

(घ) **आम्नाय**—सीखी गयी वस्तु का, शास्त्र का शुद्धिपूर्वक बार-बार उच्चारण करना।

(च) **धर्मोपदेश**—अनपढ़ अथवा अल्पज्ञानी लोगो के कल्याण के लिए उपदेश द्वारा धार्मिक वातावरण निर्माण करना, धर्म की प्रभावना करना।

५. **व्युत्सर्ग**—अहकार, ममकार आदि सभी उपधियो का त्याग

---

१. सर्वार्थसिद्धि, पृ० ४४२, विविध अर्थ के लिए देखें हरिभद्र का—श्रीतत्त्वार्थसूत्रम्, सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्रम्।

२ ज्ञानभावनाऽऽलस्यत्यागः स्वाध्याय.।—सर्वार्थसिद्धि, पृ० ४३९

३. वाचनाप्रच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशा ।—तत्त्वार्थसूत्र, ९।२५

करना व्युत्सर्ग तप है।[1] इसके भी दो भेद हैं—(क) बाह्य और (ख) आभ्यंतर।[2] धन, धान्य, मकान आदि बाह्य वस्तुओं की ममता का त्याग करना बाह्योपधि व्युत्सर्ग है। शरीर की ममता का त्याग करना एवं काषायिक विकारों की तन्मयता का त्याग करना आभ्यंतरोपधि व्युत्सर्ग है।

६. ध्यान—चित्त की चचल वृत्तियों का परित्याग करके एक विषय में अन्तःकरण की वृत्ति को स्थापित करना ध्यान-तप है।[3] इस तप के बहुत-से भेद-प्रभेद हैं, जिनके सबंध मे आगे विचार किया जायेगा।

इस संदर्भ मे ज्ञातव्य है कि तप के भी बहुत भेद-प्रभेद हैं, जिनका उल्लेख करना यहाँ अभीष्ट नही है।[4]

इस तरह वैदिक, बौद्ध एव जैन तीनों ही परम्पराओ मे तप का

---

१. आत्माऽऽत्मीयसकल्पत्यागो व्युत्सर्गः।—सर्वार्थसिद्धि, पृ० ४३९

२. बाह्याभ्यन्तरोपध्यो.।—तत्त्वार्थसूत्र, ९।२६

३. चित्तविक्षेपत्यागो ध्यानम्।—सर्वार्थसिद्धि, पृ० ४३९

४. योगबिंदु मे हरिभद्र ने चार प्रकार के तप का उल्लेख किया है—

(क) चाद्रायण, कृच्छ्र, मृत्युघ्न और पापसूदन।—योगबिंदु, १३१

(ख) तपोरत्नमहोदधि मे तो तप के बहुत प्रकार गिनाये हैं जो कि देखने योग्य हैं।

(ग) स्थानागसूत्र में—(१) उग्रतप, (२) घोरतप, (३) रसपरित्याग तथा (४) जितेन्द्रिय प्रतिसलीनता, इस तरह चार तप कहे गये हैं।—स्थानाग, ३०८

(घ) भगवतीसूत्र श० २५, उद्दे० ७,

(च) प्रकीर्णक तप के अनेक भेद हैं, यथा—चन्द्रप्रतिभ तप के दो भेद हैं—यवमध्य और वज्रमध्य। आवली के तीन भेद हैं—कनकावली, रत्नावली और मुक्तावली। सिंह-विक्रीडित के दो भेद हैं—लघु और महान। प्रतिमा के चार भेद हैं—भद्रोत्तर, आचाम्ल, वर्धमान और सर्वतोभद्र। भिक्षु प्रतिमा के बारह भेद हैं—मासिक से लेकर सप्तमासिकी तक सात भेद, सप्तरात्रिकी के तीन भेद, अहोरात्रिकी और एक रात्रिकी।

(देखिए—सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्रम्, पृ० ३९१)

विधान है। तप का उद्देश्य कायक्लेश अथवा देहदमन नही है, बल्कि इद्रिय-वृत्तियो का सयम तथा मन की शुद्धि करना है। वैदिक योग में वर्फ मे वैठने, नदियो मे घटो खडे रहने, एक पैर पर खड़े रहने, पचाग्नि में तपना, महीनो केवल पानी पीकर उपवास करना, धूप मे तप करना आदि बहुत प्रकार के तप गिनाये गये हैं, जिनकी गणना तामसिक तथा राजसिक तपो में की गयी है। योग मे ऐसे तपो को निन्द्य बताया गया है, क्योकि इससे शरीर एव इन्द्रियाँ अनेक रोगो की शिकार बन जाती हैं। बौद्ध योग में भी इस प्रकार के तप अमान्य हैं। जैन योग मे भी बाह्य और आभ्यंतर तपो का विधान है, जिनका विवेचन ऊपर कर चुके हैं। इस प्रकार सभी योग-परम्पराओ मे तप द्वारा शरीर, इन्द्रियो के विषय, प्राण, मन को उचित रीति से नियन्त्रित करने की बात कही गयी है। आत्म-विकास एवं शुद्धिकारक तप से संचित कर्मो का नाश, विषय-वृत्तियो का क्रमश. शमन तथा अनेक प्रकार के दुःख-सुख, गर्मी-ठण्ड, भूख-प्यास, मान-अपमान आदि वृत्तियो पर नियंत्रण प्राप्त होता है और योगसाधना मे मदद होती है। ऐसे तप से अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, ऐसा भी कहा गया है।

आसन

यौगिक क्रियाओ की निष्पन्नता अथवा चित्त-स्थिरता के लिए आसनो का महत्त्व है, क्योकि आसन मे शरीर तथा मन अन्य चेष्टाओ से रहित होकर किसी एक दशा में केंद्रित हो जाते हैं। यही कारण है कि आसनो के द्वारा सकल्प-शक्ति को विकसित करके वांछित परिणाम प्राप्त किये जाते हैं। अत आसन मन तथा शरीर दोनों को काबू में करके आत्मा को शक्तिशाली बनाने का साधन है और यही मन एवं शरीर पर अधिकार प्राप्त करना योग का आधार है।[1]

उपनिषदो में आसनों का वर्णन मिलता है।[2] भगवद्गीता मे वर्णन

---

१. योगमनोविज्ञान, पृ० १९०

२. (क) तस्मा आसनमाहृत्य। —बृहदारण्यकोपनिषद्, ६।२।४;
(ख) तेषा त्वया सनेऽऽन प्रश्वसितव्यम्। —तैत्तिरीयोपनिषद्, १।११।३

है कि आसन के द्वारा मन स्थिर होता है।[1] भागवतपुराण में भी स्थान-स्थान पर आसन का वर्णन है।[2] पातंजल-योग के अनुसार सुख-पूर्वक अधिकतम समय तक स्थिर होकर बैठना ही ध्यान है।[3] यह भी कहा गया है कि जो आसन स्थिर तथा सुखद हो, वही करना चाहिए। ऐसे आसनों में पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिकासन, दण्डासन, सोपाश्रय, पर्यंकासन आदि आसनों का वर्णन है।[4] हठयोग के अनुसार आसनों का मुख्य कार्य शरीर को स्वस्थ बनाना, आलस्य दूर करना, तथा शरीर के भारीपन को दूर करना भी है।[5] आसन के साथ ही साथ हठयोग में विभिन्न मुद्राओं का भी निरूपण हुआ है, जो आसन के अंगीभूत साधन हैं।

बौद्धयोग-साधना में भी आसनों का महत्त्व है तथा पर्यंकासन को सबसे उत्तम माना गया है। इस आसन के विषय में बताया गया है कि बायीं जांघ पर दाहिना पैर रखना चाहिए तथा दाहिनी जांघ पर बायां पैर रखना चाहिए। ऐसा ही लक्षण पद्मासन का है। इसमें बुद्धासन, सिद्धासन, वज्रासन का भी वर्णन है।[6]

जैन-परम्परा में यद्यपि चित्त की स्थिरता के लिए अमुक आसन का ही प्रयोग करना चाहिए—ऐसा कोई नियम नहीं है, परन्तु जिस आसन द्वारा मन स्थिर होता है उसी आसन का उपयोग ध्यान-साधना के लिए उपयुक्त माना गया है।[7] इस तरह जिन-जिन आसनों के द्वारा दीर्घकाल

---

१. स्थिरमासनमात्मनः। —भगवद्गीता, ६।११; ६।१२, ११।४२
२. श्रीमद्भागवतपुराण, २।१।१६; ३।२८।८; ४।८।४४
३. स्थिर सुखमासनम्। —योगदर्शन, २।४६
४. योगदर्शन व्यासभाष्य, पृ० ४८०
५. घेरण्डसंहिता, २।२-६
६. (क) Tibetan Yoga and Secret Doctrines, p 184–85
   (ख) बौद्धदर्शन, पृ० २३
७ जायते येन येनेह विहितेन स्थिरं मनः।
   तत्तदेव विधातव्यमासनं ध्यान साधनम्॥ —योगशास्त्र, ४।१३४

तक ध्यान अथवा तप सहजतया करना संभव है, उन-उन आसनों का विस्तृत निर्देश भी है।[1]

आचार्य हेमचन्द्र ने पर्यंकासन, वीरासन, वज्रासन, भद्रासन, दण्डासन, उत्कटिकासन, गौदोहिकासन तथा कार्योत्सर्गासन का उल्लेख किया

---

१. (१) पर्यंकासन—दोनो जंघाओ के निचले भाग को पैरो के ऊपर रखने पर तथा दाहिना और बायाँ हाथ नाभि के पास ऊपर दक्षिण-उत्तर मे रखना 'पर्यंकासन' है।

(२) वीरासन—बायां पैर दाहिनी जाघ पर और दाहिना पैर बायी जांघ पर रखना वीरासन है। इसकी दूसरी विधि इस तरह है—एक पैर को पृथ्वी पर रखना और दूसरा पैर घुटने को मोड़कर उसके ऊपर रखते हुए स्थित रहना।

(३) वज्रासन—वीरासन के पश्चात् वज्र की आकृति की तरह दोनो हाथो को पीछे रखकर क्रमशः बायें, दाहिने पैर के अंगूठे पकडने पर जो आकृति बनती है वह वज्रासन है।

(४) पद्मासन—एक जाँघ के साथ दूसरी जाँघ को मध्य भाग मे मिलाकर रखना पद्मासन है। अर्थात् वज्रासन की विधि मे स्थित होकर हृदय के चार अंगुल के बीच मे दाढी के अग्रभाग को रखना और नासिका के अग्रभाग का निरीक्षण करते हुए स्थित रहना पद्मासन है।

(५) भद्रासन—दोनो पैरो के तलभाग वृषण-प्रदेश मे—अण्डकोषो की जगह एकत्र करके, उनके ऊपर दोनो हाथो की अगुलियाँ एक दूसरी अंगुली मे डालकर रखना भद्रासन है।

(६) दण्डासन—जमीन पर बैठकर इस प्रकार पैर फैलाना कि अंगुलियाँ, गुल्फ और जांघें जमीन के साथ लगी रहे। इसे दण्डासन कहा गया है।

(७) उत्कटिक और गौदोहासन—जमीन से लगी हुई एडियो के साथ जब दोनो नितम्ब मिलते हैं, तब उत्कटिक आसन होता है और जब एडियाँ जमीन से लगी हुई नही होती, तब वह गौदोहासन कहलाता है।

(८) कायोत्सर्गासन—दोनो भुजाओ को नीचे लटकाकर स्थित होना अथवा बैठकर या शारीरिक कमजोरी की अवस्था में लेटकर सभी प्रकार का व्यामोह छोडकर स्थिर होना कायोत्सर्गासन है। इसकी विशेषता यह है कि इस आसन मे किसी प्रकार की कायिक या मानसिक क्रिया नही होती।

है।[1] साथ ही आम्रकुब्जासन, क्रौंचासन, हंसासन, अश्वासन, गजासन, आदि आसनो का भी उल्लेख है, परन्तु दण्डासन का नामोल्लेख तक नही है। ज्ञानार्णव[3] तथा उपासकाध्ययन[4] मे वर्णित सुखासन का जो सामान्य रूप है वह योगशास्त्र तथा अमितगतिश्रावकाचार[5] मे वर्णित पर्यंकासन से मिलता-जुलता है।

सुखासन गृहस्थ तथा साधु दोनो के लिए है। प्रथमतः पद्मासन लगाकर बैठना, तत्पश्चात् बायी हथेली के ऊपर दायी हथेली रखना। ऐसी अवस्था मे दृष्टि सम हो, शरीर तना हुआ तथा सरल हो। खड्गासन मे दोनो पैरो के बीच चार अगुल का अन्तर होना चाहिए। सिर, गर्दन स्थिर हो, एडी, घुटने, भ्रकुटि, हाथ और आँखे समान रूप से निश्चल हो। साधक न तो खाँसे तथा न खुजली खुजाये। यहाँ तक कि उसे ओठ का चलाना, शरीर का कँपाना, बोलना, मुस्कराना, दूर तक देखना, कटाक्ष करना, पलक का हिलाना वर्जित है। साधक अपनी दृष्टि नासाग्रभाग पर स्थिर रखे। यह भी उल्लिखित है कि यह ध्यान-विधि हृदय में चचलता, तिरस्कार, मोह और दुर्भावना के न होने पर तथा तत्त्वज्ञान के होने पर ही सुलभ होती है।

प्राणायाम

योगसाधना मे प्राणायाम नितान्त आवश्यक है और इसके लिए आसन का सिद्ध होना भी अपेक्षित है, क्योकि प्राण का नियन्त्रण मन के नियत्रण के लिए तथा मन का नियन्त्रण आध्यात्मिक विकास के लिए आवश्यक है। आसन-सिद्धि के बाद मन की चचलता दूर हो जाती है और श्वास-प्रश्वास की स्वाभाविक गति का नियत्रण कर मन की

---

१. (क) पर्यंक-वीर-वज्राब्ज-भद्र-दण्डासनानि च।
उत्कटिका-गोदोहिका कायोत्सर्गस्तथासनम्॥ —योगशास्त्र, ४।१२४
(ख) स्थानाग, ३९६–४९०; बृहत्कल्पसूत्र, पृ० १५७०

२. योगशास्त्र, स्वोपज्ञटीका, ४।१२४

३ ज्ञानार्णव, २६।११

४. उपासकाध्ययन, ३९।७३३–३७

५. अमितगतिश्रावकाचार, ८।४६

वृत्तियो को पूर्णत· केन्द्रित करने मे साधक सफल होता है। श्वास-प्रश्वास को स्वाभाविक गति के अभाव को ही प्राणायाम कहते हैं और इसकी गति के व्युच्छेद के साथ-साथ चित्त की गति का भी व्युच्छेद होना यथार्थ प्राणायाम है।[१]

ऐतरेयोपनिषद्[२] मे प्राण (श्वास) एव अपान (प्रश्वास) का वर्णन मिलता है। उपनिषदो[३] मे तो इस शब्द के विभिन्न संदर्भों पर प्रकाश डाला गया है।

गीता के अनुसार प्राण का नियंत्रण ही प्राणायाम है। अर्थात् प्राण-वायु को अपान मे अथवा अपानवायु को प्राणवायु मे ले जाना और इन दोनो की गति को अवरुद्ध करना ही प्राणायाम है।[४] इन्ही शब्दो का प्रकारान्तर से समर्थन करता हुआ पातजल योग-दर्शन भी 'आसन स्थिर होने पर श्वास-प्रश्वास की गति रोकने' को प्राणायाम कहता है।[५] इसके चार भेद भी निर्देशित हैं—(१) बाह्यवृत्तिक, (२) आभ्यतरवृत्तिक, (३) स्तम्भवृत्तिक, तथा (४) बाह्यातर विषयाक्षेपि।[६] बताया गया है कि इन्ही से चित्त-संस्कारो को स्थिर बनाकर अविद्या आदि क्लेशो को नष्ट करके विवेकख्याति की प्राप्ति होती है।[७]

शिवसहिता[८] मे श्वासोच्छ्वास की मात्रा पर आधृत प्राणायाम के पूरक, कुम्भक और रेचक इन तीन प्रकारो का वर्णन प्राप्त होता है।

---

१. योगमनोविज्ञान, पृ० १९१

२ ऐतरेयोपनिषद्, ३

३ अमृतनादोपनिषद्, ६-१४, त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, ९४–१२९; योगकुण्डल्युपनिषद्, १९-३९, योगचूडामणि, ९५-१२१; योगशिखोपनिषद्, ८६-१०० आदि।

४. अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणा: ॥ —भगवद्गीता, ४।२९

५ तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायाम·। —योगदर्शन, २।४९

६. वही, २।५०-५१

७ तत· क्षीयते प्रकाशाऽऽवरणम्। —वही, २।५२

८ शिवसहिता, ३।२२-२३

घेरण्डसंहिता[1] मे कुम्भक प्राणायाम के आठ भेद उल्लिखित हैं; यथा—(१) सहित, (२) सूर्यभेदी, (३) उज्जायी, (४) शीतली, (५) भस्त्रिका, (६) भ्रामरी, (७) मूर्च्छा तथा (८) केवली। 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' के अनुसार प्राण की स्थिरता प्राणायाम है और इसके रेचक, पूरक, कुम्भक और सघट्टीकरण ये चार प्रकार हैं।[2] इनसे पाप एवं दु.ख का नाश होता है, तेज एवं सौंदर्य बढता है, दिव्यदृष्टि, श्रवणशक्ति, कामाचारशक्ति, वाक्शक्ति आदि शक्तियाँ प्राप्त होती हैं।[3] इस प्रकार प्राणायाम से अनेक सिद्धियो की प्राप्ति होती है।

बौद्ध-दर्शन में प्राणायाम को आनापानस्मृति कर्मस्थान कहा गया है।[4] आन का अर्थ है सास लेना और अपान का अर्थ है सास छोड़ना। इन्हे आश्वास-प्रश्वास भी कहते हैं।[5] कर्मस्थान[6] ४० हैं और इन्ही कर्म-स्थानो की भावना कर सभी बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध तथा बुद्ध श्रावको ने विशेष फल प्राप्त किया था।[7]

जैन-परम्परा में प्राणायाम के सबंध मे दो मत मिलते हैं। एक मत के अनुसार, प्राण का निरोध करने से शरीर में व्याकुलता उत्पन्न होती है और मन भी विचलित हो जाता है, जिससे मन स्वस्थ तथा स्थिर नही रह पाता। पूरक, कुम्भक और रेचक (प्राणायाम) करने मे परिश्रम करना पडता है, जिससे मन मे सक्लेश पैदा होता है।[8] दूसरे मत के

---

१ सहित. सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्छा केवली चाष्ट कुम्भक.॥ —घेरण्डसहिता, ५।४६

२. सिद्धसिद्धान्तपद्धति, २।३५

३ शिवसहिता, ३।२९, ३०, ५४

४. Tibetan Yoga and Secret Doctrines. pp 187-89

५ बौद्धधर्मदर्शन, पृ० ८१

६ मज्झिमनिकाय, २।२।२; ३।२।८

७ विसुद्धिमग्गो, पृ० २६९

८ तन्नाप्नोति मन.स्वास्थ्यं प्राणायामै. कदर्थितम्।
प्राणस्यायमने पीडा तस्या स्याच्चित्त-विप्लवः॥
पूरणे कुम्भने चैव रेचने च परिश्रमः।
चित्त-संक्लेश-करणान्मुक्तेः प्रत्यूह-कारणम्॥—योगशास्त्र, ६।४-५

अनुसार, प्राणायाम की प्रक्रिया से शरीर को कुछ देर के लिए साधा जा सकता है, रोग का निवारण किया जा सकता है, परन्तु साध्य को सिद्ध नही किया जा सकता।[1] इन मतो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राणायाम किसी न किसी प्रकार साधना के एक साधन के रूप मे अपेक्षित है।

वायु का नाम है प्राण तथा इस प्राण को फैलाने अथवा विस्तार करने को आयाम कहते हैं। इस तरह दोनो प्रकार के श्वासो को बाहर निकालने अथवा भीतर लेने की क्रिया को ही प्राणायाम कहा गया है। अर्थात् मुख तथा नासिका से संचरित होनेवाले वायु को प्राण कहते है तथा इसका निरोध करना ही प्राणायाम है। इसके तीन प्रकार हैं—(१) पूरक, (२) रेचक और (३) कुम्भक।[2] चार प्रकार के प्राणायाम का भी उल्लेख मिलता है—(१) प्रत्याहार, (२) शान्त, (३) उत्तर एवं (४) अधर।[3]

बाहर के वायु को शरीर के भीतर लेकर उसे अपान (गुदा) तक भर लेना पूरक है। नाभि से अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक वायु को बाहर निकालना अर्थात् भीतर की वायु को बाहर फेकना ही रेचक है। पूरक से उपलब्ध वायु को नाभिस्थल मे रोकना तथा स्थिर करना कुम्भक है।[4]

---

१. योगशास्त्र : एक परिशीलन, पृ० ४१

२. (क) त्रिधा लक्षणभेदेन सस्मृतः पूर्वसूरिभिः।
पूरक कुम्भकश्चैव रेचकस्तदनन्तरम् ॥ —ज्ञानार्णव, २६।४३

(ख) रेचकः स्याद्बहिर्वृत्तिरन्तर्वृत्तिश्चपूरकः।
कुम्भकः स्तंभवृत्तिश्च प्राणायामस्त्रिधेत्ययम् ॥
—द्वात्रिंशिका, २२।१७

३. प्रत्याहारस्तथा शान्त उत्तरश्चाधरस्तथा।
एभिर्भेदश्चतुर्भिस्तु सप्तधा कीर्त्यते परै ॥ —योगशास्त्र, ५।५

४. समाकृष्य यदा प्राणधारणं स तु पूरकः।
नाभिमध्ये स्थिरीकृत्य रोधनं स तु कुम्भक ॥
यत्कोष्ठादतियत्नेन नासाब्रह्मपुरातनैः।
बहि प्रक्षेपण वायोः स रेचक इति स्मृत ॥
—ज्ञानार्णव मे उद्धृत, २६।४९ (१-२)

इस प्रकार वायु को बाहर निकालना, भीतर ग्रहण करना अथवा वायु पर नियन्त्रण रखना आदि क्रियाएँ मन की चञ्चलता को रोकती हैं, क्योकि मन तथा वायु का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसीलिए योग में पहले वायु को नियन्त्रित करने का विधान है। योगशास्त्र मे वायु के पाँच प्रकार वर्णित हैं—(१) प्राण, (२) अपान, (३) समान, (४) उदान तथा (५) व्यान।[1] नासिका द्वारा श्वास-प्रश्वास के रूप में सचरित होनेवाला वायु प्राण है। प्राणवायु का स्थान नासिका के अग्रभाग, हृदय, नाभि और पैर के अगूठे तक का है और यह हरे वर्ण का है। शरीर के मल-मूत्रादि को बाहर फेकने मे सहयोग देनेवाले अथवा गुदा एव लिंग से बाहर निकलनेवाले वायु को अपान कहते हैं। इसका स्थान गर्दन के पीछे की नाड़ी, पीठ, गुदा और एडी है तथा इसका वर्ण काला है। समानवायु भोजनरस को शरीर के विभिन्न विभागो मे पहुँचाता है। इसका स्थान हृदय, नाभि तथा शरीर के सभी सन्धिस्थल हैं तथा इसका वर्ण श्वेत है। उसी रस को शरीर के ऊपरी भागो मे ले जानेवाले वायु को उदान कहते हैं। इसका स्थान हृदय, कण्ठ, तालु, भृकुटि का मध्य भाग तथा मस्तक है और इसका वर्ण लाल है। सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त वायु को व्यान कहते हैं। इसका स्थान सम्पूर्ण त्वचा बताया गया है और इसका वर्ण इन्द्रधनुषी है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि इन वायुओ को रेचक, पूरक एवं कुम्भक प्राणायाम द्वारा जीतना अथवा नियन्त्रित करना चाहिए।

नाभि मे से वायु को खीचकर हृदय में ले जाना तथा हृदय मे से वायु को नाभि मे स्थिर करना प्रत्याहार प्राणायाम है अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान मे ले जाना ही प्रत्याहार प्राणायाम है। नासिका एवं मुख द्वारा वायु को नियन्त्रित करना शान्त नामक प्राणायाम है। वायु को बाहर से शरीर के भीतर ले जाकर हृदय मे स्थापित करना उतर

---

१ प्राणमपानसमानावुदान व्यानमेव च।
प्राणायामैर्जयेत् स्थान-वर्ण-क्रियार्थ-बीजवत्।
—योगशास्त्र, ५।१३; ५।१४-२०

प्राणायाम है तथा वायु को हृदय से नीचे की ओर (नाभि मे) ले जाना अधर प्राणायाम है।[1]

ज्ञानार्णव मे एक और 'परमेश्वर' नामक प्राणायाम का भी उल्लेख मिलता है अर्थात् जो वायु नाभिस्कन्ध से निकलकर हृदय में आता है और वहाँ से चलकर ब्रह्मरन्ध्र अथवा तालुरन्ध्र मे स्थित हो जाता है, उसे परमेश्वर प्राणायाम कहते है।[2]

इस सन्दर्भ में वायु के अन्य चार प्रकार वर्णित हैं[3], जो कि नासिका विवर के क्रमशः चार मण्डलो से सम्बन्ध रखते हैं।[4] जैसे-(१) पुरन्दर—यह वायु पीला, उष्ण तथा स्वच्छ है और आठ अगुल नासिका से बाहर तक रहता है। इस वायु का सम्बन्ध पार्थिव मण्डल से है जो पृथ्वी के बीज से परिपूर्ण तथा वज्रचिह्न से युक्त है। (२) वरुण—यह श्वेत तथा शीतल है और नीचे की ओर बारह अगुल तक शीघ्रता से बहता है। यह वारुण-मण्डल के अन्तर्गत अक्षर 'व' के चिह्न से युक्त, अष्टमी के चन्द्रमा के आकार का होता है। (३) पवन—वह वायु काला तथा उष्ण-शीत होता है और छह अगुल प्रमाण बहता रहता है। यह वायव्य-मण्डल के अन्तर्गत गोलाकार, मध्यविन्दु के चिह्न से व्याप्त, पवनबीज 'य' अक्षर से घिरा हुआ, चञ्चल होता है। तथा (४) दहन—यह वायु लाल तथा उष्णस्पर्श और बवण्डर की तरह चार अगुल ऊँचा बहनेवाला है। यह आग्नेय-मण्डल के अन्तर्गत त्रिकोण, स्वस्तिक-चिह्न से युक्त तथा अग्निबीज रेफ '' चिह्न से युक्त होता है।

उक्त चारो प्रकार के वायु बायी तथा दाहिनी नाड़ी से होकर शरीर मे प्रवेश करते हैं। इस प्रकार इनका प्रवेश शुभ फलदायक समझा

---

१. स्थानात्स्थानान्तरोत्कर्ष प्रत्याहार. प्रकीर्तितः ।
तालुनासाननद्वारैर्निरोध शान्त उच्यते ॥
आपीयोर्ध्वं यदुत्कृष्य हृदयादिषु धारणम् ।
उत्तर स समाख्यातोऽविपरीतस्ततोऽधर. ॥—योगशास्त्र, ५।८-९

२ नाभिकन्दाद्विनिष्क्रान्तं हृत्पद्मोदरमध्यगम् ।
द्वादशान्ते तु विश्रान्तं त ज्ञेय परमेश्वरम् ॥—ज्ञानार्णव, २६।४७

३. योगशास्त्र, ५।४८-५१

४ वही, ५।४२

जाता है और जब उक्त वायु दोनों नाड़ियो से निकल रहे होते हैं तो अशुभ फलदायक।[1] बायी तरफ की नाड़ी को इडा या चन्द्र कहते हैं और दाहिनी तरफ की नाड़ी को पिंगला या सूर्य कहते हैं तथा इन दोनो के बीच की नाडी सुषुम्ना है जिसे मोक्षस्थान भी कहते हैं।[2]

अत: निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि योगसाधना के लिए प्राणायाम अपेक्षित है, क्योकि जहाँ इससे शरीर तथा मन का शुद्धीकरण होता है, वहाँ इसकी सिद्धि से जन्म एव मृत्यु-काल अथवा शुभाशुभ का ज्ञान होता है। फिर भी विभिन्न प्राणायामो की सिद्धि मे मानसिक अवरोध उत्पन्न होने से जैन-योग इसे विशेष महत्त्व नही देता, यद्यपि प्राणायाम के विषय मे कई प्रकार के विवेचन, विश्लेषण जैन-योग ग्रथो मे उपलब्ध हैं।

प्रत्याहार

वैदिक-परम्परा मे योग-साधना की सिद्धि के लिए प्राणायाम के बाद प्रत्याहार[3] का भी बडा महत्त्व है, क्योकि प्रत्याहार के सिद्ध होने पर चित्त निरुद्ध हो जाता है और चित्त की निरुद्धता से इन्द्रियाँ निरुद्ध हो जाती हैं। प्रत्याहार की सिद्धि से इन्द्रियाँ पूर्णतः वश में हो जाती हैं और इसके अभ्यासी के समस्त सासारिक रोग तथा पाप पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं।[4] उपनिषदो में पाँच प्रकार के प्रत्याहारो का वर्णन है[5], यथा—(१) ज्ञानेन्द्रियो को विषयो की ओर जाने से शक्तिपूर्वक

---

१ शशाक-रवि-मार्गेण वायवामण्डलेष्वमी।
विशन्त शुभदा. सर्वे निष्क्रामन्तोऽन्यथा स्मृता.॥ —योगशास्त्र, ५।५७

२. इडा न पिंगलाचैव सुषुम्णा चेति नाडिका।
शशि-सूर्य-शिव-स्थान वाम-दक्षिण-मध्यगा॥ —वही, ५।६१

३. प्राणायाम प्रत्याहार। —मैत्रेयी उपनिषद्, ६।१८

४ दर्शनोपनिषद्, ७।९-१०

५. स पचविध विषयेषु विचरतामिन्द्रियाणा बलादाहरणं प्रत्याहारः यद्यत्-पश्यति तत्सर्वमात्मेति। नित्यविहितकर्मफलत्यागः प्रत्याहारः। सर्वविषय-पराङ्मुखत्वं प्रत्याहार। अष्टादशसु मर्मस्थानेषु क्रमाद्धारण प्रत्याहारः।
—शाण्डिल्योपनिषद्, १।८

रोकना, (२) मन के पूर्ण नियंत्रण के साथ समस्त दृश्य-जगत् को आत्म-रूप समझना अथवा ब्रह्म के रूप मे देखना, (३) समस्त दैनिक कर्मों के फलो का त्याग, (४) समस्त इन्द्रिय-सुखों से निवृत्ति तथा (५) अठारह मर्मस्थानो पर प्राणवायु का एक निश्चित क्रम से स्थापन करते चलना।

पतंजलि ने प्रत्याहार की परिभाषा मे कहा है कि इन्द्रियो का अपने विषय से संबंध छूट जाने पर चित्त के स्वरूप मे विलीन हो जाना ही प्रत्याहार है, जिससे इंद्रियां पूर्णतः वश मे हो जाती हैं।[1] सिद्धसिद्धान्त-पद्धति के अनुसार चित्त मे उत्पन्न नाना विकारो से निवृत्ति होना प्रत्याहार है।[2]

बौद्ध-दर्शन के अनुसार प्रत्याहार से बिम्बदर्शन होने पर ध्यान का प्रारम्भ होता है, क्योकि दसो इंद्रियों का अन्तर्मुख होकर अपने स्वरूप मात्र मे अनुवर्तन प्रत्याहार है और इस अनुवर्तन के समय इंद्रियों की विषयभावापत्ति अथवा विषयग्रहण नही होता। प्रत्याहार से वैराग्य, त्रिकालदर्शन, धूमादि दस निमित्तो के दर्शन की सिद्धि होती हैं।[3]

जैन-परम्परा के अनुसार बाह्य तथा आभ्यतर विषयो से इन्द्रियों को हटाना प्रत्याहार है।[4] दूसरे शब्दो मे ज्ञातयोगी इंद्रियो तथा मन को इंद्रिय-विषयो से निवृत्त करके इच्छानुसार जहाँ जहाँ धारण करता है, उसे प्रत्याहार कहते हैं।[5] अत: सम्पूर्ण रागद्वेष से मन को हटाकर अपने को आत्मा में केन्द्रित कर लेना प्रत्याहार है।[6] इस प्रकार तीनों परपराओ मे प्रत्याहार के द्वारा ध्यान को केन्द्रित तथा रागद्वेष आदि प्रवृत्तियो को नियन्त्रित किया जाता है।

---

१ स्वविषयासप्रयोगे चित्तस्यस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणा प्रत्याहारः।
तत परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्। —योगदर्शन, २।५४-५५

२. सिद्धसिद्धान्तपद्धति, २।३६

३ बौद्धधर्मदर्शन (भूमिका), पृ० ३८

४. इंद्रियै सममाकृष्य विषयेभ्यः प्रशान्तधी.। —योगशास्त्र, ६।६

५ समाकृष्येन्द्रियार्थेभ्य साक्ष चेत. प्रशान्तधी.।
यत्र यत्रेच्छया धत्ते स प्रत्याहार उच्यते॥—ज्ञानार्णव, २७।१

६ विषयासप्रयोगेऽन्त. स्वरूपानुकृति' किल।
प्रत्याहारो हृषीकाणामेतदायतताफल'॥ —द्वात्रिंशिका, २४।२

धारणा

धारणा योगसमाधि का एक प्रमुख तत्त्व है, जिसके द्वारा साधक मनोविकारो को सर्वथा त्यागकर किसी एक दिशा की ओर उन्मुख होने मे सफल होता है; क्योंकि बाह्य विकर्षणों से निवृत होने के लिए आसन और प्राणायाम आवश्यक है और आंतरिक विकर्षणों से निवृत्त होने के लिए प्रत्याहार एवं धारणा जरूरी है। प्रत्याहार के सिद्ध होने पर साधक का बाह्य जगत् से संबंध छूट जाता है जिससे उसे बाह्य-जगत्-जन्य कोई बाधा नही होती। इसलिए वह किसी बाह्य बाधा के बिना चित्त-निरोध का अभ्यास करने के योग्य हो जाता।[१] प्रत्याहार के अभ्यास के बाद धारणा का अभ्यास भली-भाँति करना सम्भव होता है। यही कारण है कि धारणा मे बाह्य विषयो से इद्रियो को हटाकर अन्तर्मुख किया जाता है तथा मन को किसी एक जगह स्थिर एव शान्त किया जाता है।

योग-दर्शन मे धारणा की परिभाषा मे कहा गया है कि चित्त को समस्त विषयो से हटाकर किसी विशेष दिशा मे परमात्मा मे बद्ध करना धारणा है।[२] इस परिभाषा का समर्थन उपनिषदो[३] ने किया है। अमृतोपनिषद् के अनुसार सकल्पपूर्ण मन को आत्मा मे लीन करके परमात्म-चिंतन मे लगाना धारणा है।[४] योगतत्त्वोपनिषद् के अनुसार पंच ज्ञानेन्द्रियो के द्वारा योगी जो कुछ देखता, सुनता, सूंघता, चखता तथा स्पर्श करता है, उन सबमे आत्मविचार करना धारणा है।[५] शिवसहिता से भी इन बातों की पुष्टि होती है।[६]

बौद्धधर्म मे धारणा को योग का चतुर्थ अग माना गया है और कहा

---

१. योगमनोविज्ञान, पृ० २१४

२. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। —योग-दर्शन, ३।१

३. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, १३३-३४, शाण्डिल्योपनिषद्, ७।४३-४४

४ मन. सकल्पक ध्यात्वा सक्षिप्यात्मनि बुद्धिमान्।
धारयित्वातथात्मान धारणा परिकीर्तिता॥ —अमृतोपनिषद्, १६

५ योगतत्त्वोपनिषद्, ६८-७१

६ शिवसहिता, ५।४३-१५७

है कि अपने इष्ट, मन्त्र, प्राण का हृदय में ध्यान करते हुए उसे ललाट में निबद्ध करना चाहिए (मन का प्राणभूत होने के कारण प्राण ही मन्त्र पद का वाच्य है। ऐसी स्थिति मे प्राण का संचरण अर्थात् श्वास-प्रश्वास नही रहता। धारणा का फल वज्रसत्व मे समाविष्ट है, अत. इसके प्रभाव से स्थिरीभूत महारत्न अर्थात् प्राणवायु नाभिचक्र से चांडाली (कुण्डलिनी) शक्ति को उठाता है तथा इसकी सिद्धि होने पर चांडाली (कुण्डलिनी) शक्ति स्वभावत: उज्ज्वल हो जाती है।[1]

जैन-योग के अनुसार भी योग-साधना के लिए धारणा की भूमिका आवश्यक है। ज्ञानार्णव के अनुसार इंद्रियो के विषयो को रोककर और रागद्वेष को दूर कर एव समताभाव का अवलम्बन कर मन को ललाट-देश में सलीन करना चाहिए,[2] क्योकि ऐसा करने से समाधि की सिद्धि होती है। योगशास्त्र के अनुसार चित्त को स्थिर करना ही धारणा है और नाभि, हृदय नासिका का अग्रभाग, कपाल, भृकुटि, तालु, नेत्र, मुख, कान और मस्तक ये धारणा के स्थान हैं[3] अर्थात् इन स्थानो में से किसी भी एक स्थान पर चित्त को स्थिर करना धारणा के लिए आवश्यक है। निष्कर्ष यह है कि चित्त को किसी एक ध्येय पर एकाग्र करना ही धारणा है[4] और योग-साधना की दृष्टि से यह आवश्यक तत्त्व है, क्योकि बिना इसके समाधि की पूर्णता प्राप्त नही हो सकती। ○

---

१. बौद्धधर्मदर्शन (भूमिका), पृ० ३८-३९

२. निरुद्ध्य करणग्रामं समत्वमवलम्ब्य च।
ललाटदेशसलीन विदध्यान्निश्चल मन. ॥—ज्ञानार्णव, २७।१२

३ नाभी-हृदय-नासाग्र-भाल-भ्रू-तालु-दृष्टय.।
मुख कर्णौशिरश्चेति ध्यानस्थानान्यकीर्त्तयन् ॥—योगशास्त्र, ६।७

४. चित्तस्यधारणादेशे प्रत्ययस्यैकतानता।—द्वात्रिंशिका, २४।१८

: ५ : योग के साधन : ध्यान

योग मे ध्यान का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। मन अथवा चित्त कभी स्थिर नही रहता और किसी भी ध्येय वस्तु पर अधिक समय तक ध्यान ठहरता भी नही। अतः सर्वप्रथम चित्त की विकलता दूर कर उसे स्थिर करने का निर्देश किया गया है। इसके लिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम और तप आदि क्रियाओ का विधान है, ताकि साधक इनके सम्यक् पालन से मन की चचलता, विकलता हटाकर तथा उसे अन्तर्मुख कर अपने ध्यान को आत्मा पर केंद्रित करे। ध्यान की पराकाष्ठा समाधि मानी गयी है।

ध्यान की इसी महत्ता और महनीयता की दृष्टि से वैदिक, बौद्ध एवं जैन योगो में ध्यान का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

वैदिक-योग में ध्यान

अनेक उपनिषदो में ध्यान एवं समाधि का सूक्ष्म वर्णन प्राप्त होता है।[1] ब्रह्मविंदूपनिषद्[2] में कहा गया है कि हृदय में मन का तव तक निरोध करना चाहिए जब तक कि उसका क्षय न हो जाय। समाधि की ऐसी अवस्था मे व्यक्ति परमात्मा को पाकर अपने को उसके जैसा समझने लगता है।[3] अर्थात् ऐसी अवस्था मे ज्ञाता, ज्ञान एव ज्ञेय की त्रिपुटी नही रहती।[4] जब साधक ध्यान मे स्थूल का आलम्बन लेकर सूक्ष्म की ओर अग्रसर होता है, तब एक ऐसी स्थिति आती है, जहाँ उसे किसी भी वस्तु के आलम्बन की अपेक्षा नही रह जाती। समाधि की यही अवस्था साख्यदर्शनानुसार 'ध्यान निर्विषय मन.'[5] मन का निर्विषय

---

१. दर्शनोपनिषद्, ९।१-६; ध्यानविन्दूपनिषद्, १४-३७,
   योगकुण्डल्यूपनिषद्, ३।१५-३२, शाण्डिल्योपनिषद्, १।६।३-४

२ तावदेवं निरोद्धव्यं यावद्धृदि-गतं क्षयम्। —ब्रह्मविन्दूपनिषद्, ५

३. अमृतनादोपनिषद्, १६

४. शाण्डिल्योपनिषद्, ११

५. साख्यसूत्रम्, ६।२५

होना ही ध्यान है। योगदर्शनानुसार[1] आत्म-चिंतन करते-करते ईश्वर के एक ही प्रत्यय में तल्लीन हो जाना ही ध्यान है। इस ध्यान में केवल आत्मतत्त्व अनुभव मे आना ही समाधि है।[2] हठयोगसंहिता में बताया है कि प्राणायाम के द्वारा समाधि की सिद्धि अर्थात् वायु के निरोध के द्वारा मन का निरोध होता है।[3]

ध्यान अथवा समाधि के विविध प्रकारो का वर्णन विभिन्न वैदिक ग्रंथो मे मिलता है। घेरण्डसहिता के अनुसार स्थूल, ज्योति और सूक्ष्म ये ध्यान के तीन प्रकार वर्णित हैं।[4] पतञ्जलि के अनुसार समाधि के दो भेद हैं[5]—(१) सम्प्रज्ञात एवं (२) असम्प्रज्ञात।[6] सम्प्रज्ञात समाधि मे समस्त चित्तवृतियो का निरोध नही होता है और असम्प्रज्ञात समाधि मे चित्तवृत्तियो का निरोध हो जाता है। ध्यातव्य है कि असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति के लिए सम्प्रज्ञात समाधि का निरन्तर अभ्यास करना होता है। अतः असम्प्रज्ञात समाधि का कारण सम्प्रज्ञात समाधि है। सम्प्रज्ञात समाधि चार प्रकार की है[7]—(१) वितर्कानुगत, (२) विचारानुगत, (३) आनन्दानुगत एवं (४) अस्मितानुगत। प्रथम प्रकार मे वितर्क, विचार, आनन्द एवं अस्मिता की उपस्थिति के कारण उसे सवितर्क भी कहा जाता है। चित्त को स्थिर करने के लिए इस समाधि मे स्थूल वस्तु का आलम्बन लिया जाता है। द्वितीय प्रकार में वितर्करहित शेष तीनो विचार होने के कारण उसे सविचार समाधि भी कहा जाता है। इसमें भी साधक स्थूल का आलम्बन लेता है। तृतीय प्रकार की समाधि आनद और अस्मिता की समाधि है। चतुर्थ प्रकार मे केवल अस्मिता होने के कारण उसे सास्मिता समाधि कहा गया है। इस तरह चारो प्रकारो में चित्त स्थिर करने के लिए साधक को वस्तु का आलम्बन लेना ही पड़ता

---

१ तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। —योगदर्शन, ३।१

२ तदेवार्थनिर्भास स्वरूपशून्यमिव समाधि। —वही, ३।२

३. हठयोगसहिता, १०९

४. घेरण्डसहिता, ६।१-२०

५. योगदर्शन, व्यासभाष्य, १।१

६ वही, १।४१

७ वितर्कविचारानन्दाऽस्मितारूपानुगमात्सम्प्रज्ञात।—योगदर्शन, १।१७

है, जिसमे चित्त-संस्कार सम्पूर्णतः नष्ट नही होते। इस दृष्टि से इनको सबीजसमाधि भी कहते हैं।[1] बताया गया है कि इन चारो का अभ्यास करते-करते चित्तवृत्तियों के सिर्फ संस्कार ही शेष रहते हैं और अभ्यास-पूर्वक वैराग्य से उन शेष संस्कारों का भी अभाव हो जाता है।[2] ऐसी स्थिति मे उसे निर्बीज समाधि कहा जाता है।[3]

इन चारो सम्प्रज्ञात समाधियों को पार करके साधक अथवा योगी विवेकख्याति प्राप्त करता है। विवेकख्याति से उसके समस्त क्लेश तथा कर्म नष्ट होते हैं और चित्त मे निरन्तर विवेकख्याति का प्रवाह बहने लगता है। इसी परिपक्व स्थिति को धर्ममेघ समाधि कहा है। बताया गया है कि इससे ऋतम्भरा प्रज्ञाएँ उत्पन्न होती हैं और उनके द्वारा योगी असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त कर कैवल्य प्राप्त करता हैं।[4]

बौद्ध-योग में ध्यान

वैदिक-परम्परा की ही भाँति बौद्ध-योग मे भी चित्त कुशलो को स्थिर करने के लिए ध्यान की महत्ता स्वीकार की गयी है। बौद्ध दर्शनानुसार चित्त के कारण ही साधक को संसार-भ्रमण करना पड़ता है। जिसमे ध्यान के साथ प्रज्ञा है, वही निर्वाण के समीप है।[5] अर्थात् निर्वाण की प्राप्ति ही ध्यान का उद्देश्य है।[6] हीनयान के अनुसार निर्वाण की प्राप्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य है और अर्हत्पद की प्राप्ति करना प्रधान उद्देश्य। इस प्रकार अर्हत्पद की प्राप्ति के लिए चार आयतनो का विधान है,[7] जो निर्वाण-प्राप्ति के साधन हैं। वे आयतन इस प्रकार हैं—(१) आकाशान-

---

१. ता एव सबीजः समाधिः। —वही, १।४६
२. विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः। —वही, १।१८
३. तदभ्यासपूर्वकंहि चित्तं निरालम्बनमभावप्राप्तमिव भवतीत्येष निर्बीजः समाधिरसम्प्रज्ञात.। —योगदर्शन, व्यासभाष्य, १।५१
४ योगसूत्र, ४।२९-३४
५. यम्हि झानं च पञ्ञा च स वे निब्बानसन्तिके। –धम्मपद, २५।१३
६. ते झायिनो साततिका निच्च दळ्ह-परक्कमा।
फुसन्ति धीरा निब्बानं योगक्खेमं अनुत्तरं॥ –धम्मपद, २।३
७ अभिधर्मकोश, पृ० ५०

न्त्यायतन, (२) विज्ञानानन्त्यायतन, (३) अकिंचनायतन एव (४) नैवसंज्ञानासज्ञायतन। साधक जब इन आयतनो को पार करता हुआ अन्तिम अवस्था के पार पहुँचता है, तब उसे निर्वाण की प्राप्ति होती है। इस अन्तिम अवस्था को 'भवाग्र' कहा गया है।[1]

महायान के अनुसार बुद्धत्व की प्राप्ति करना चरम उद्देश्य है और कहा गया है कि जब तक प्रज्ञापारमिताओ का उदय नही होता, तब तक बुद्धत्व की प्राप्ति नही होती। प्रज्ञापारमिताओ के उदय के लिए समाधि आवश्यक है[2] तथा समाधि के चार प्रकार[3] भी वर्णित हैं, जो योगी को क्रमश. स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाते हैं। समाधि के चार प्रकार ये हैं—

१ **वितर्कविचार प्रीतिसुख एकाग्रसहित**—यह विषयभोगो और अकुशल प्रवृत्तियो से अलग होकर वितर्क एवं विचार से उत्पन्न प्रीति और सुख संवाहक ध्यान है। इसमे चित्त हमेशा चचल रहता है।

२ **प्रीतिसुख एकाग्रसहित**—इस ध्यान मे वितर्क-विचार न रहने के कारण चित्त शात रहता है और प्रीति, सुख, एकाग्र इन तीन अंगो के शेष होने के कारण यह ध्यान आन्तरिक चित्त की एकाग्रता सहित प्रीति सुखवाला होता है।

३ **सुख एकाग्रसहित**—इस ध्यान मे प्रीति और विराग के प्रति उपेक्षाभाव रखकर योगी स्मृति और सम्प्रजन्य युक्त होकर सुख का अनुभव करता है, जिसे उपेक्षा, स्मृति, मान, सुखविहारी कहते हैं।

४ **एकाग्रतासहित**—इस ध्यान मे सुखदु ख का प्रश्न ही नही उठता, सभी वृत्तियाँ शात होती हैं, क्योकि सौमनस्य और दौर्मनस्य के अस्त हो जाने पर सुख एव दु ख भी विनष्ट हो जाते हैं और उपेक्षाभाव से केवल स्मृति ही परिशुद्ध होती है। इस प्रकार योगी चित्तशुद्ध स्वरूप को पाकर उसमें लीन हो जाता है अर्थात् समदर्शी अवस्था प्राप्त कर लेता है। अत. बौद्धयोग मे भी अपनी अकुशल प्रवृत्तियो को हटाकर,

---

१ भवाग्रासंज्ञिसत्त्वाश्च सत्यावासानव स्मृताः। —वही, ३।६

२. बौद्धदर्शन, पृ० ३९७

३. दीघनिकाय, १।२; मज्झिमनिकाय, ३।२।१, विशुद्धिमार्ग, परि० ४ पृथ्वीकसिणनिर्देश।

एकाग्रता से चित्तस्वरूप को जानने के लिए समाधि को साधन के रूप में स्वीकार किया गया है।

जैन-योग में ध्यान

ध्यान के भेद-प्रभेद का विस्तृत विवेचन जैन-योग मे वर्णित है। वस्तुत ध्यान-साधना ही जैन-योग मे साधना का पर्याय बन गयी है, क्योकि ससार-भ्रमण का कारण, जैन दर्शनानुसार, इद्रियों एवं मन की चञ्चलता है और इन पर नियन्त्रण करना ही चारित्र की पहली शर्त है। जैन योगानुसार सयम अथवा चारित्र की वृद्धि के लिए ध्यान सर्वोत्तम साधन माना गया है।

ध्यान की परिभाषा एवं उसके पर्याय—चित्त को किसी विषय पर केन्द्रित करना ध्यान कहा गया है,[1] तथा उसे निर्जरा एव सवर का कारण भी बताया है।[2] वस्तुत चित्त को किसी एक वस्तु अथवा बिन्दु पर केंद्रित करना कठिन है, क्योकि यह किसी भी विषय पर अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा टिक नही पाता[3] तथा एक मुहूर्त ध्यान मे व्यतीत हो जाने के पश्चात् यह स्थिर नही रहता और यदि हो भी जाय तो वह चिन्तन कहलायेगा अथवा आलम्बन की भिन्नता से दूसरा ध्यान कहलायेगा।[4] प्रकारान्तर से ध्यान अथवा समाधि वह है, जिसमे ससार-बंधनों को तोड़नेवाले वाक्यो के अर्थ का चिन्तन किया जाता है अर्थात् समस्त कर्म-मल नष्ट होने पर सिर्फ वाक्यो का आलम्बन लेकर आत्मस्वरूप मे लीन हो जाने का प्रयत्न किया जाता है।[5] ध्यान को साम्यभाव बताते हुए कहा है कि योगी जब ध्यान मे तन्मय हो जाता है, तब उसे द्वैत ज्ञान रहता ही नही और वह समस्त रागद्वेषादि सांसारिकता से ऊपर उठकर चित्

---

1 चित्तसेगग्गया हवइ झाणं। —आवश्यकनिर्युक्त, 1459; ध्यानशतक, 2; नवपदार्थ, पृ० 668

2. तद्ध्यानं निर्जराहेतु सवरस्य च कारणम्। —तत्त्वानुशासन, 56

3 आमुहूर्तात्। —तत्वार्थसूत्र, 9।28, ध्यानशतक, 3; योगप्रदीप, 15।33

4 मुहूर्तात्परतश्चिन्ता यद्वा ध्यानान्तरं भवेत्।
बह्वर्थसंक्रमे तु स्याद्दीर्घाऽपि ध्यान-सन्तति'॥ —योगशास्त्र, 4।116

5. योगप्रदीप, 138

स्वरूप आत्मा के ही ध्यान मे निमग्न हो जाता है।[१] इसी परिभाषा की पुष्टि करते हुए ध्यान के सन्दर्भ में समरसीभाव[२] तथा सवीर्यध्यान[३] का प्रयोग हुआ है। दूसरे शब्दों मे उत्तम संहननवाले के एकाग्र चिन्ता-निरोध[४] को ध्यान कहा गया है तथा वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच एवं नाराच इन तीन प्रकार के संहनन[५] का भी उल्लेख है। यद्यपि तीनों संहननों को ध्यान के कारण के रूप मे स्वीकार किया गया है, तथापि मोक्ष का कारण वज्रवृषभनाराचसहनन ही है, क्योकि योगी नाना आलम्बनो मे स्थित अपनी चिन्ता को जब किसी एक आलम्बन मे स्थिर करता है, तब उसे एकाग्रनिरोध नामक योग की प्राप्ति होती है। इसी योग को बौद्ध-परम्परा मे समाधि तथा प्रसंख्यान कहा है।[६]

इस सन्दर्भ मे उल्लेखनीय है कि आलम्बन के दो प्रकार माने गये हैं—रूपी और अरूपी। अरूपी आलम्बन मुक्त आत्मा को माना गया है तथा इसे अतीद्रिय होने के कारण अनालम्बन योग भी कहा गया है।[७] रूपी आलम्बन इन्द्रियगम्य माना गया है और बताया है कि दोनो ही ध्यान छद्मस्थो के होते हैं। यद्यपि रूपी अथवा सालम्बन के ध्यान के अधिकारी योगी छठे गुणस्थान तक अपने चारित्र का विकास करने में सक्षम होते हैं तथा अनालम्बन के अधिकारी सातवे से लेकर बारहवें गुणस्थान तक। जब सालम्बन ध्यान ही सासारिक वस्तुओं से हटकर आत्मा के वास्तविक स्वरूपदर्शन मे तीव्र अभिलषित हो जाता है, तब निरालम्ब ध्यान की निष्पत्ति होती है। आत्मसाक्षात्कार होने पर ध्यान रह ही नही जाता, क्योकि ध्यान एक विशिष्ट प्रयत्न का नाम है, जो केवलज्ञान के पहले या योग-निरोध करते समय किया जाता है। इस

---

१. देखें, ज्ञानार्णव, अध्याय २२, साम्यवैभवम्।

२. तत्त्वानुशासन, १३७

३. देखें, ज्ञानार्णव, अध्याय २८, सवीर्य ध्यानम्।

४ उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्। —तत्त्वार्थसूत्र, ९।२७

५. तत्त्वार्थराजवार्तिक, पृ० ६२५

६ तत्त्वानुशासन, ६०-६१

७. आलवण पि एय रूवमरूवी य इत्थ परमुत्ति।
तग्गुणपरिणइरूवी, सुहुमोऽणालबणो नाम॥ —योगविंशिका, १९

प्रकार निरालम्ब ध्यान की सिद्धि हो जाने पर संसारावस्था बंद हो जाती है और इसके बाद केवलज्ञान और केवलज्ञान से 'अयोग' नामक स्थिति प्रकट होती है, जो परमनिर्वाण का ही अपरनाम है।[१]

ध्यान के पर्याय के रूप मे तप, समाधि, धीरोध, स्वान्तनिग्रह, अंत-संलीनता, साम्यभाव, समरसीभाव, सवीर्य-ध्यान आदि का प्रयोग किया गया है।[२]

ध्यान के अंग—ध्यान के लिए प्रमुखत. तीन बातें अपेक्षित हैं—(१) ध्याता, (२) ध्येय और (३) ध्यान।[३] ध्याता अर्थात् ध्यान करनेवाला, ध्येय अर्थात् आलम्बन तथा ध्यान अर्थात् एकाग्रचिन्तन। यानी इन तीनो की एकात्मकता ही ध्यान है। दूसरे शब्दों मे जिसके द्वारा ध्यान किया जाता है वह ध्याता है; अथवा जिसका ध्यान किया जाता है वह ध्येय है, अथवा ध्याता का ध्येय मे स्थिर होना ही ध्यान है।[४] निश्चय-नय से कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण को षट्कारमयी आत्मा कहा गया है और इनको ही ध्यान कहा है।[५] अत. आत्मा, अपनी आत्मा को अपनी आत्मा मे, अपनी आत्मा के द्वारा, अपनी आत्मा के लिए अपनी आत्मा के हेतु से और अपनी आत्मा का ही ध्यान करता है।

ध्यान की सामग्री—ध्यान की सामग्रियो को स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि ध्यान मे परिग्रहत्याग, कषायो का निग्रह, व्रतधारणा, मन

---

१. एयम्मि मोहसागरतरण सेढी य केवलं येप।
तत्तो अजोगजोगो, कम्मेण परमं च निव्वाण ॥ —वही, २०

२. योगो ध्यानं समाधिश्च धी-रोधः स्वान्तनिग्रह।
अन्त.संलीनता चेति तत्पर्यायाः स्मृता बुधै ॥
—आर्ष २१।१२, तत्त्वानुशासन, पृ० ६१

३ ध्यान विधित्सता ज्ञेय ध्याता ध्येय तथा फलम्। —योगशास्त्र, ७।१

४ ध्यायते येन तद्ध्यानं यो ध्यायति स एव वा।
यत्र वा ध्यायते यद्वा, ध्यातिर्वा ध्यानमिष्यते ॥ —तत्त्वानुशासन, ६७

५ स्वात्मान स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मैस्वतो यतः।
षट्कारकामयस्तस्माद ध्यानमात्मैव निश्चयात् ॥ —वही, ७४

तथा इन्द्रिय-विजय आवश्यक है,[१] क्योंकि ध्यान की सिद्धि के लिए योगी को अपने चित्त का दुर्ध्यान, वचन का असयम एव काया की चपलता का निरोध करना चाहिए[२] और अपने समस्त दोषो से रहित होकर चित्त स्थिर करना चाहिए।[३] सद्गुरु, सम्यक् श्रद्धान, निरन्तर अभ्यास तथा मन स्थिरता[४] का भी ध्यान की सिद्धि के कारण के रूप मे उल्लेख है। वैराग्य, तत्त्वविज्ञान, निर्ग्रंथता, समचित्तता, परीषहजय,[५] असंगता, स्थिरचित्तता, ऊर्मिस्मय, सहनता[६] आदि का उल्लेख भी उसी सदर्भ में मिलता है। इनके अतिरिक्त पूरण, कुम्भक, रेचन, दहन, प्लवन, मुद्रा, मंत्र, मण्डल, धारणा, कर्माधिष्ठाता, देवों का संस्थान, लिंग, आसन, प्रमाण, वाहन आदि—जो कुछ भी शान्त तथा क्रूर कर्म के लिए मत्र-वाद आदि के कथन हैं, वे भी सभी ध्यान की सामग्रियों के अन्तर्गत ही है।[७] सक्षेप मे, आचारमीमासा की ही सारी बाते ध्यान की सामग्रियों के अन्तर्गत स्वीकृत हैं।

वस्तुत ध्यान, व्रत, जप, आदि सभी आचार विना निर्मल चित्त के करने से कोई लाभ नही है,[८] क्योंकि मन की शुद्धि ही यथार्थ शुद्धि है।

---

१ सगत्याग: कषायाणा निग्रहो व्रतधारणम्।
मनोऽक्षाणा जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मने॥ —वही, ७५

२ निरुन्ध्याच्चित्तदुर्ध्यान निरुन्ध्यादयत वच।
निरुन्ध्यात् कायचापल्य, तत्त्वतल्लीनमानस.॥ —योगसार, १६३

३ मा मुज्झह मा रज्जह मा दूसह इट्ठणिट्ठअट्ठेसु।
थिरमिच्छहि जइ चित्त विचित्तझाणप्पसिद्धीए॥ —बृहद्द्रव्यसग्रह, ४८

४ ध्यानस्य च पुनर्मुख्यो हेतुरेतच्चतुष्टयम्।
गुरूपदेश श्रद्धान सदाभ्यास. स्थिर मन॥ —तत्त्वानुशासन, २१८

५ वैराग्य तत्त्वविज्ञान नैर्ग्रन्थ्यं समचित्तता।
परीषह-जयश्चेति पचैते ध्यानहेतवः॥
—बृहद्द्रव्यसग्रह, पृ० २०७ पर उद्धृत

६. उपासकाध्ययन, ३९।६३४

७ तत्त्वानुशासन, २१३-२१६

८. किं व्रतै किं व्रताचारैः किं तपोभिर्जपैश्च किम्।
किं ध्यानै. किं तथा ध्येयैर्न चित्त यदि भास्वरम्॥ —योगसार, ६८

मन की शुद्धि के बिना व्रतों का अनुष्ठान करना वृथा कायक्लेश है।[१] इसके लिए इन्द्रियो के विपयों का निरोध आवश्यक है और जब तक इन्द्रियो पर जय नही होती, तब तक कषायों पर जय नही होती।[२] अत. ध्यान की शुद्धता या सिद्धि ही कर्मसमूह को नष्ट करती है[३] और आत्मा का ध्यान शरीर-स्थित आत्मा के स्वरूप को जानने मे समर्थ होता है[४], क्योकि ध्यान ही जहाँ सव अतिचारो का प्रतिक्रमण है,[५] वहाँ आत्मज्ञान की प्राप्ति से कर्मक्षय तथा कर्मक्षय से मोक्ष की प्राप्ति होती है।[६] ध्यातव्य है कि ध्यान द्वारा शुभ-अशुभ दोनो की प्राप्ति सभव है। अर्थात् इससे चितामणि की भी प्राप्ति होती है और खली के टुकड़े भी प्राप्त होते है।[७] इस प्रकार ध्यानसिद्धि की दृष्टि से वाह्य साधनो के निरोध के साथ स्ववृत्ति[८] तथा साम्यभाव का होना अनिवार्य है, जबकि साधक को आत्मा के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नही देता।[९] अगर साधक को सासारिक चिन्ताओं का ही ध्यान अनायास हो जाय तो भी

---

१ मन शुद्ध्यैव शुद्धि स्याद्देहिना नात्र सशय ।
वृथा तदव्यतिरेकेण कायस्यैवं कदर्थना ॥ —ज्ञानार्णव, २०।१३

२. अदान्तैरिन्द्रिय-ह्यैश्चलैरपथगामिभि ।—योगशास्त्र, ४।२५

३. ज्ञानार्णव, २०।१४

४. एवमभ्यासयोगेन ध्यानेनानेन योगिभि ।
शरीरात स्थित. स्वात्मा यथावस्थोऽवलोक्यते ॥ —योगप्रदीप, १६

५. झाणणिलीणो साहू परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं ।
तम्हा दु झाणमेव हि सव्वदिचारस्स पडिकमण ॥ —नियमसार, ९३

६ मोक्ष:कर्मक्षयादेव स चात्मज्ञानतो भवेत् ।
ध्यानसाध्य मत तच्च तद्ध्यान हितमात्मनः ॥ —योगशास्त्र, ४।११३

७. इतश्चिन्तामणिर्दिव्य इत: पिण्याकखण्डकम् ।
ध्यानेन चेदुभे लभ्ये क्वाद्रियन्ता विवेकिन ॥
—पूज्यपादकृत इष्टोपदेश, २०

८ तन स्ववृत्तित्वात् वाह्यध्येयप्राधान्यापेक्षा निवर्तितामवति ।
—तत्त्वार्थराजवार्तिक, पृ० ६२६

९. तदा च परमैकाग्रयाद्वहिरर्थेपु सत्स्वपि ।
अन्यन्न किंचनाऽभाति स्वमेवात्मनि पश्यत. ॥ —तत्त्वानुशासन, १७२

उन व्यापारो को अन्तर्मुख करके गुरु अथवा भगवान् का स्मरण करते हुए निर्जन स्थान मे सर्व प्रकार की कायचेष्टाओ से रहित होकर सुखासन से बैठना चाहिए,[1] क्योकि इससे भी ध्यान मे शुद्धता आती है। अगर पूर्वसस्कारवश बार-बार किसी रमणी का ही ध्यान आता हो, तो उस समय उसी का ध्यान करना चाहिए और उसके शरीर की क्षणभगुरता, सदोषता आदि का चिन्तन करना चाहिए। इससे अपने आप एक ऐसी स्थिति उत्पन्न होगी कि साधक के मन मे उस स्त्री के प्रति उदासीनता का भाव पैदा होगा और ध्यान शुभ-प्रवृत्तियो मे केन्द्रित होने लगेगा। अत. रागजनित वस्तु का चिन्तन करते-करते भी, एकान्त स्थान मे बिना प्रत्याघात से ध्यान करने से क्रमश योग पर अधिकार प्राप्त हो जाता है तथा इस प्रकार के अभ्यास से परिणाम या भाव शुद्ध एवं स्थिर रहने से परममोक्ष निकट आता है।

ध्यान के प्रकार

जैन आगमो[2] एवं योग संबंधी अन्य जैन वाड्मय[3] मे ध्यान के प्रमुख चार प्रकारो का उल्लेख मिलता है—(अ) आर्त्त, (आ) रौद्र, (इ) धर्म और (ई) शुक्ल। इनमे पहले दो ध्यानो (आर्त, रौद्र) को अप्रशस्त अथवा अशुभ तथा अंतिम दो (धर्म, शुक्ल) को प्रशस्त अथवा शुभ कहा गया है, क्योकि अप्रशस्त ध्यान दु ख देनेवाले तथा प्रशस्त ध्यान मोक्ष-प्राप्ति के हेतु हैं।[4] ज्ञानार्णव के अनुसार ध्यान के तीन भेद भी देखने को मिलते हैं—(१) प्रशस्त, (२) अप्रशस्त और (३) शुद्ध।[5] यह प्रकारान्तर से चार भेदो का ही समर्थन है। हेमचंद्राचार्य ने ध्यान का ध्याता, ध्यान और ध्येय के रूप मे वर्गीकरण किया है, तथा ध्येय के चार प्रकार बताये

---

१. योगशतक, ५९-६०

२. स्थानाग, ४।२४७; समवायाग, ४, भगवतीसूत्र, श० २५, उद्दे० ७; आवश्यकनिर्युक्ति, १४५८, दशवैकालिक, अध्ययन १

३. ध्यानशतक, ५; ज्ञानार्णव, २३।१९, तत्त्वानुशासन, ३४

४. आर्त्तरौद्रं च दुर्ध्यानं वर्जनीयमिद सदा।
धर्मं शुक्ल च सद्ध्यानमुपादेय मुमुक्षुभि' ॥ —तत्त्वानुशासन, ३४

५. ज्ञानार्णव, ३।२७

हैं[1]—(१) पिण्डस्थ, (२) पदस्थ, (३) रूपस्थ और रूपातीत। ध्येय के इन चार भेदो का उल्लेख ज्ञानार्णव मे भी है।[2] रामसेनाचार्य ने भी ध्येय के चार भेद गिनाये हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव।[3] फिर भी इनके वर्गीकरण की अपनी विशेषता है। इनके अनुसार द्रव्य ध्येय ही पिण्डस्थ ध्यान रूप में उपस्थित हुआ है,[4] क्योकि ध्येय पदार्थ ध्याता के शरीर मे स्थित आत्मा ही ध्यान-विषय माना गया है और पिण्डस्थ ध्यान का काम भी वही है। इन सबके अतिरिक्त ध्यान के चौबीस[5] भेदो का भी उल्लेख मिलता है, जिनमें बारह ध्यान क्रमश. ध्यान, शून्य, कला, ज्योति, बिन्दु, नाद, तारा, लय, मात्रा, पद और सिद्धि है तथा इन ध्यानो के साथ 'परम' पद लगाने से ध्यान के और अन्य भेद बनते है।

उक्त भेद-प्रभेदो से अलग हटकर आगमो तथा योगग्रथो मे विवेचित ध्यान के सर्वसम्मत चार प्रकारो का विश्लेषण करना यहाँ अभीष्ट है।

(अ) आर्त-ध्यान

दु ख के निमित से या दु.ख में होनेवाला[6] अथवा मनोज्ञ वस्तु के वियोग एवं अमनोज्ञ वस्तु के संयोग आदि के कारण[7] अथवा आवश्यक मोह के कारण सांसारिक वस्तुओ मे रागभाव करना[8] आर्तध्यान है अर्थात् राग-भाव से जो उन्मत्तता होती है, वह अज्ञान के कारण होती

१ पिण्डस्थ च पदस्थ च रूपस्थ रूपवर्जितम्।
चतुर्धा ध्येयमाम्नातं ध्यानस्यालम्बन बुधैः॥ —योगशास्त्र, ७।८,

२. ज्ञानार्णव, ३६।१

३ नाम च स्थापन द्रव्यं भावश्चेति चतुर्विधम्। —तत्त्वानुशासन, ९९

४ धातु पिण्डे स्थितश्चैवं ध्येयोऽर्थो ध्यायते यत.।
ध्येय पिण्डस्थमित्याहुरतएव च केवल॥ —वही, १३४

५ सुन्न-कुल-जोइ-बिंदु-नादो-तारो-लओ-लवो मत्ता।
पय-सिद्धि परमजुया झाणाइ हुंति चउवीस॥
—नमस्कार स्वाध्याय (प्राकृत), पृ० २२५

६ स्थानाग, ४।२४७

७. समवायाग, ४

८. दशवैकालिक अध्ययन १

है और फलतः अवाछनीय वस्तु की प्राप्ति-अप्राप्ति होने पर जीव दुःखी होता है। यही आर्तध्यान है।[1] आर्तध्यान के चार भेद हैं[2]—

(१) अनिष्टसंयोग—चर अर्थात् अग्नि, सर्प, सिंह, जल आदि तथा स्थिर अर्थात् दुष्ट, राजा, शत्रु आदि द्वारा शरीर, स्वजन, धन आदि के निमित्त मन को जो क्लेश होता है, वह अनिष्टसयोग नामक आर्त-ध्यान है।[3]

(२) इष्टवियोग—अपने मन की प्यारी वस्तुओ अर्थात् ऐश्वर्य, स्त्री, कुटुम्ब, मित्र, परिवारादि के नष्ट या वियुक्त होने पर अथवा इद्रिय-विषयो की क्षति होने पर मोह के कारण जो पीडा होती है, वह इष्ट-वियोग नामक आर्तध्यान है।[4]

(३) रोगचिंता या रोगार्त—शूल, सिरदर्द आदि रोगो की वेदना के कारण उत्पन्न चिन्तापूर्ण चिन्तन रोगचिन्ता नामक आर्तध्यान है।[5]

(४) भोगार्त—भोगों की इच्छा से लौकिक एव पारलौकिक भोग्य वस्तुओ का चिन्तन करना भोगार्त नामक आर्तध्यान है। यह ध्यान जन्म-परम्परा—ससार-परिभ्रमण—का कारण है। इसे निदानजन्य आर्तध्यान भी कहा है।[6]

इस प्रकार इस ध्यान के कारण जीव सर्वदा भयभीत, शोकाकुल, सशयी, प्रमादी, कलहकारी, विषयी, निद्राशील, शिथिल, खेदखिन्न तथा मूर्च्छा-ग्रस्त रहता है।[7] उसकी बुद्धि स्थिर नही रहती, विवेकशून्य

---

१ ऋते भवमथार्तं स्यादसद्ध्यान शरीरिणाम्।
दिङ्मोहोन्मत्ततातुल्यमविद्यावासनावशात्॥ —ज्ञानार्णव, २३।२१

२. स्थानाग, ४।२४७; आवश्यकअध्ययन, ४

३ ज्ञानार्णव, २३।२३

४ मनोज्ञवस्तुविध्वसे पुनस्तत्संगमार्थिभिः।
क्लिश्यते यत्तदेतत्स्याद्द्वितीयार्तस्य लक्षणम्॥ —ज्ञानार्णव, २३।२९

५ (क) तह सूलसीसरोगाइ वेयणाए विजोगपणिहाण।
तदसपओगचिंता तप्पडियाराउलमणस्स॥ —ध्यानशतक, ७
(ख) ज्ञानार्णव, २३।३०-३१

६. ज्ञानार्णव, २३।३२-३३-३४ ७. वही, २३।४१

होता है और वह रागद्वेष के कारण संसार-भ्रमण करता है। ऐसे कुटिल चिन्तन के कारण वह तिर्यंचगति प्राप्त करता है[1] और ऐसे स्वभाव के कारण उसकी लेश्याएँ कृष्ण, नील एव कापोत होती हैं।[2] ऐसे ध्यानी का मन आत्मा से हटकर सासारिक वस्तुओ पर केंद्रित रहता है और इच्छित या प्रिय वस्तुओ के प्रति अतिशय मोह के कारण, उनके वियोग में या प्राप्त न होने पर दुखित होता है। इसलिए इस ध्यान को अशुभ कहा गया है और इसकी स्थिति छठे गुणस्थान तक होती है।[3]

(आ) रौद्रध्यान

यह ध्यान भी अशुभ अथवा अप्रशस्त ध्यान है, जिसमे कुटिल भावो की चिन्तना होती है। जीव स्वभाववश सभी प्रकार के पापाचार करने मे उद्यत होता है तथा वह निर्दयी एव क्रूर कार्यों का कर्ता बनता है। इसलिए रुद्र अथवा कठोर जीव के भाव को रौद्र माना गया है।[4] इस ध्यान मे हिंसा, झूठ, चोरी, धनरक्षा मे लीन होना,[5] छेदन-भेदन[6] आदि प्रवृत्तियो मे राग आदि आते हैं। इसके चार भेद प्ररूपित हैं।[7]

(१) हिंसानन्द—अन्य प्राणियो को अपने से या अन्य के द्वारा मारने, काटने, छेदने अथवा वध-बधन द्वारा पीडित करने पर जो हर्ष प्रकट

---

१ रागो दोसो मोहो य जेण ससारहेयवो भणिया।
अट्टमि य ते तिण्णिवि तो त ससार तरुवीयं। —ध्यानशतक, १३

२ कावोय-नील-कालालेस्साओ णाइमकिलिट्ठाओ।
अट्टज्झाणोवगयस्स कम्मपरिणामजणिआओ॥ —वही, १४

३ अपथ्यमपि पर्यन्ते रम्यमप्यग्रिमक्षणे।
विद्ध्यसद्ध्यानमेतद्धि षड्गुणस्थानभूमिकम्॥ —ज्ञानार्णव, २३।३६

४ रुद्र. क्रूराशय. प्राणी रौद्रकर्मास्य कीर्तितम्।
रुद्रस्य खलु भावो वा रौद्रमित्यभिधीयते॥ —वही, २४।२

५ स्थानाग, ४।२४७, समवायाग, ४

६. दशवैकालिकसूत्रटीका, अध्ययन १

७ हिंसाऽनृतस्तेयविषयसरक्षणेभ्यो रौद्रम् ··· ···।
—तत्त्वार्थसूत्र, ९।३६, तथा ज्ञानार्णव, २४।३

किया जाता है, वह इस ध्यान का विषय है।[1] ऐसा ध्यान करनेवाला निर्घृण, निर्दय, कृतघ्न और नरक का भागी होता है। वह सदा कुटिलता, मायाचारिता, वैर, बदला लेने, ईर्ष्या करने आदि दुष्प्रवृत्तियो मे फँसा रहता है तथा इन्ही प्रवृत्तियो का चिन्तन करता रहता है।

(२) **मृषानन्द**—असत्य, झूठी कल्पनाओ से ग्रस्त होकर दूसरो को धोखा देने अथवा ठगने का चिन्तन करना मृषानन्द रौद्रध्यान है।[2] मृषानन्दी व्यक्ति सत्य वचनो से रहित मनोवाछित फल की प्राप्ति के लिए सत्य को झूठ अथवा झूठ को सत्य बनाकर लोगो को ठगता है और अपने को चतुर सिद्ध करता है।

(३) **चौर्यानन्द**—चोरी संबंधी कार्यो, उपदेशों अथवा चौर-प्रवृत्तियों मे कुशलता दिखाना चौर्यानन्द रौद्रध्यान है।[3] इस ध्यान के अन्तर्गत चौर्य कर्म के लिए निरन्तर व्याकुल रहना, चिन्तित होना अथवा दूसरो की सम्पत्ति के हरण से हर्षित होना अथवा दूसरो की सम्पत्ति को हरण करने का उपाय बताना आदि दुष्प्रवृत्तियाँ आती हैं। यह अतिशय निन्दा का कारण है।[4]

(४) **संरक्षणानन्द**—क्रूर परिणामो से युक्त होकर तीक्ष्ण अस्त्र-शस्त्रो से शत्रुओ को नष्ट करके उनके ऐश्वर्य तथा सम्पत्ति को भोगने की इच्छा रखना अथवा शत्रु से भयभीत होकर अपने धन, स्त्री, पुत्र राज्यादि के सरक्षणार्थ तरह-तरह की चिन्ता करना सरक्षणानन्द रौद्रध्यान है।[5]

इस प्रकार रौद्रध्यानी सर्वदा अपध्यान में लीन रहता है और दूसरे प्राणियों को पीड़ा पहुँचाने के उपाय सोचता रहता है। फलतः वह भी

---

१. सत्तवह-वेह-बंधण-डहणऽकणमारणाइपणिहाण।
अइकोहग्गहघत्थ निग्घिणमणसोऽहमविवाग ॥—ध्यानशतक, १९

२. असत्यकल्पनाजालकश्मलीकृतमानस ।
चेष्टते यज्जनस्तद्धि मृषारौद्रं प्रकीर्तितम् ॥—ज्ञानार्णव, २४।१४ तथा आगे

३. चौर्योपदेशबाहुल्यं चातुर्यं चौर्यकर्मणि ।
यच्चौर्यैकरत चेतस्तच्चौर्यानन्दमिष्यते ॥ —ज्ञानार्णव, २४।२२

४. ज्ञानार्णव, २४।२३-२६

५. वही, २४।२८-२९ तथा आगे; ध्यानशतक, २२

दूसरों के दुःख से पीड़ित होता है, ऐहिक-पारलौकिक भय से आतंकित होता है, अनुकम्पा से रहित, नीच कर्मों मे निर्लज्ज एव पाप में आनन्द मनानेवाला होता है।[1] इस ध्यान की लेश्याएँ कृष्ण, नील एवं कापोत होती हैं और यह पंचम गुणस्थान पर्यन्त होता है।[2]

(इ) धर्मध्यान

यह ध्यान सद्ध्यान माना गया है, क्योंकि इस ध्यान से जीव का रागभाव मंद होता है और वह आत्मचिन्तन की ओर प्रवृत्त होता है। इस दृष्टि से यह ध्यान आत्मविकास का प्रथम चरण है। स्थानांग में इस ध्यान को श्रुत, चारित्र एव धर्म से युक्त कहा है।[3] धर्मध्यान उसके होता है, जो दस धर्मो का पालन करता है, इन्द्रिय-विषयों से निवृत्त होता है तथा प्राणियों की दया मे रत होता है।[4] ज्ञानसार में कहा गया है कि शास्त्र-वाक्यों के अर्थो, धर्ममार्गणाओं, व्रतो, गुप्तियो, समितियो, भावनाओ आदि का चिन्तन करना धर्मध्यान है।[5] इस प्रकार इसे मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का निज परिणामी[6] माना गया है और सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप धर्म-चिन्तन का पर्याय कहा गया है।[7]

धर्मध्यान के स्वरूप को जानने के लिए योगी को ध्याता, ध्येय, ध्यान, फल, ध्यान का स्वामी, जहाँ (ध्यान योग्य क्षेत्र) जब (ध्यान योग्य काल) तथा जैसे (ध्यान योग्य अवस्था) मुद्राओं को ठीक तरह से समझना

---

१. आवश्यक अध्ययन, ४

२. ध्यानशतक, २५; ज्ञानार्णव, २४।३४

३. स्थानांग, ४।२४७

४. तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम्, स्वोपज्ञभाष्य, ९।२९

५. सुतत्थ धम्म मग्गणवय गुत्ती समिदि भावणाईणं।
जं कीरइ चिंतवणं धम्मज्झाण च इह भणियं॥ —ज्ञानसार, १६

६. चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥
—प्रवचनसार, १।७, तथा तत्त्वानुशासन, ५२

७. सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदु।
तस्माद्यदनपेतं हि धर्म्यं तद्ध्यानमभ्यधु.॥ —तत्त्वानुशासन, ५१

चाहिए।[1] अर्थात् योगी को इंद्रियो एवं मनोनिग्रह करनेवाली यथा-वस्थित वस्तु का आलम्बन लेते हुए एकाग्रचित होकर ध्यान करना चाहिए। निर्विघ्न ध्यान देश, काल एव परिस्थिति के अनुसार सम्पादित होता है[2] और इसके लिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र, और वैराग्य[3] अपेक्षित है, जिनसे सहजतया मन को स्थिर किया जाता है, कर्मो को रोका जाता है तथा वीतरागता आदि गुणों को प्राप्त किया जाता है। आचार्य शुभचद्र ने धर्म-ध्यान की सिद्धि के लिए मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ इन चार भावनाओ के चिन्तन पर जोर दिया है।[4]

ध्यान के विविध परिकर्मो[5] के वर्णन मे कहा गया है कि ध्याता ऐसी जगह कभी ध्यान न करे जहाँ स्त्री, पशु, शूद्र, प्राणी आदि हो। वह ऐसे निर्जन वन मे चला जाय, जहाँ किसी भी प्रकार की बाधा की सभावना न हो और वह किसी भी जगह दिन अथवा रात्रि के[6] समय ध्यान के लिए बैठ जाय। यह भी निर्देशित है कि ध्यान का आसन सुखदायक हो, जिससे कि ध्यान की मर्यादा टिक सके। उस आसन से बैठकर, खडे रहकर अथवा लेटकर भी ध्यान किया जा सकता है।[7] वैसी स्थिति मे दृष्टि स्थिर होनी चाहिए, श्वास-प्रश्वास की गति मंद हो, इन्द्रियविषयक बाह्य पदार्थो से अलगाव हो और साधक निद्रा, भय एव आलस से रहित होकर आत्मा का ध्यान करे। साधक सभी प्रकार की चिन्ताओ से मुक्त होकर आत्मस्वरूप मे लीन हो जाय। यह वही सभव है जहाँ शोर,

---

१. ध्याता ध्यान फल ध्येय यस्य यत्र यदा यथा।
इत्येतदत्र बोद्धव्यं ध्यातुकामेन योगिना॥ —वही ३७

२. वही, ३८–३९

३ ध्यानशतक, ३०–३४

४ चतस्रो भावना धन्या. पुराणपुरुषाश्रिता।
मैत्र्यादयश्चिर चित्ते विधेया धर्मसिद्धये॥ —ज्ञानार्णव, २५।४

५. तत्त्वानुशासन, ९०–९५

६ कालोऽवि सोच्चिय जहिं जोगसमाहाणमुत्तम लहइ।
न उ दिवस निसावेलाइनियमणं झाइणो भणिय॥ —ध्यानशतक, ३८

७ जच्चिय देहावत्था जियाण झाणोपरोहिणी होइ।
झाइज्जा तदवत्थो ठिओ निसण्णो निवण्णो च॥ —वही, ३९

झगड़ा, दूषित वातावरण न हो और ऐसा स्थान निर्जन, पहाड़, गुफा आदि ही हो सकता है।[1]

इस ध्यान के सदर्भ मे आज्ञारुचि, निसर्ग-रुचि, सूत्ररुचि एवं अवगाढरुचि इन चार लिंगो[2] के साथ ही साथ वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा, सामायिक, सद्धर्म-विषयक आलम्बनो[3] का भी विधान है। इस ध्यान के अधिकारी वे ही हैं, जो सम्यक्दृष्टि, अविरति, प्रमत्त और अप्रमत्त गुण-स्थानवर्ती है।[4] इस ध्यान की लेश्याएँ[5] पीत, पद्म और शुक्ल कही गयी हैं। क्योंकि पहले दो ध्यानो की अपेक्षा इस ध्यान में जीव का स्वभाव सरल और उसके परिणाम मन्दकषायी और मन्दतर-कषायी होते हैं। धर्मध्यान मे लीन जीव आत्मविकास में द्रुतगति से अग्रसर होते हैं।

मानसिक चंचलता के कारण साधक का मन एकाएक स्थिर नही हो पाता, अत. साधक को चाहिए कि वह स्थूल वस्तु का आलम्बन लेकर ही सूक्ष्म वस्तु की ओर बढ़े। ध्यान मे आसक्तिवश बार-बार उन्ही बातो की याद आती रहती है जो जीवन मे घटित हुई हो।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि आलम्बन के आधार पर धर्मध्यान चार प्रकार का है—(१) आज्ञाविचय, (२) अपायविचय, (३) विपाकविचय तथा (४) सस्थानविचय। 'विचय' शब्द का अर्थ चिन्तन करना है।[6]

---

१ रागादिवागुराजालं निकृत्याचिन्त्यविक्रम.।
स्थानमाश्रयते धन्यो विविक्त ध्यानसिद्धये ॥ —ज्ञानार्णव, २५।२०

२ स्थानाग, ४।२४७; अभिधानराजेन्द्रकोश, भा० ४, पृ० १६६३

३ स्थानाग, ४।२४७, ध्यानशतक, ४२

४. अप्रमत्त प्रमत्तश्च सद्दृष्टिर्देशसयतः।
धर्मध्यानस्य चत्वारस्तत्त्वार्थे स्वामिन· स्मृता· ॥
—तत्त्वानुशासन, ४६; ज्ञानार्णव, २६।२८

५. होंति कमविसुद्धाओ लेसाओ पीय-पम्ह-सुक्काओ।
धम्मज्झाणोवगयस्स तिव्व-मदाइभेयाओ ॥ —ध्यानशतक, ६६

६ आज्ञापायविपाकाना सस्थानस्य च चिन्तनात्।
इत्थ वा ध्येय-भेदेन धर्म-ध्यान चतुर्विधम् ॥ —योगशास्त्र, १०।७,
—ज्ञानार्णव, ३०।५; तत्त्वानुशासन, ९८

(१) आज्ञाविचय—इस ध्यान मे तीर्थंकरकथित उपदेशो का चिंतन किया जाता है, अतः सर्वज्ञ होने के कारण तीर्थंकर के तत्त्वोपदेश मे किसी भी प्रकार की त्रुटि नही होती, तर्क से बाधित नही होता, असत्य नही होता।[१] इस प्रकार इस ध्यान में मुख्यतः आप्त-वचनो का आलम्बन लिया जाता है और मन को क्रमश सूक्ष्म की ओर ले जाया जाता है।

(२) अपायविचय—इस ध्यान मे कर्म-नाश का तथा आत्मसिद्धि की प्राप्ति के उपाय का चिन्तन किया जाता है।[२] दूसरे शब्दो मे रागद्वेषादि कषाय तथा प्रमाद द्वारा उत्पन्न होनेवाले कष्टों, दुर्गतियो आदि का मनन करना अपायविचय धर्म-ध्यान है।[३]

(३) विपाकविचय—'विपाक' शब्द कर्मो के शुभ-अशुभ फल के उदय का द्योतक है। अतः कर्मो की विचित्रता का चिन्तन करना अथवा कर्म-फल के क्षण-क्षण मे उदित होने की प्रक्रियाओं के बारे मे विचार करना विपाक-विचय धर्मध्यान है।[४] इस ध्यान मे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की दृष्टि से चिन्तन किया जाता है कि उदय, उदीरणा कैसे और किस कारण से होती है तथा उनको कैसे नष्ट किया जा सकता है।

(४) संस्थान-विचय—अनादि-अनंत काल से, अव्याहत रूप से जो

---

१. (क) आज्ञायत्रपुरस्कृत्य सर्वज्ञानामबाधितम् ।
तत्त्वतश्चिन्तयर्दर्थांस्तदाज्ञा-ध्यानमुच्यते ॥
सर्वज्ञवचन सूक्ष्मं हन्यते यन्न हेतुभि ।
तदाज्ञारूपमादेयं न मृषाभाषिणो जिनाः ॥ —योगशास्त्र, १०।८-९
(ख) देखें ज्ञानार्णव, अध्याय ३०।

१. इत्युपायैर्विनिश्चेयो मार्गाच्च्यवनलक्षण ।
कर्मणा च तथापाय उपाय स्वात्मसिद्धये ॥ —ज्ञानार्णव, ३१।१६

२. रागद्वेषकषायाद्यैर्जायमानान् विचिन्तयेत् ।
यत्रपायास्तदपाय-विचय-ध्यानमिष्यते ॥ —योगशास्त्र, १०।१०

३. (क) स विपाक इति ज्ञेयो य स्वकर्मफलोदयः।
प्रतिक्षणसमुद्भूतश्चित्ररूप शरीरिणाम् ॥ —ज्ञानार्णव, ३२।१; तथा
(ख) देखें, ज्ञानार्णव, अध्याय ३२। —योगशास्त्र, १०।१४

अस्तित्व मे है उस जगत् का ध्यान करना संस्थान-विचय धर्मध्यान है।[1] वस्तुत. यह जगत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है। पर्याय की दृष्टि से पदार्थों का उत्पाद और व्यय होता रहता है, लेकिन द्रव्य की दृष्टि से पदार्थ नित्य ही रहता है। अतः इस ध्यान से संसार की नित्य-अनित्य पर्यायो का चिन्तन होने से वैराग्य की भावना दृढ होती है और साधक शुभ आत्मस्वरूप का अनुभव करने की कोशिश करता है।

किसी भी साधक का ध्यान एकाएक निरालम्ब मे नही लग पाता, इसलिए स्थूल इंद्रियगोचर पदार्थों से सूक्ष्म, इद्रियों के अगोचर पदार्थों का चिन्तन करना आवश्यक माना गया है।[2] आलम्बन का ही दूसरा नाम 'ध्येय' है। ध्येय के चार भेद हैं—(१) पिण्डस्थ, (२) पदस्थ, (३) रूपस्थ, (४) और रूपातीत।[3]

(१) **पिण्डस्थ ध्यान**—पिण्ड अर्थात् शरीर। इसका तात्पर्य है शरीर के विभिन्न भागों पर मन को केंद्रित करना। योगशास्त्र तथा ज्ञानार्णव के अनुसार इसके पाँच भेद हैं—(क) पार्थिवी, (ख) आग्नेय, (ग) मारुती, (घ) वारुणी और (च) तत्त्ववती।[4] इन पाच धारणाओ के माध्यम से उत्तरोत्तर आत्म-केन्द्र पर ध्यानस्थ होना।

---

१ (क) अनाद्यनंतस्य लोकस्य स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मनः।
आकृति चिन्तयेद्यत्र संस्थानविचयः स-तु॥ —योगशास्त्र, १०।१४
(ख) देखें ज्ञानार्णव, अध्याय ३३

२ (क) स्थूले वा यदि वा सूक्ष्मे साकारे वा निराकृते।
ध्यानं ध्यायेत स्थिर चित्त एक प्रत्यय संगते॥ —योगप्रदीप, १३९;
(ख) अलक्ष्यं लक्ष्यसम्बन्धात् स्थूलात् सूक्ष्मं विचिन्तयेत्।
सालवाच्च निरालम्बं तत्त्ववित्तत्त्वमजसा॥ —ज्ञानार्णव, ३०।४

३. पिण्डस्थ च पदस्थ रूपस्थं रूपवर्जितम्।
चतुर्वा ध्येयमाम्नात ध्यानस्यालम्बनं बुधै॥ —योगशास्त्र, ७।८;
योगसार, ९८; ज्ञानार्णव, ३४।१

४ (क) पार्थिवी स्यादथाग्नेयी मारुती वारुणी तथा।
तत्त्वभू पंचमी चेति पिण्डस्थे पच धारणा॥ —योगशास्त्र, ७।९
(ख) पार्थिवी स्यात्तथाग्नेयी श्वसनाख्याथ वारुणी।
तत्त्वरूपवती चेति. विज्ञेयास्ता यथाक्रमम्॥ —ज्ञानार्णव, ३४।३

(क) पार्थिवी[१]—सर्वप्रथम साधक पार्थिवी धारणा के द्वारा चिन्तन करता है कि मध्यलोक के बराबर नि.शब्द, कल्लोलरहित एव सफेद क्षीर-समुद्र है, उसमे जम्बू-द्वीप के बराबर एक लाख योजनवाला तथा हजार पखुड़ी से युक्त कमल है, उस कमल के मध्य में अनेक केसर हैं। उन केसरो मे दैदीप्यमान प्रभा से युक्त मेरुपर्वत के बराबर एक ऊँची कर्णिका है, उस पर एक सिंहासन है तथा उसमें बैठकर कर्मो का उन्मूलन करने मे आत्मा का चिन्तवन इस प्रकार करे कि यह रागद्वेपादि समस्त कर्मो का क्षय करने मे समर्थ है। इस प्रकार इस ध्यान मे प्रथमत: वड़ी चीजो को लाने के बाद सूक्ष्म वस्तु की ओर ध्यान केंद्रित किया जाता है, जिससे समस्त चिन्ताओ पर एक जगह रोक लग जाती है।

(ख) **आग्नेयी धारणा**[२]—इस धारणा के विषय में कहा गया है कि योगी अपने नाभि-मण्डल में सोलह पंखुड़ीवाले कमल का ध्यान करे और उसके वाद उस कमल की कर्णिका पर अर्हं महामन्त्र की स्थापना करके उस पर क्रमश. सोलह स्वरों को स्थापित करे। फिर ऐसा चिन्तन करे कि उस महामंत्र से धुंआँ निकल रहा है तथा अग्नि की ज्वालाएँ ऊपर उठ रही हैं। इसके वाद हृदय मे आठ पंखुडो से युक्त अधोमुख कमल की अर्थात् अष्टकर्मो की कल्पना करे। नाभिष्ट कमल से उठी हुई प्रबल अग्नि से वह कर्म नष्ट हो रहे है तथा 'र' से व्याप्त हासिया चिह्न से युक्त धूम-रहित अग्नि का चिन्तन करे। तत्पश्चात् चिन्तन करे कि देह एव कर्मो को दग्ध करके अग्निदाह्य का अभाव होने के कारण धीरे-धीरे वह शान्त हो रहा है।

(ग) **वायवी धारणा**[३]—इस धारणा के अन्तर्गत साधक चिन्तन करता है कि लोक मे महाबलवान् वायुमण्डल चल रहा है और वह आग्नेयी धारणा मे देह एवं कमल को जलाने के वाद वची हुई राख को उड़ा रहा है। इस प्रकार प्रचण्ड वायु के चिन्तनपूर्वक उसे शान्त करना वायवी धारणा है।

---

१. योगशास्त्र, ७।१०-१२, योगप्रदीप, २०, ४०५-८, ज्ञानार्णव, ३४।४-९

२. ज्ञानार्णव, ३४।१०-१९, योगशास्त्र, ७।१३-१८

३. ज्ञानार्णव ३४।२०-२३; योगशास्त्र, ७।१९-२०

(घ) वारुणी धारणा[1]—इस धारणा के अन्तर्गत साधक चिन्तन करता है कि मेघ-समूह से अमृत की वर्षा हो रही है तथा चन्द्राकार कला-बिन्दु से युक्त एक वरुण-बीज है तथा वायवी धारणा के द्वारा जिस पवन वेग से राख उडा दी गयी थी, वह इस अमृत-जल से साफ धुल गयी है। इस प्रकार अमृत-वर्षा का चिन्तन करना वारुणी धारणा है।

(च) तत्त्ववती अथवा तत्त्वभू धारणा[2]—इसके अन्तर्गत सप्त धातुओं से रहित, चद्रमा के समान उज्ज्वल तथा सर्वज्ञ के समान शुद्ध आत्म-स्वरूप का चिन्तन किया जाता है। इसके बाद सिंहासनस्य आरूढ अष्ट कर्मो का उन्मूलन करनेवाला, महिमा से मडित निराकार आत्मा का चिन्तन किया जाता है।

इस प्रकार चतुर्विध धारणाओ से युक्त पिण्डस्थ ध्यान का अभ्यास करने से ध्याता को मत्र, माया, शक्ति, जादू, स्तम्भन आदि से नुकसान नहीं होता है और न दुष्ट एव हिंस्र प्राणियो से ही उसका कोई बिगाड़ होता है।[3] प्रथम धारणा से मन को स्थिर किया जाता है, दूसरी से शरीर-कर्म को नष्ट करके मन को रोका जाता है, तृतीय से शरीर-कर्म के सबध को भिन्न देखा जाता है और चतुर्थ से शेष कर्म का नष्ट होना देखा जाता है और पंचम से शरीर एवं कर्म से रहित शुद्ध आत्मा का चिन्तन किया जाता है। इस प्रकार इस ध्यान मे योगी क्रमशः मन को स्थिर करता हुआ शुक्लध्यान मे प्रवेश करने की स्थिति मे पहुँचता है और चित् स्वरूप की प्राप्ति मे समर्थ होता है।

(२) पदस्थ ध्यान—इस ध्यान के द्वारा साधक अपने को बार-बार एक ही केन्द्र पर स्थिर करता है और मन को अन्य विषयो से परावृत्त करके केवल सूक्ष्म वस्तु को ध्यान का विषय बनाता है। अपनी रुचि तथा अभ्यास के अनुसार पवित्र मंत्राक्षर-पदों का अवलम्बन करके जो ध्यान किया जाता है, वह पदस्थ ध्यान है, क्योकि पदस्थ ध्यान का अर्थ ही है—पदो (अक्षरो) पर ध्यान केन्द्रित करना। इस ध्यान का मुख्य आलम्बन शब्द हैं, क्योकि अकारादि स्वर तथा ककारादि व्यजन से ही

---

१. ज्ञानार्णव, ३४।२४-२७, योगशास्त्र, ७।२१-२२
२. वही, ३४।२८-३०; वही, ७।२३-२५
३. योगशास्त्र, ७।२६-२८, ज्ञानार्णव, ३४।३३

शब्दों की उत्पत्ति होती है। इसलिए इस ध्यान को वर्ण-मातृका का ध्यान भी कहते हैं,[1] जो पाँच प्रकार से निष्पन्न होते हैं—

अक्षर-ध्यान के द्वारा शरीर के तीन केन्द्रो अर्थात् नाभि-कमल, हृदय-कमल तथा मुख-कमल की कल्पना की जाती है और नाभि-कमल मे सोलह पत्रोवाले कमल की स्थापना करके उसमे अ, आ आदि सोलह स्वरों का ध्यान करने का विधान है; हृदयकमल में कर्णिका एवं पत्रो सहित चौबीस दलवाले कमल की कल्पना करके उस पर इन क, ख, ग, घ, आदि २५ वर्णो का ध्यान करने का विधान है तथा अष्ट पत्रो से सुशोभित मुख-कमल के ऊपर प्रदक्षिण क्रम से विचार करते हुए प्रत्येक य, र, ल, व, श, ष, स, ह, इन आठ वर्णो का ध्यान करने का विधान है।[2] इस प्रकार निरंतर ध्यान करनेवाला योगी सम्पूर्ण श्रुत का ज्ञाता हो जाता है—विगतभ्रम हो जाता है।[3] श्रुतज्ञानी होकर मोक्ष का अधिकारी बनता है।

मंत्र व वर्णो के ध्यान मे समस्त पदो का स्वामी 'अर्हं' माना गया है, जो रेफ से युक्त, कला एवं बिन्दु से आक्रान्त अनाहत सहित मंत्रराज है।[4] इस ध्यान के विषय मे बताया गया है कि साधक को एक सुवर्णमय

---

१. पदान्यालम्ब्य पुण्यानि योगिभिर्यद्विधीयते।
तत्पदस्थ मतं ध्यानं विचित्रनयपारगै ॥
ध्यायेदनादिसिद्धान्तप्रसिद्धा वर्णमातृकाम्।
नि.शेषशब्द-विन्यास-जन्मभूमि जगन्नताम् ॥ —ज्ञानार्णव, ३५।१-२

२. द्विगुणाष्टदलाम्भोजे नाभिमण्डलवर्तिनि।
भ्रमन्ती चिन्तयेद् ध्यानी प्रतिपत्रम् स्वरावलीम् ॥
चतुर्विशति-पत्राढ्य हृदि कंजं सकर्णिकम्।
तत्र वर्णानिमानृध्यायेत् संयमी पचविंशतिम् ॥
ततो वदनराजीवे पत्राष्टक विभूषिते।
परं वर्णाष्टक ध्यायेत्संचरन्त प्रदक्षिणम् ॥ —वही, ३५।३-५

३ ज्ञानार्णव, ३५।६

४. अथ मन्त्रपदाधीश सर्वतत्त्वैकनायकम्।
आदिमध्यान्तभेदेन स्वरव्यंजनसम्भवम् ॥

कमल की कल्पना करके उसके मध्य में कर्णिका पर विराजमान, निष्कलक, निर्मल चंद्र की किरणो जैसे, आकाशगामी एवं सपूर्ण दिशाओ में व्याप्त 'अर्हं' मंत्र का स्मरण करना चाहिए। तत्पश्चात् मुखकमल में प्रवेश करते हुए, प्रवलयो मे भ्रमण करते हुए नेत्रपलको पर स्फुरित होते हुए भाल-मण्डल में स्थिर होते हुए तालुरन्ध्र से बाहर निकलते हुए, अमृत की वर्षा करते हुए, उज्ज्वल चद्रमा के साथ स्पर्धा करते हुए, ज्योतिर्मण्डल मे भ्रमण करते हुए, आकाश में संचरण करते हुए तथा मोक्ष के साथ मिलाप करते हुए सम्पूर्ण अवयवो मे व्याप्त कुम्भक के द्वारा इस मंत्रराज का चिन्तन करना चाहिए।[१]

इस प्रकार इस मंत्रराज की स्थापना द्वारा मन को क्रमशः सूक्ष्मता की ओर 'अर्हं' मत्र पर केंद्रित किया जाता है अर्थात् अलक्ष्य मे अपने को स्थिर करने पर साधक के अन्तरंग मे एक ऐसी ज्योति प्रकट होती है, जो अक्षय तथा इद्रिय के अगोचर होती है।[२] इसी ज्योति का नाम आत्मज्योति है तथा इसी से साधक को आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है।

प्रणव नामक ध्यान में 'ॐ' पद का ध्यान किया जाता है। इस ध्यान का साधक योगी सर्वप्रथम हृदय-कमल मे स्थित कर्णिका मे इस पद की स्थापना करता है तथा वचन विलास की उत्पत्ति के अद्वितीय कारण, स्वर तथा व्यंजन से युक्त, पचपरमेष्ठी के वाचक, मूर्धा मे स्थित चद्रकला से झरनेवाले अमृत के रस से सरावोर महामत्र प्रणव 'ॐ' कुम्भक करके ध्यान किया जाता है।[३] इसकी विशेषता यह है कि

ऊर्ध्वाधोरेफसंरुद्धं सकलं बिन्दुलाञ्छितम्।
अनाहतयुत तत्त्व मत्रराजं प्रचक्षते॥ —ज्ञानार्णव, ३५।७-८

१. योगशास्त्र, ८।१८-२२, ज्ञानार्णव, ३५।१० व १६-१९

२. ततः प्रच्याव्य लक्ष्येभ्य अलक्ष्ये निश्चल मनः।
दधतो ऽस्य स्फुरत्यन्तर्ज्योतिरत्यक्षमक्षयम्॥ —ज्ञानार्णव, ३५।३०

३ (क) तथाहृत्पद्ममध्यस्थं शब्दब्रह्मैककारणम्।
स्वर व्यंजन-सवीतं वाचकं परमेष्ठिनः॥
मूर्ध-सस्थित-शीतांशु कलामृतरस-प्लुतम्।
कुम्भकेन महामंत्रं प्रणवं परिचिन्तयेत्॥—योगशास्त्र, ८।२९-३०,
(ख) देखें, ज्ञानार्णव, ३५।३३-३५

यह स्तम्भन कार्य मे पीत, वशीकरण में लाल, शोभित अवस्था में मू गे के समान, द्वेष मे कृष्ण, कर्मनाशक अवस्था मे चंद्रमा के समान उज्ज्वल वर्ण का होता है।[१] इस प्रकार यह प्रणव-ध्यान पद से बने 'ॐ' शब्द का होता है, जिसको लक्ष्य करके साधक आत्मविकास की ओर बढता है। इस ध्यान से अनेक प्रकार की शक्तियो एव आत्मदल की वृद्धि होती है और साथ ही कर्मक्षय भी होता है।

पचमरमेष्ठी नामक ध्यान में प्रथम हृदय मे आठ पंखुडीवाले कमल की स्थापना करके कर्णिका के मध्य मे 'सप्ताक्षर नरहंताण' पद का चिन्तन किया जाता है। तत्पश्चात् चारो दिशाओं में चार पत्रो पर क्रमश 'णमो सिद्धाण, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाण तथा णमो लोए सव्वसाहूण' का ध्यान किया जाता है तथा चार विदिशाओ के पत्रो पर क्रमशः 'एसो पंचणमुक्कारो सव्वपावप्पणासणो, मगलाण च सव्वेसि पढमं हवइ मंगल' का ध्यान किया जाता है।[२] शुभचद्र के मतानुसार पूर्वादि चार दिशाओ मे तो णमो अरहंताणं आदि का तथा चार विदिशाओ क्रमश. 'सम्यग्दर्शनाय नम', सम्यग्ज्ञानाय नम , सम्यक्चारित्राय नमः तथा सम्यक् तपसे नमः' का स्मरण किया जाता हैं।[३] साधक इन्ही पर अपनी सम्पूर्ण भावनाओं को एकाग्र करके आत्म सिद्धि मे सलग्न होता है।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी मत्र हैं, जिनका नित्य जप करने से मनोव्याधियो की शान्ति होती है, कष्टो का परिहार होता है तथा कर्मो का आस्रव रुक जाता है। सोलह अक्षरो से युक्त मत्र को षोडशाक्षर-

---

१ पीतंस्तम्भेऽरुण वश्ये क्षोभणे विद्रुमप्रभम् ।
कृष्णं विद्वेषणे ध्यायेत् कर्मघाते शशिप्रभम् ॥ —योगशास्त्र, ८।३१

२ अष्टपत्रे सिताम्भोजे कर्णिकाया कृतस्थितिम् ।
आद्य सप्ताक्षर मन्त्रं पवित्र चिन्तयेत्तत. ॥
सिद्धादिक-चतुष्क च दिक्पत्रेषु यथाक्रमम् ।
चूलापाद-चतुष्क च विदिक्पत्रेषु चिन्तयेत् ॥ —वही, ८।३३-३४

३. दिग्दलेषु ततोन्येषु विदिक्पत्रेष्वनुक्रमात् ।
सिद्धादिकचतुष्क च दृष्टिबोधादिक तथा ॥ —ज्ञानार्णव, ३५।४२

विद्या कहा है, क्योंकि यह पंचपदों तथा पंचपरमेष्ठी के नाम से बना है। षोडशाक्षर मंत्र है—'अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः'। छ अक्षर का जप है–'अरिहंत सिद्ध'। चार अक्षरवाला है–'अरिहंत'। दो अक्षरों का है 'सिद्ध' एव एक अक्षर का है 'अ'।[1] इन मंत्रों का जप पवित्र मन से करना चाहिए, क्योंकि समस्त कर्मों को दग्ध करने की शक्ति प्राप्त होती है। इसी तरह 'ॐ, ह्रां, ह्रीं, ह्रूं, ह्रौं, ह्रः' 'असिआउसा नमः' इस पचाक्षरमयी विद्या का जप करने से साधक संसार के बंधन अर्थात् कर्मग्रंथियो को तोड देता है[2] और एकाग्रचित्त से मंगल, उत्तम और शरण पदो का जप करता हुआ मोक्ष प्राप्त करता है।[3] 'क्ष्वीं' विद्या का जप करने का भी विधान है, जिसे भाल-प्रदेश पर स्थिर करके एकाग्र मन से चिन्तन-मनन करने से कल्याण होता है।[4] इस प्रकार साधक को कभी ललाट पर 'क्ष्वीं' विद्या का, तो नासाग्र पर प्रणव ॐ का तथा कभी शून्य अथवा अनाहत[5] का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार के ध्यान से अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं तथा निर्मल ज्ञान का उदय होता है।[6]

इस प्रकार पदस्थ ध्यान मे चित्त को स्थिर करने के लिए पदों (बीजाक्षरो, मंत्राक्षरो) का आलम्बन लिया जाता है, और आत्मसमीप

---

१ वही, ३५।५०-५४

२ पचवर्णमयी पंचतत्त्वा विद्योद्धृता श्रुतात्।
अभ्यस्यमाना सततं भवक्लेशं निरस्यति ॥ —योगशास्त्र, ८।४१

३ मंगलोत्तम-शरण-पदान्यव्यग्र-मानसः।
चतुश्रमाश्रमाण्येव स्मरन् मोक्षम् प्रपद्यते ॥ —वही, ८।४२

४. विद्यां क्ष्वीं इति भालस्थां ध्यायेत्कल्याणकारकम्। —वही, ८।५७

५ अनाहत शब्द ९ अक्षरो से मिलकर बना हुआ है—यथा (१) ॐकार, (२) अनुस्वार, (३) ईकार, (४) ऊर्ध्वरेफ, (५) हकार, (६) हकार, (७) निम्न रेफ, (८) अनुस्वार और (९) ईकार।
ॐबिन्द्वाकारहरोर्द्धवा रेफबिन्द्वानवाक्षरम्।
भालाधः स्यन्दि पीयूषबिन्दु विदुरनाहतम् ॥ —ज्ञानार्णव, पृ० २

६. नासाग्रे प्रणवः शून्यमनाहतमिति त्रयम्।
ध्यायन् गुणाष्टक लब्ध्वा ज्ञानमाप्नोति निर्मलम् ॥ —योगशास्त्र, ८।६०

ले जानेवाली जपविधियो का अभ्यास किया जाता है। जपविधियो से विभिन्न लब्धियाँ भी प्राप्त होती हैं, जिनसे साधक को दूर रहना चाहिए, क्योकि उनका लक्ष्य चित्त को शुद्ध और एकाग्र करना है, न कि जादू-टोना करना। वस्तुत. योगी सांसारिक प्रपंचो से रहित होता है, इसलिए उसके ध्यान की शुद्धि अवश्य होती है। लेकिन जो रागद्वेषादि से मोहित होकर उसे दूर करने के विचार से ध्यान करता है, उसको सिद्धियाँ प्राप्त नही होती।[1] इस ध्यान के द्वारा योगी इन्द्रियलोलुपता से रहित स्थिर-मन, निरोग, उदारअन्त करण, शरीर से गधयुक्त मलमूत्रादि कम करने वाला तथा मितभाषी होता है।[2]

(३) **रूपस्थ ध्यान**—इस ध्यान मे साधक अपने मन को तीर्थंकर अथवा सर्वज्ञदेव पर केन्द्रित करता है अर्थात् तीर्थंकर के गुणो एव आदर्शो को अपने समक्ष लाता है अथवा उन्हे अपने मे आरोपित करके मन को स्थिर करता है। अरहत भगवान् के स्वरूप का अवलम्बन करके किया जानेवाला ध्यान रूपस्थ ध्यान कहलाता है।[3]

रूपस्थ ध्यान का साधक रागद्वेषादि विकारो से रहित, शान्त-कान्तादि समस्त गुणों से युक्त, तथा योगमुद्रा बहाने वाला, अतिशय गुणो से युक्त जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा का निर्मल चित्त-से ध्यान करनेवाला होता है।[4] ऐसा योगी वीतराग होकर कर्मों से मुक्त होता है, अन्यथा रागी का ध्यान करने से वह स्वयं रागी बन जाता है,[5] क्योकि आत्मा

---

१. वीतरागस्य विज्ञेया ध्यानसिद्धिर्ध्रुव मुने.।
क्लेश एव तदर्थं स्याद्रागार्तस्येह देहिन.॥ —ज्ञानार्णव, ३५।११५

२. अलौल्यमारोग्यमनिष्ठुरत्वं गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पम्।
कान्तिः प्रसादः स्वरसौम्यता च योगप्रवृत्तेः प्रथमं हि चिह्नम्॥
—ज्ञानार्णव मे उद्धृत, ३८।१३ (१)

३. अर्हतो रूपमालम्ब्य ध्यानं रूपस्थमुच्यते। —योगशास्त्र, ९।७

४. योगशास्त्र, ९।८-१०; ज्ञानार्णव, अध्याय ३६

५. वीतरागो विमुच्येत वीतराग विचिन्तयन्।
रागिण तु समालम्ब्य रागी स्यात् क्षोभणादिकृत्। —योगशास्त्र, ९।१३

के परिणाम जिन-जिन भावो से युक्त होते हैं, उन्ही के अनुरूप वे परिणत हो जाते हैं।[1]

(४) रूपातीत ध्यान—रूपातीत ध्यान का अर्थ है रूप-रंग से अतीत निरंजन, निराकार, ज्ञानशरीरी आनन्दस्वरूप स्मरण करना।[2] इस अवस्था मे ध्याता और ध्येय एकरूप हो जाते हैं। अत: इस अवस्था को समरसीभाव भी कहा गया है।[3]

इस तरह पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ तथा रूपातीत ध्यानों द्वारा क्रमश: शरीर, अक्षर, सर्वज्ञदेव तथा सिद्धात्मा का चिंतन किया जाता है; क्योकि स्थूल ध्येयो के बाद क्रमश: सूक्ष्म और सूक्ष्मतर ध्येय का ध्यान करने से मन मे स्थिरता आती है और ध्याता एवं ध्येय मे कोई अन्तर नही रह जाता।

धर्मध्यान के इन भेद-प्रभेदो के माध्यम से योगी ध्यान की स्थिरता को प्राप्त करने मे समर्थ होता है और उसका चित्त किसी एक ही ध्येय मे केन्द्रित हो जाता है। वैसी स्थिति मे योगी शरीरादिक परिग्रहो एवं इन्द्रियादिक विषयो से सर्वथा निवृत्त हो जाता है और एकाग्र होकर आत्मा में अवस्थित हो जाता है।[4] अर्थात् धर्मध्यान मे योगी बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करके बाह्य वस्तु का आलम्बन लेकर आत्म-समीपस्थ होने के लिए प्रयत्नशील होता है। लेकिन यह ध्यान सभी मनुष्य नही कर सकते, अपितु वे ही (योगी) कर सकते हैं जो भले ही प्राणों का त्याग करना पडे, लेकिन सयम से च्युत न हो, अन्य जीवो के सुख-दु:ख को अपने सुख-दु:ख जैसा समझें, परीषह-जयी हो, मुमुक्षु हो, राग-द्वेषादि कषायो-दुष्प्रवृत्तियो एव कामवासनाओ से मुक्त हो, शत्रु-मित्र,

---

१. येन येन हि भावेन युज्यते यंत्रवाहक:। —वही, ९।१४

२ (क) चिदानन्दमयं शुद्धममूर्तं ज्ञानविग्रहम्।
स्मरेद्यत्रात्मनात्मानं तद्रूपातीतमिष्यते॥ —ज्ञानार्णव, ३७।१६

(ख) योगशास्त्र, १०।१

३ योगशास्त्र, १०।३-४

४ अतिक्रम्य शरीरादिसगानात्मन्यवस्थित।
नैवाक्षमनसोर्योग करोत्यैकाग्रता श्रित॥ —ज्ञानार्णव, ३८।९

निन्दा-स्तुति आदि मे समताभाव धारण करनेवाले हो, परोपकारी हों और प्रशस्तवुद्धि हो।[1]

शुक्लध्यान धर्मध्यानपूर्वक ही होता है। इसलिए धर्मध्यान को योगसाधना का प्रथम सोपान माना गया है, क्योकि आत्मा के शुद्ध, ज्ञानस्वरूप को तभी जाना जा सकता है जव योगी कषायो, इन्द्रियादि वासनाओ तथा कर्मों का सर्वथा उपशमन धर्मध्यान द्वारा कर लेता है। अतः धर्मध्यान के अन्तर्गत योगी ध्यान के विभिन्न साधनो जैसे जप, मन्त्र, विद्याओ का सहारा लेकर, व्रतो के सम्यक् आचरण से स्थूल वस्तुओ को ध्यान मे रखते हुए सूक्ष्म तत्व की ओर गति करता है। इस प्रकार धर्मध्यान से मन की स्थिरता, पवित्रता एवं निर्मलता प्राप्त होती है और आत्म-ज्ञान की उपलब्धि से योगी आत्मा मे तदाकार हो जाता है, जहाँ शुक्लध्यान की स्थिति है। इस दृष्टि से धर्मध्यान आत्मप्राप्ति की भूमिका उपस्थित करता है।

(इ) शुक्लध्यान

'आत्मा की अत्यन्त विशुद्धावस्था को शुक्लध्यान कहा गया है। वस्तुतः इस ध्यान से मन की एकाग्रता के कारण आत्मा मे परम विशुद्धता आती है और कषायो, रागभावो अथवा कर्मो का सर्वथा परिहार हो जाता है। समवायाग के अनुसार श्रुत के आधार से मन की आत्यन्तिक स्थिरता एव योग का निरोध शुक्लध्यान है।[2] स्थानांगसूत्र मे शुक्लध्यान के प्रकार, लक्षण, आलम्बन तथा अनुप्रेक्षाओ का निरूपण है।[3] शुक्लध्यान कषायो के सर्वथा उपशांत होने पर होता है तथा चित्त, क्रिया और इन्द्रियो से रहित होकर ध्यान-धारणा के विकल्प से भी मुक्त होता है।[4] यह ध्यान धर्मध्यान की भूमिका के बाद प्रारम्भ

---

१. योगशास्त्र, ७।२–७ २. समवायाग, ४।

३. स्थानाग, अध्ययन ४, सूत्र ६९-७२ (जैन विश्वभारती द्वारा प्रकाशित)

४. कषायमलविश्लेषात्प्रशमाद्वा प्रसूयते।
यत पुसामतस्तज्ज्ञैः शुक्लमुक्त निरुक्तिकम्॥ —ज्ञानार्णव, ३९।५
निष्क्रियं करणातीत ध्यानधारणवर्जितम्।
अन्तर्मुख च यच्चित्त तच्छुक्लमिति पठ्यते॥
—ज्ञानार्णव मे उद्धृत, ३९।४ (१)

होता है। इस ध्यान की प्रक्रिया के लिए किसी बाह्य ध्येय की अपेक्षा नही होती, क्योकि इस अवस्था तक पहुँचने पर मन इतना स्थिर हो गया होता है कि उसे आत्मा के अतिरिक्त दूसरी कुछ भी दिखाई नही देता।

इस ध्यान के चार आलम्बन हैं— क्षमा, मार्दव, आर्जव एव मुक्ति।[1]

शुक्लध्यान मुक्ति-प्राप्ति का सेतु है, इसलिए योगी को रूपातीत एव निराकार आत्मा का ध्यान करने के लिए कहा गया है।[2] यह ध्यान करने मे वे ही समर्थ हैं, जिन्होने समताभाव[3] की वृद्धि कर ली है और जो वज्रऋषभनाराचसंहनन वाले अर्थात् स्वस्थ शरीरवाले एव श्रुतधारी योगी हैं।[4]

शुक्लध्यान के चार प्रकार हैं[5]—(अ) पृथकत्वश्रुत सविचार, (आ) एकत्व श्रुतअविचार, (इ) सूक्ष्मक्रियाप्रतिपत्ति और (ई) उत्सन्न-क्रिया-प्रतिपत्ति। इन चार प्रकारो मे योग की अपेक्षा से जीव की तरतमता दर्शित है, क्योकि जीव सम्पूर्ण योग का निरोध एकसाथ नही कर सकता, धीरे-धीरे क्रमश करता है। अत प्रथम दो प्रकार छद्मस्थ अर्थात् अल्पज्ञानियो के लिए विहित हैं, क्योकि उनमे श्रुतज्ञानपूर्वक पदार्थो का अवलम्बन होता है तथा शेष दो प्रकार कषायो से पूर्णत रहित होने के कारण केवलज्ञानी के लिए निर्देशित हैं, क्योकि यह ध्यान पूर्णत. सर्वज्ञ

---

१ (क) अहखंति-मद्दव-ऽज्जव-मुत्तीओ जिणमयप्पहाणाओ।
आलवणाइं जेहिं सुक्कज्झाण समारुहइ॥
—ध्यानशतक, ६९, भगवतीशतक, २५।७

(ख) खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे। —स्थानाग, अध्ययन ४

२ मुक्ति श्रीपरमानदध्यानेनानेन योगिना।
रूपातीत निराकारं ध्यानं ध्येयं ततोऽनिश॥ —योगप्रदीप, १०७

३ एएया पगारेणं जायइ सामाइयस्स सुद्धि त्ति।
तत्तो सुक्कज्झाणं कमेण तह केवलं चेव॥ —योगशतक, ९०

४. इदमादि-सहनना एवाल्‍ पूर्ववेदिनः कर्तुम्।
स्थिरता न याति चित्त कथमपि यत्स्वल्प-सत्त्वानाम्॥ —योगशास्त्र, ११।२

५ ज्ञेय नानात्वश्रुतविचारमैक्य-श्रुताविचारं च।
सूक्ष्म-क्रियमुत्सन्न-क्रियामिति भेदैश्चतुर्धा-तत्। —योगशास्त्र, ११।५

के ही निरालम्बपूर्वक होता है।[1] इस सन्दर्भ मे अनेकपन अर्थात् विभिन्नता को पृथकत्व कहा गया है तथा शास्त्रविहित ज्ञान को वितर्क, अर्थ-व्यञ्जन एव योग के संक्रमण को विचार कहा है।[2] प्रथम दो ध्यानो में श्रुत का अवलम्बन होने के कारण साधक का मन एक ही आलम्बन मे स्थिर होते हुए भी, अर्थ-व्यञ्जनादि से संक्रमित होता रहता है। यहाँ एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ मे स्थिर होना अर्थसङ्क्रान्ति और एक व्यञ्जन से दूसरे व्यजन मे स्थिर होना व्यंजनसक्राति तथा उसी प्रकार एक योग से दूसरे योग मे गमन करना योग-सक्रांति है।[3] इस प्रकार प्रथम दो ध्यानो मे एक अर्थ से दूसरे अर्थ मे, एक शब्द से दूसरे शब्द में और एक योग से दूसरे योग मे आश्रय लेकर चिन्तन किया जाता है, यद्यपि तीनो के चिन्तन करने का विषय एक ही होता है।

(अ) पृथकत्व-श्रुत-सविचार (पृथकत्व-वितर्कसविचार)—इस ध्यान में पृथक्-पृथक् रूप से श्रुत का विचार होता है अर्थात् किसी एक द्रव्य में उत्पाद्-व्यय-ध्रौव्य आदि पर्यायो का चिन्तन श्रुत का आधार लेकर करना पृथकत्व-वितर्क सविचार ध्यान है।[4] इस ध्यान मे अर्थ-व्यञ्जन (शब्द) तथा योग का संक्रमण होता रहता है।[5] उस समय ध्याता कभी तो अर्थ का चिन्तन करते-करते शब्द का चिन्तन करने लगता है और कभी शब्द का चिंतन करते-करते अर्थ का। इस प्रकार मन, वचन एव काय रूप योग मे भी कभी मनोयोग से काययोग या वचनयोग मे, वचनयोग से

---

१ छद्मस्थयोगिनामाद्ये द्वे शुक्ले परिकीर्तिते।
द्वे चान्त्ये क्षीणदोपाणा केवलज्ञानचक्षुषाम् ॥
श्रुतज्ञानार्थसम्बन्धाच्छ्रुतालम्बनपूर्वके।
पूर्वे परे जिनेन्द्रस्य नि शेषालम्बनच्युते ॥—ज्ञानार्णव, ३९।६-७

२. पृथक्त्वं तत्र नानात्वं वितर्कं श्रुतमुच्यते।
अर्थव्यञ्जनयोगाना वीचारः सक्रम. स्मृत· ॥—वही, ३९।१४

३. ज्ञानार्णव, ४२।१५-१६

४ एकत्रपर्यायाणा विविधनयानुसरणं श्रुताद् द्रव्ये।
अर्थव्यञ्जन-योगान्तरेपु सक्रमण-युक्तमाद्य तत् ॥ —योगशास्त्र, ११।६,
तथा ध्यानशतक, ७७-७८

५. अध्यात्मसार, ५।७४-६७

काययोग अथवा मनोयोग में, काययोग से मनोयोग या वचनयोग मे सक्रमण होता रहता है। अत अर्थ-शब्द-योग की दृष्टि से, संक्रमण होने पर भी, ध्येय एक ही रहता है और मन की स्थिरता भी बनी रहती है। कहा है कि जब तक इन तीनो योगो को आत्मबुद्धि से ग्रहण किया जाता है, तब तक यह जीव ससार मे ही रहता है[1], श्रुतपूर्वक मन-वचन-कायादि मे विचारो के सक्रमण के कारण जीव ससारी ही रहता है, फिर भी पूर्ववर्ती ध्यानों की अपेक्षा मन की स्थिरता तथा समताभाव की वृद्धि इस ध्यान मे अधिक होती है। यही कारण है कि योगी मुक्ति की ओर अग्रसर होने लगता है। एक शब्द से दूसरे शब्द पर तथा एक योग से दूसरे योग पर जाने के कारण ही इस ध्यान को सविचार-सवितर्क कहा गया है।[2]

(आ) एकत्व-श्रुत अवीचार—इस ध्यान मे श्रुत के आधार पर ही अर्थ-व्यञ्जन-योग के संक्रमण से रहित एक पर्यायविषयक ध्यान किया जाता है।[3] अर्थात् इसमे वितर्क का संक्रमण नही होता और इसके विपरीत एकरूप मे स्थिर होकर चिन्तन किया जाता है। जहाँ पहले प्रकार के ध्यान के अन्तर्गत योगी का मन अर्थ-व्यञ्जन-योग मे चिन्तन करते हुए एक ही आलम्बन मे उलट-फेर करता रहता है, वहाँ इस ध्यान मे योगी की मन-स्थिरता सबल हो जाती है, आलम्बन का उलट-फेर बन्द हो जाता है तथा एक ही द्रव्य की विभिन्न पर्यायो के विपरीत एक ही पर्याय को ध्येय बना लिया जाता है। अत जिसने प्रथम ध्यान द्वारा अपने चित्त को जीत लिया है, जिसके समस्त कषाय शात हो गये हैं तथा जो कर्मरज को सर्वथा नष्ट करने के लिए तत्पर है—ऐसा साधक ही इस

---

१ स्वबुद्ध्या यावद्गृण्हीयात् कायवाक्चेतसा त्रयम्।
ससारस्तावदेतेषा भेदाभ्यासे तु निर्वृति ॥ —समाधितंत्र, ६२

२ शब्दाच्छब्दान्तर यायाद्योग योगान्तरादपि।
सवीचारमिद तस्मात्सवितर्कं च लक्ष्यते ॥
—ज्ञानार्णव मे उद्धृत, ३९।१९(२)

३. (क) एव श्रुतानुसारादेकत्व-वितर्कमेक-पर्याये।
अर्थ-व्यञ्जन-योगान्तरेष्वसक्रमणमन्यत्तु ॥ —योगशास्त्र, ११।७

(ख) ध्यानशतक, ७९-८०

द्वितीय ध्यान के योग्य होता है।[1] फलत. इस ध्यान की सिद्धि होने के बाद सदा के लिए घातिया कर्म (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय) विनष्ट हो जाते हैं।[2] अर्थात् इस द्वितीय ध्यान का योगी आत्मा की अत्यन्त विशुद्ध अवस्था अर्थात् केवलदर्शन एवं केवलज्ञान प्राप्त करता है।[3] अत उस योगी को सम्पूर्ण जगत् हस्तामलकवत दीखने लगता है,[4] क्योंकि केवलज्ञान मे इतनी शक्ति होती है कि समस्त ससार की भूत, भविष्यत् एव वर्तमान तीनो कालो की घटनाओं का युगपत ज्ञान होता है। उसे अनन्तसुख, अनन्तवीर्य आदि की भी प्राप्ति सहज हो जाती है।[5] पृथ्वीतल के समस्त जीव केवलज्ञानी को नमस्कार करते है, उनके धर्म-प्रवचनो को सभी प्राणी अपनी भाषा मे समझते हैं, वे जहाँ भी घूमते हैं वहाँ किसी भी प्रकार की महामारी अथवा दुर्भिक्ष वगैरह नही होते। ऐसे केवललब्धि-प्राप्त तीर्थङ्कर से सहज स्व-पर कल्याण होता है। तीर्थङ्कर नामकर्म के उदय के कारण उन्हे अनेक देव-देवाङ्गनाएँ आकर बन्दना करने लगते हैं, उनके उपदेश श्रवण के लिए देवो द्वारा वृहद् समवसरण (सभा मण्डप) की रचना की जाती है, पशु-पक्षी अर्थात् सभी प्राणी अपने वैर-भाव को भूलकर एकत्र बैठने लगते है, तथा सभा-मण्डप के मध्य मे स्थित तीर्थंकर भगवान् चार शरीर के रूप मे दिखाई देने लगते है।[6] यद्यपि इन्हे अन्य प्रकार की

---

१. एव शांतकषायात्मा कर्मकक्षाशुशुक्षणिः।
एकत्वध्यानयोग्य' स्यात्पृथकत्वेन जिताशयः। —ज्ञानार्णव मे उद्धृत, ३९।१९ (४)

२. ज्ञानावरणीय दृष्ट्यावरणीयं च मोहनीय च।
विलय प्रयान्ति सहसा सहान्तरायेण कर्माणि ॥ —योगशास्त्र, ११।२२

३. आत्मलाभमथासाद्य शुद्धि चात्यन्तिकी पराम्।
प्राप्नोति केवलज्ञान तथा केवलदर्शनम् ॥ —ज्ञानार्णव, ३९।२६

४. सम्प्राप्य केवलज्ञानदर्शने दुर्लभे ततो योगी।
जानाति पश्यति तथा लोकालोक यथावस्थम् ॥ —योगशास्त्र, ११।२३

५. अनन्तसुखवीर्यादिभूते स्यादग्रिम पदम्। —ज्ञानार्णव, ३९।२८

६ योगशास्त्र, ११।२४-४४

अनेक लब्धियाँ प्राप्त होती है, तथापि उन्हे भोगने की इच्छा वे नही करते हैं।

जिन जीवो के तीर्थंकर नामकर्म का उदय नही है; वे भी अपने इस ध्यान के बल से केवलज्ञान को प्राप्त होते हैं तथा आयुकर्म के नि:शेष होने तक साधारण जीवो को धर्मोपदेश देते हैं और अन्त मे निर्वाण प्राप्त करते हैं।[1] इस प्रकार चाहे तीर्थंकर हो या सामान्यकेवली, जिन्होने योग (मन-वचन-काय) की शुद्धि की है, वे विशुद्ध आत्मा के ध्यान एव चिन्तन द्वारा अनन्त कर्मपुद्गलो को क्षणमात्र मे नष्ट कर देते हैं।[2]

(ई) सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाति—अरहन्त परमेष्ठी की अवस्था मे जब आयुकर्म अन्तर्मुहूर्त तक ही अवशिष्ट रहता है और अघातिया कर्मों में अर्थात् नाम, गोत्र और वेदनीय इन तीनो की स्थिति आयुकर्म से अधिक हो जाती है तब उन्हे समरूप देने के लिए अथवा समान करने के लिए तीर्थंकर एवं सामान्यकेवली—इन दोनो को समुद्घात की अपेक्षा होती है।[3] यह समुद्घात आठ दण्ड मे होता है। ऐसा करते समय केवली भगवान् तीन समय में अपने आत्मप्रदेशों को दण्ड, कपाट एवं प्रस्तर के रूप में फैला देते हैं तथा चौथे समय मे सम्पूर्ण लोक को व्यापते हैं। लोक मे अपने आत्मप्रदेशो को व्याप्त करके योगी तीनो अघातिया कर्मों (वेदनीय, नाम एव गोत्र) की स्थिति घटाकर आयुकर्म के समान करते हैं। तत्पश्चात् उसी क्रम मे वे आत्मप्रदेश पूर्ववत् शरीर में प्रविष्ट होकर अवस्थित हो जाते हैं। इसी प्रकार समुद्घात की क्रिया पूर्ण होती है।[4]

---

१. तीर्थंकरनामसंज्ञं न यस्य कर्मास्ति सोऽपि योगबलात् ।
उत्पन्न केवल सन् सत्यायुषि बोधयत्युर्वीम् ॥
—योगशास्त्र, ११।४८

२. यतो योग विशुद्धानामनन्त-कर्म-पुद्गला ।
प्रणश्यन्ति क्षणार्धेन स्वात्म-ध्यानादि-भावनैः ॥
—समाधिमरणोत्साहदीपक, १६९

३ यदायुरधिकानि स्यु. कर्माणि परमेष्ठिनः ।
समुद्घातविधिं साक्षात् प्रागेवारभते तदा ॥—ज्ञानार्णव, ३९-३८

४ वही, ३९।३९-४२; योगशास्त्र, ११।४९-५२

समुद्घात की इस क्रिया के पश्चात् योगी बादर (स्थूल) काय-योग का अवलम्बन लेकर बादर मनोयोग एव वचनयोग का निरोध करते हैं। वे सूक्ष्म काययोग का अवलम्बन लेकर बादरकाययोग का निरोध करते हैं। इसके पश्चात् वे सूक्ष्म काययोग के अवलम्बन से सूक्ष्म मनोयोग तथा वचनयोग का भी निरोध कर डालते हैं। ऐसी अवस्थाओ में जो ध्यान किया जाता है उसे ही सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यान कहते हैं।[१]

इस ध्यान मे योगी के मोक्षप्राप्ति का समय निकट आ जाने पर तीन योगो मे मनोयोग एवं वचनयोग का पूर्णतः निरोध हो जाता है, लेकिन काययोग मे स्थूल काययोग का निरोध होकर भी केवल सूक्ष्म-काययोग की क्रिया अर्थात् श्वासोच्छ्वास ही शेष रहता है[२]। अतः इस ध्यान मे क्रमश मन, वचन एव काय का निरोध होता है और काययोग के अन्तर्गत केवल श्वास जैसी सूक्ष्म क्रिया ही अवशिष्ट रहती है। इस ध्यान की प्राप्ति के बाद योगी अन्य ध्यानो मे नही लौटता और वह अन्तिम समय मे सूक्ष्म क्रिया का भी त्याग करके मुक्ति प्राप्त करता है।[३]

(ई) उत्पन्न क्रियाप्रतिपाति (व्युपरतक्रियानिवृत्ति)—इस ध्यान में उपर्युक्त ध्यान की अवशिष्ट सूक्ष्म क्रिया की भी निवृत्ति हो जाती है तथा अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पाँच ह्रस्व स्वरो का उच्चारण करने मे जितना समय लगता है उतने समय मे केवली भगवान् शैलेशी अवस्था को प्राप्त होते हैं, जहाँ वे पर्वत की भाँति निश्चल रहते है।[४] यह ध्यान

---

१. योगशास्त्र, ११।५३-५५

२. (क) निर्वाणगमनसमये केवलिनो दरनिरुद्धयोगस्य।
सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति तृतीय कीर्तित शुक्लम् ॥—योगशास्त्र, ११।८

(ख) सूक्ष्मक्रियानिवृत्याख्य, तृतीयं तु जिनस्यतत्।
अर्धरुद्धागयोगस्य, रुद्धयोगद्वयस्य च ॥
—अध्यात्मसार, ५।७८

३. ध्यानशतक, ८१

४ (क) लघुवर्ण-पंचकोद्गिरणतुल्यकालमवाप्य शैलेशीम्।
—योगशास्त्र, ११।५७

चौदहवें अयोगी नामक गुणस्थान मे होता है जिसमे केवली भगवान् उपान्त्य मे ७२ कर्मप्रकृतियों तथा इसी गुणस्थान के अन्त समय की अवशिष्ट १३ कर्मप्रकृतियो को भी नष्ट कर देते हैं।[1] इस प्रकार शेष अघातिया कर्मो का नाश करके केवलीभगवान् इस संसार से पूर्णत: सम्बन्ध तोड लेते हैं और सीधे ऊर्ध्वगमन करके लोक के शिखर पर विराजमान होते हैं, क्योकि उसके आगे लोकाकाश नही है और न धर्मास्तिकाय ही है, अतः उसके आगे गति नही है।[2] वह सिद्ध परमात्मा लोक के शिखर पर अवस्थित होकर स्वाभाविक अनन्तगुणो के वैभव से परिपूर्ण अनन्तकाल तक रहता है।[3]

(ख) तुरीयतु समुच्छिन्न-क्रियमप्रतिपाति तत् ।
शैलवन्निष्प्रकम्पस्य, शैलेस्या विश्ववेदिन: ॥—अध्यात्मसार, ५।७९.

१. द्वासप्ततिर्विलीयन्ते कर्मप्रकृतयस्तदा ।
अस्मिन् सूक्ष्मक्रिये ध्याने देवदेवस्य दुर्जया· ॥
विलयं वीतरागस्य तत्रयान्ति त्रयोदश ।
कर्मप्रकृतय सद्य: पर्यन्ते या व्यवस्थिताः ॥—ज्ञानार्णव, ३९।४७ व ४९

२. ज्ञानार्णव, ३९-५५

३ ज्ञानार्णव, ३९।५८

योग-सिद्धि के लिए आध्यात्मिक विकास अतीव आवश्यक है। व्यावहारिक परिभाषा मे आध्यात्मिक विकास ही चारित्र-विकास है और इस आध्यात्मिक अथवा आत्मिक विकास-क्रम मे ही वैराग्य तथा समताभाव का उदय होता है, जो योग का प्रमुख अंग है।[1] यद्यपि आत्मा स्वभावतः शुद्ध है, परन्तु जब वह अविद्या, कर्म अथवा माया के बन्धन मे होती है तब विकृत होकर नाना प्रपंचो अथवा विभिन्न अच्छे-बुरे कर्मों का कारण बन जाती है। अत. आत्मा की परिशुद्धि के लिए आचारसम्बन्धी व्रत-नियमो का पालन आवश्यक होता है, ताकि समस्त कर्ममल का नाश हो सके और नये कर्मो का बधन भी रुक सके। इन्ही अविद्याओ, कर्मों अथवा माया-प्रपंचो को दूर करने और आत्मा को विशुद्ध अवस्था मे लाने का प्रयत्न विभिन्न योग-परम्पराओ का अभीष्ट है; क्योकि विशुद्ध आत्मा ही मोक्ष की अधिकारी है। इस दृष्टि से योग के सन्दर्भ मे आध्यात्मिक अथवा आत्मिक विकास का वर्णन वैदिक, बौद्ध एवं जैन तीनो परम्पराओं मे हुआ है।

वैदिक योग और आध्यात्मिक विकास

वैदिक परम्परा के योगविषयक विभिन्न ग्रन्थो में आत्मिक विकास की कई प्रकार की चर्चा मिलती है। इन ग्रन्थो में से योगदर्शन और योगवासिष्ठ मे जीव के आध्यात्मिक विकास-क्रम का वर्णन सर्वांगीण और समुचित ढग से हुआ है, क्योकि इन ग्रन्थो मे अध्यात्म के साथ-साथ योगविषय का भी समाहार हुआ है। इस दृष्टि से योगदर्शन तथा योगवासिष्ठ मे वर्णित आध्यात्मिक विकासक्रम का दिग्दर्शन कर लेना प्रासगिक होगा।

योगदर्शनानुसार आध्यात्मिक विकास-क्रम मे चित्त की पाँच भूमिकाओ का उल्लेख हुआ है, जिनमें एक के बाद दूसरी अवस्था अथवा

---

१. योगस्य पन्था. परमस्तितिक्षा ततो महत्यात्म-बलस्य पुष्टि'।

—अध्यात्मतत्त्वलोक, ४।११

भूमिका क्रमशः चित्त-शुद्धि की परिधि को बढ़ाती जाती है। वे पाँच भूमिकाएँ इस प्रकार हैं—(१) क्षिप्त, (२) मूढ, (३) विक्षिप्त, (४) एकाग्र और (५) निरुद्ध।[1] इनमे प्रथम तीन भूमिकाएँ अज्ञान अर्थात् अविकास की होने के कारण योगश्रेणी मे परिगणित नही होती, क्योकि क्षिप्रावस्था मे रजोगुण के कारण साधक में चित्त की चंचलता अत्यधिक होती है। मूढावस्था में तमोगुण के कारण कर्तव्याकर्तव्य का विचार नही रहता तथा क्रोध कषाय का प्राबल्य होता है और सत्वगुण के आविर्भाव से किसी-किसी समय स्थिरता को प्राप्त होनेवाला चित्त विक्षिप्त कहलाता है, जिसमे योग-विघ्नो के कारण चित्त को चंचलता अत्यधिक होती है। अन्तिम दो भूमिकाएँ ही योग-श्रेणी मे योग्य मानी जाती हैं, क्योकि एकाग्र अवस्था मे जहाँ अविद्यादि क्लेश तथा कर्म-बधनो को क्षीण किया जाता है और चित्त को बाह्य वृत्तियो से हटाकर एक ही ध्येय-वस्तु मे एकाग्र किया जाता है, वहाँ निरुद्ध अवस्था में असम्प्रज्ञात समाधि की ओर अभिमुख हुआ जाता है, जहाँ केवल सस्कार ही शेष रह जाते है और वृत्तियों का पूर्णत शमन हो जाता है।

अत. प्रथम तीन भूमिकाओ मे साधक केवल चारित्र अथवा आचारादि का पालन करने मे लगा रह जाता है, क्योकि इन अवस्थाओ मे चित्त की अस्थिरता सबसे बडी बाधक होती है। इन भूमिकाओं को अविकसित भूमिकाएँ इसी दृष्टि से कहा गया है। परन्तु एकाग्र और निरुद्ध अवस्था मे योगी अथवा साधक के सस्कार भी नष्ट हो जाते हैं; चित्त-वृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं और मन एकाग्र हो जाता है। इस प्रकार इस भूमिका को असम्प्रज्ञात समाधि भी कहा जाता है और यह कैवल्य के लिए प्रमुख भी मानी जाती है।

योगवासिष्ठ के अनुसार आत्म-विकास की दो श्रेणियाँ हैं—अविकासावस्था एव विकासावस्था।

अविकासावस्था के अन्तर्गत जीव की सात अवस्थाओ का वर्णन हुआ है, जो इस प्रकार हैं—(१) बीजजाग्रत, (२) जाग्रत, (३) महा-

---

१ क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः।

—योगदर्शन, व्यासभाष्य, १।१

जाग्रत, (४) जाग्रत-स्वप्न, (५) स्वप्न, (६) स्वप्न-जाग्रत और (७) सुषुप्ति ।[१]

(१) **बीजजाग्रत**—सृष्टि के आदि में चिति का नामरहित और निर्मल चिंतन, क्योकि इसमे जाग्रत अवस्था का अनुभव बीजरूप से रहता है।

(२) **जाग्रत**—परब्रह्म से तुरन्त उत्पन्न जीव का ज्ञान, जिसमे पूर्व-काल की कोई स्मृति नही होती।

(३) **महाजाग्रत**—पहले जन्मो मे उदित और दृढता को प्राप्त ज्ञान।

(४) **जाग्रत-स्वप्न**—यह ज्ञान भ्रम की कोटि में आता है, क्योकि इसका उदय कल्पना द्वारा जाग्रत दशा में होता है और इस ज्ञान के द्वारा जीव कल्पना को भी सत्य मान बैठता है।

(५) **स्वप्न**—महाजाग्रत अवस्था के भीतर निद्रावस्था में अनुभूत विषय के प्रति जागने पर जब इस प्रकार का ज्ञान हो कि यह विषय असत्य है और इसका अनुभव मुझे थोड़े समय के लिए ही हुआ था।

(६) **स्वप्न-जाग्रत**—इस अवस्था मे अधिक समय तक जाग्रत अवस्था के स्थूल विषयो का और स्थूल देह का अनुभव नही होता और स्वप्न ही जाग्रत के समान होकर महाजाग्रत-सा प्रतीत होता है।

(७) **सुषुप्ति**—पूर्वोक्त अवस्थाओ से रहित, भविष्य मे दु.ख देनेवाली वासनाओ से युक्त जीव की अचेतन स्थिति।[२]

इनमे प्रथम दो अवस्थाओ अथवा भूमिकाओ मे रागद्वेषादि कषाय का अल्प अश होने के कारण वनस्पति एवं पशु-पक्षी मे होती हैं, लेकिन

---

१. तत्रारोपितमज्ञान तस्य भूमीरिमाः शृणु ।
बीजजाग्रत्तथा जाग्रन्महाजाग्रत्तथैव च ॥
जाग्रत्स्वप्नस्तथा स्वप्न स्वप्नजाग्रतसुषुप्तकम् ।
इति सप्तविधो मोहः पुनरेव परस्परम् ॥
—योगवासिष्ठ, उत्पत्तिप्रकरण, ११७।११-१२

२. वही, ३।११७, १४-२४, योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त, पृ० २३४-३६

आगे की ओर सभी भूमिकाओ में कषायों की अत्यधिकता होती है, अतः वे भूमिकाएँ मनुष्य की ही हैं; क्योकि क्रोध, मान, माया आदि की तीव्रता मनुष्य में ही पायी जाती है। इस प्रकार प्रथम भूमिका मे जितनी अज्ञानता होती है, उसकी परवर्ती अवस्थाओ मे उतनी अज्ञानता नही रहती। फिर भी ये सात भूमिकाएँ अज्ञानावस्था की ही कही जाती हैं, क्योकि भले-बुरे का ज्ञान उनमे नही हो पाता।

विकसित अवस्था—इस अवस्था मे पहले की अपेक्षा विवेक-शक्ति की उपस्थिति के कारण साधक का मन आत्मा के वास्तविक रूप को पहचानने के लिए उत्सुक रहता है, जिससे कि वह बुरे विचारो को त्याग कर आत्मा के समीप ले जानेवाले प्रशस्त विचारों को लगन के साथ ग्रहण कर सके। इस संदर्भ मे आत्मा को बोध देनेवाली ज्ञान की सात भूमिकाओ का उल्लेख हुआ है, जो क्रमशः स्थूल आलम्बन से हटाकर साधक को सूक्ष्म की ओर ले जाती है, जहाँ मोक्ष की स्थिति है। यद्यपि मोक्ष और सत्य का ज्ञान दोनो पर्यायवाची है, क्योकि जिसको सत्य का ज्ञान हो जाता है, वह जीव फिर जन्म नही लेता।

योगस्थित ज्ञान की सात भूमिकाएँ[1] इस प्रकार हैं—

(१) **शुभेच्छा**—वैराग्य उत्पन्न होने पर साधक के मन मे अज्ञान को दूर करने और शास्त्र एवं सज्जनो की सहायता से सत्य को प्राप्त करने की इच्छा का उत्पन्न होना।

(२) **विचारणा**—शास्त्राध्ययन, सत्सग, वैराग्य और अभ्यास से सदाचार की प्रवृत्ति पैदा होना।

(३) **तनुमानसा**—शुभेच्छा और विचारणा के अभ्यास से इद्रिय-विषयो के प्रति असक्तता होने से मन की स्थूलता का ह्रास होना।

(४) **सत्वापत्ति**—पूर्वोक्त तीनो भूमिकाओ के अभ्यास और विषयो की विरक्ति से आत्मा मे चित्त की स्थिरता प्राप्त होना।

---

१. ज्ञानभूमि· शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽससक्ति नामिका।
पदार्थ-भावनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता॥
—योगवासिष्ठ, उत्पत्तिप्रकरण, ११८।५-६

(५) असंसक्ति—इस भूमिका मे पूर्वोक्त अवस्थाओ के अभ्यास तथा सासारिक विपयो मे असंसक्ति होने से, सत्ता के प्रकाश मे मन स्थिर हो जाता है और साधक आत्मा मे ध्यानस्थ होने को उत्सुक हो जाता है।

(६) पदार्थभावनी—इस भूमिका में साधक पूर्वोक्त भूमिकाओ के अभ्यास से आत्मा मे मन को दृढ कर लेता है और समस्त वाह्य पदार्थों की ओर से विमुख हो जाता है। ऐसी अवस्था मे साधक को वाहरी सभी पदार्थ असत्य प्रतीत होने लगते हैं।

(७) तुर्यगा—पूर्वोक्त छह भूमिकाओ के सतत अभ्यास के कारण साधक को जव भेद मे भी अभेद की प्रतीति होने लगती है और जब वह आत्मभाव मे अविचलित रूप से स्थिर हो जाता है तो ऐसी स्थिति को तुर्यगा कहते हैं।[१] इसे जीवनमुक्ति अवस्था भी कहते हैं। ध्यातव्य है कि विदेहमुक्ति तुर्यगा अवस्था से भिन्न है, एक नही। जैन योग में इसी अवस्था से निर्वाण की प्राप्ति होती है।

बौद्धयोग और अध्यात्म-विकास

वैदिक-योग की ही भाँति बौद्ध-योग मे भी आध्यात्मिक विकास की भूमिका को चित्तशुद्धि की साधना के लिए अनिवार्य माना गया है, क्यों कि इस विकास की भूमिका नैतिक आचार-विचार के द्वारा चारित्र को विकसित और सशक्त बनाती है और चारित्र ही आध्यात्मिक विकास की रीढ है। वताया गया है कि साधक श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञा[२] इन पाँच साधनो के सम्यक्-परिपालन द्वारा अपने चारित्रिक गठन और विकास के माध्यम से विशुद्ध अवस्था को प्राप्त होता है, जो निर्वाण की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। दूसरे शब्दो मे निर्वाण अथवा विशुद्ध अवस्था की प्राप्ति की क्रमशः छह अथवा सात स्थितियो का विधान किया गया है, जिनसे आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया सम्पन्न होती है। ये आध्यात्मिक विकास की स्थितियाँ हैं—(१) अन्धपुथुजन, (२) कल्याण पुथुजन, (३) सोतापन्न, (४) सकदागामी, (५) औपपातिक

---

१. योगवासिष्ठ, ३।११८।७-१६; योगवासिष्ठ एव उसके सिद्धान्त, पृ. ४५२
२. मिलिन्दप्रश्न, २।१।८

तथा (६) अरहा।[1] इनको पार करता हुआ साधक अपने चारित्रबल से सयम, करुणा एवं वैराग्य प्राप्त करता है। इन स्थितियो अथवा अवस्थाओं को और अधिक स्पष्ट करते हुए मिलिन्दप्रश्न मे चित्त की सात अवस्थाओ का वर्णन है[2] जो इस प्रकार है—

(१) **संक्लेशचित्त**—यह स्थिति अज्ञान अथवा मूढ़ता की है, क्योंकि इस अवस्था मे योगी का चित्त राग-द्वेष, मोह एवं क्लेश से युक्त होता है तथा वह शरीर, शील एवं प्रज्ञा की भावना अर्थात् चिन्तन भी नहीं करता।

(२) **स्रोतआपन्नचित्त**—यह भी अविकास की ही अवस्था है। इस स्थिति में साधक बुद्धकथित मार्ग को भलीभांति जानकर, शास्त्र का अच्छी तरह मनन और चिन्तन करके भी चित्त के तोन भ्रममूलक विषयो अर्थात् संयोजनाओ[3] को ही नष्ट कर पाता है, सम्पूर्ण सयोजनाओ को नही।

(३) **सकृदागामीचित्त**—इस अवस्था मे साधक पाँच संयोजनाओ से मुक्त होता है और उसमें रागद्वेष नाममात्र का रह जाता है।

(४) **अनागामी चित्त**—इस अवस्था मे शेष पाँच संयोजनाओ को साधक काटता है और चित्त दस स्थानों में हलका और तेज हो जाता है। फिर भी ऊपर की पांच सयोजनाओ मे उसका चित्त भारी और मन्द बना ही रहता है।

(५) **अर्हत्चित्त**—इस अवस्था मे योगी के सभी आस्रव, क्लेश सर्वथा क्षीण हो जाते हैं और वह ब्रह्मचर्यावास को पूरा करके सभी प्रकार के भवपाशो का व्युच्छेद कर डालता है। फलस्वरूप उसका चित्त अत्यन्त शुद्ध एवं निर्मल बन जाता है। ध्यातव्य है कि इस अवस्था मे चित्त की

---

१. मज्झिमनिकाय, १।१

२. मिलिन्दप्रश्न, ४।१।३

३. ये दस सयोजनाएँ अर्थात् बन्धन के कारण इस तरह हैं—

(१) सक्कायदिट्ठि, (२) विचिकच्छा, (३) सीलब्बत्त पराभास, (४) कामराग, (५) पटीघ, (६) रूपराग, (७) अरूपराग, (८) मान, (९) उद्धव (१०) अविज्जा। —विशुद्धिमार्ग, भा० २, परिच्छेद २२, पृ० २७१

शुद्धि हो जाती है, लेकिन प्रत्येकबुद्ध की भूमियो में भारी एवं मन्द होता है। अर्थात् सम्पूर्ण चित्तशुद्धि नही होती।

(६) **प्रत्येकबुद्ध का चित्त**—इस अवस्था मे साधक स्वय अपना स्वामी होता है और उसे किसी भी आचार्य अथवा गुरु की अपेक्षा नही रहती है तथा उसका चित्त अत्यन्त निर्मल एवं शुद्ध होता है।

(७) **सम्यक्सम्बुद्ध का चित्त**—यह अवस्था सर्वज्ञ की है, जो दस व्रतो की धारणा करनेवाले, चार प्रकार के वैशारद्यो से युक्त तथा अठारह बुद्ध धर्मो से युक्त होते हैं और जिन्होने इन्द्रियों को सर्वथा जीत लिया है। यह अवस्था पूर्णतः अचल और शांत होती है।

इस सन्दर्भ मे महायान विचारधारा के अनुसार क्रमश. दस भूमिकाओ अथवा अवस्थाओ का उल्लेख किया गया है। वे भूमिकाये इस प्रकार हैं[1]–(१) प्रमुदिता, (२) विमला, (३) प्रभाकरी, (४) अर्चिष्मती (५) सुदुर्जया, (६) अभिमुखी, (७) दूरगमा, (८) अचला, (९) साधुमती एवं (१०) धर्ममेघा।

(१) **प्रमुदिता**—इस स्थिति में साधक जगत् के उद्धार के लिए बुद्धत्व प्राप्त करने की महत्त्वाकांक्षा जाग्रत होने पर चित्त मे वैसी बोधि के लिए सकल्प करता है और उससे प्रमुदित होता है।

(२) **विमला**—इस स्थिति मे दूसरे प्राणियो को उन्मार्ग से निवृत्त करने के लिए स्वय शाधक को ही हिंसाविरमणशील का आचरण करके दृष्टान्त उपस्थित करना होता है।

(३) **प्रभाकरी**—इसके अन्तर्गत आठ ध्यान और मैत्री आदि चार ब्रह्म-विहार की भावनाएँ करने का विधान है और साथ ही पहले के किये हुए संकल्प के अनुसार अन्य प्राणियो को दुःखमुक्त करने का प्रयत्न किया जाता है।

(४) **अर्चिष्मती**—प्राप्त गुणो को स्थिर करने, नये गुण प्राप्त करने और किसी भी प्रकार के दोष का सेवन न करने मे जितनी वीर्य पारमिता सिद्ध हो उतनी अर्चिष्मती भूमिका प्राप्त होती है।

(५) **सुदुर्जया**—ऐसी ध्यान पारमिता की प्राप्ति को कहते हैं, जिसमे

१. प्रज्ञापारमिता, पृ० ९५-१००

करुणावृत्ति विशेष का अभिवर्द्धन और चार आर्यसत्यों का स्पष्ट भान हो।

(६) अभिमुखी—इसमे महाकरुणा द्वारा बोधिसत्व से आगे बढ़कर अर्हत्व प्राप्त किया जाता है और दस पारमिताओ मे से विशेष रूप से प्रज्ञा-पारमिता साधनी पडती है।

(७) दूरंगमा—दसों पारमिताओं को पूर्ण रूप से साधने पर उत्पन्न होनेवाली स्थिति।

(८) अचला—इस स्थिति मे शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक चिन्ताओ से मुक्त होना पड़ता है, सांसारिक प्रश्नो का स्पष्ट एवं क्रमबद्ध ज्ञान रखना पडता है और उनसे किसी भी प्रकार विचलित न होने की संभावना रहती है।

(९) साधुमती—प्रत्येक जीव के मार्गदर्शन के लिए (योगी को) उस जीव का अधिकार जानने की सम्पूर्ण शक्ति जब प्राप्त होती है तब वह भूमिका साधुमती कहलाती है।

(१०) धर्ममेघा—सर्वज्ञत्व प्राप्त होने पर धर्ममेघा की भूमिका प्राप्त होती है। महायान की दृष्टि से इसी भूमिका पर पहुँचे साधक को तथागत कहा जाता है।

इस प्रकार बौद्ध-योग के अन्तर्गत आध्यात्मिक विकास को अज्ञानावस्था के क्रमिक ह्रास के सन्दर्भ में देखा जा सकता है, क्योकि अज्ञानावस्था को त्यागकर ही ज्ञान प्राप्ति सम्भव है, जो निर्वाण-प्राप्ति का अभीष्ट है।

जैन-योग और अध्यात्म-विकास

जैन योग की आधारशिला आत्मवाद है और आत्म-विकास की पूर्णता मोक्ष है। आत्मशक्ति का विकास ही जैन-साधना-पद्धति का फलित है। इस विकासावस्था मे जीव का उत्थान-पतन होना स्वाभाविक है। आत्मशक्ति की इस विकसित तथा अविकसित अवस्था को ही जैनयोग मे गुणस्थान कहा गया है और क्रमशः गुणस्थानो पर चढना ही आत्मविकास की ओर बढ़ना है। संसार मे ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है, जो सर्वथा अविकसित हो। विकास की कुछ न कुछ किरण हर आत्मा में विद्यमान रहती है, भले ही वह एकेन्द्रिय हो अथवा अभव्य। इस प्रकार

संसारी जीवो मे इन्द्रिय-सत्ता की विद्यमानता के कारण गुणस्थान का प्रारम्भ-विन्दु वही है। शरीरधारी जीवो में ऐसा कोई वर्ग नहीं है जो गुणस्थान से वाहर हो। क्षयोपशमता के कारण विकासावस्था मे उत्थान-पतन के क्रमों को पार कर अत मे जीव कर्मों का सपूर्ण क्षय करके निर्मल स्थिति को प्राप्त करता है। इन क्रम-प्राप्त अवस्थाओ को ही गुण-स्थान कहते हैं। दूसरे शब्दो मे इसी क्रमिक विकास का पारि-भाषिक नाम 'गुणस्थान' है। गुणस्थान का अर्थ ही गुणों के स्थान अर्थात् आत्मशक्ति के स्थान अथवा आत्मविकास की अवस्थाएँ हैं।[1]

कर्म

आत्मविकास की इस भूमिका मे कर्म का स्थान प्रमुख है, क्योंकि संसार-बन्धन या परिभ्रमण का मुख्य कारण कर्म है। जो जीव इस संसार मे हैं, उनके परिणाम रागद्वेषरूप होते हैं, परिणामो से कर्म बँधते हैं, कर्मो से अनेक गतियो मे जन्म-मरण होता है। फलस्वरूप शरीर प्राप्त होता है। शरीर मे इन्द्रियाँ होती हैं, इन्द्रियो से विषय ग्रहण और विषयो के कारण रागद्वेष रूपी कर्मो की उत्पत्ति होती है।[2] इस प्रकार जीव संसार मे अपने ही कर्मों द्वारा शुभ-अशुभ कर्मो को उत्पन्न करता और उन्हे खुद ही भोगता है।[3]

कर्म के वीज राग और द्वेष हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होता है। वह कर्म जन्म-मरण का मूल है और जन्म-मरण ही दुःख है।[4] यह जीव द्वारा किये जाने के कारण कर्म कहलाता है।[5] संक्षेप मे कर्म के आठ भेद हैं–

---

१. स्थानाग-समवायाग, पृ० ९८

२. जो खलु ससारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्म कम्मादो होदि गदिसु मदी॥
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इन्दियाणि जायंते।
तेहिं दु विसयग्गहण तत्तो रागो व दोसो वा॥
—पचास्तिकाय, १२८-१२९

३. (क) अशुभं वा शुभ वापि स्वस्वकर्मफलोदयम्।
भुजानां हि जीवाना हर्ता कर्ता न कश्चन्॥ —योगशास्त्र, १६०

४. उत्तराध्ययन, ३२।७

५ कीरह जिएण हेऊहिं-जेण तो भण्णए कम्म। —प्रथम कर्मग्रथ, १

(१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु, (६) नाम, (७) गोत्र और (८) अन्तराय।[1] इनमे प्रथम चार कर्मों को घातिया कर्म कहते हैं, क्योकि ये आत्मा के गुणों का घात करते हैं। शेष चार कर्म अघातिया है, क्योकि ये आत्मस्वरूप का घात नहीं करते।[2] इन आठ कर्मो का प्रभाव आत्मा के ऊपर रहता है। इस का कारण मोह की प्रधानता है। जब तक मोहनीय कर्म बलवान और तीव्र रहता है, तब तक अन्य सभी कर्मो का बन्धन बलवान और तीव्र रहता है। अतः आत्मा के विकास की भूमिका मे प्रमुख बाधक मोहनीय कर्म की प्रबलता है। इस प्रकार गुणस्थानो की विकास-क्रमगत अवस्थाओ की कल्पना, मोहशक्ति की उत्कटता, मदता तथा अभाव पर अवलम्बित है।[3]

आत्मा और कर्म का सबध अनादिकालीन है, फिर भी दोनो के स्वभाव एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं।[4] कर्म कर्ता के अर्थात् जीव के पीछे-पीछे चलते हैं[5] और कर्म-पुद्गलों का स्वभाव है आत्मा के साथ चिपकना एवं अलग होना।[6] आत्मा को कर्म से विमुक्ति के लिए मन, वचन तथा काय की चंचलता रूपी योगास्त्र का पूर्णत· निरोध करने की अपेक्षा होती है[7] और तीनो योगो का आस्रव रुकने पर स्वभावत· कर्म का आगमन अवरुद्ध हो जाता है। कर्म आत्मा से एक बार वियुक्त होने के बाद पुन. आत्मा से नही बंधते हैं,[8] जिस प्रकार पके हुए फल गिर

---

१. (क) ज्ञानादृष्ट्यावृती वेद्यं मोहनीयायुषी विदु.।
नामगोत्रान्तरायौ च कर्माण्यष्टेति सूरय।—योगसारप्राभृत, २।२४
(ख) उत्तराध्ययन, ३३।२-३

२ पंचाध्यायी, २९८–२९९

३ चौथा कर्मग्रंथ, प्रस्तावना, पृ० ११

४ कम्मं च चित्तपोग्गलरुवं जीवस्सऽणाइसाबन्ध। —योगशतक, ५४

५. कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं। —उत्तराध्ययन, १३।२३

६ तपोग्गलाण तग्गज्झसहावावगमओ य एय ति। —योगशतक, ११

७ यदा निरुद्ध योमास्रवो भवति, तदा जीवकर्मणो· पृथक्त्व भवति।
—उत्तराध्ययनचूर्णि, अ० १

८ पक्के फलम्हि पडिए जह ण फल वज्झए पुणो विंटे।
जीवस्स कम्मभावे पडिए ण पुणोदयमुवेई॥ —समयसार, १६८

जानें के बाद पुनः वृक्ष से नहीं जुड़ते। नये कर्मों का आगमन हो सकता है।

कर्मबन्ध की स्थिति भी भिन्न-भिन्न होती है। कुछ कर्म तीव्र बन्ध वाले होते हैं, कुछ कर्म मध्यम बन्धवाले होते हैं और कुछ कर्म कम बन्ध वाले। कर्मों की ये स्थितियाँ राग एवं मोह की तीव्रता एव मंदता पर निर्भर करती हैं। इस दृष्टि से जीव के भाव विविध परिणामी होते है। उनमे कभी राग-द्वेष की मात्रा की न्यूनता होती है तो कभी अधिकता। जीव मे राग-द्वेष की इसी तरतमता को जैन योग में 'लेश्या' कहा गया है। दूसरे शब्दो मे जीव जिसके द्वारा पुण्य तथा पाप में लिप्त होता है अथवा कषायो से अनुरक्त मन, वचन एवं काय की प्रवृत्ति होती है, वह लेश्या कहलाती है।[1] यह दो प्रकार की होती है—द्रव्यलेश्या तथा भावलेश्या। द्रव्यलेश्या पुद्गल विशेषात्मक होती है और भावलेश्या आत्मगत विशेष परिणामी, जो सक्लेश और योग से अनुगत होती है। यद्यपि संक्लेश की विभिन्न स्थितियो के अनुसार भावलेश्या तीव्र, तीव्रतर तीव्रतम, मंद, मंदतर, मंदतम आदि अनेक भेदो के अनुसार असंख्य प्रकार की होती है,[2] परन्तु साधारणतः भावलेश्या के छह[3] प्रकार प्रमुख हैं—(१) कृष्ण, (२) नील, (३) कापोत, (४) पीत, (५) पद्म और (६) शुक्ल। इन लेश्याओ के अलग-अलग गुण-स्वभाव होते हैं। कृष्ण लेश्यावाला जीव तीव्रतम कषायी एवं मूढ होता है और उसके क्रोध-मान-मायादि भयकर होते हैं। ऐसे जीव के कर्म-बधन भी तीव्रतम और सघनतम होते हैं। इस लेश्या के बादवाली अन्य लेश्याओ मे क्रमश कषायो की मंदता होती जाती है और अन्तिम शुक्ललेश्या मे कषायो का सर्वथा परिहार हो जाता है। अत ज्यो ज्यो जीव इन लेश्याओं को क्रम क्रम से कम करता हुआ आगे बढता जाता है, त्यो त्यो उसकी आत्मशुद्धि की परिधि बढती जाती है और शुक्ललेश्या मे वह अत्यंत निर्मल होकर

---

१ लिपइ अप्पीकीरइ एदीए णिय अपुण्णपुण्णं च।

—गोम्मटसार जीवकाण्ड, ४८८

२. दर्शन और चिन्तन, द्वितीय खण्ड, पृ० २९७

३. किण्हा नीला य काऊ य तेऊ पम्हा तहेव य।

सुक्कलेसा य छट्ठा उ, नामाइं तु जहक्कमं॥ —उत्तराध्ययन, ३४।३

मुक्ति की अवस्था को प्राप्त करता है। इस प्रकार कर्मों की न्यूनता अथवा अधिकता का कारण लेश्या है। कर्मों की विविधता का उत्तरदायी भी यही है और लेश्या तथा कर्मों का संबंध बड़ा ही घनिष्ठ है।

इस सदर्भ में सक्षिप्त रूप में यह बता देना समुचित होगा कि महाभारत[1] में वर्णित प्राणिमात्र के वर्णानुसार छह भेद (कृष्ण, धूम्र, नील, रक्त, हारिद्र तथा शुक्ल) तथा योगदर्शनानुसार[2] त्रिविध कर्म (कृष्ण, अशुक्ल-अकृष्ण तथा शुक्ल) प्रकारान्तर से लेश्या का ही विवरण है। यहां भी एक के बाद दूसरी अवस्था श्रेष्ठ एवं सुखकारक मानी गयी है। बौद्धधर्म मे छह प्रकार की अभिजातियों—कृष्ण, नील, लोहित, हारिद्र, शुक्ल तथा परमशुक्ल का निर्देश भी इसी अर्थ में हुआ है।[3]

गुणस्थानों का वर्गीकरण

जैनधर्म के अनुसार आत्मिक विकास की सीढ़ियाँ या गुणस्थान चौदह हैं—(१) मिथ्यादृष्टि, (२) सास्वादन, (३) सम्यग्-मिथ्यादृष्टि, (४) अविरत सम्यग्दृष्टि, (५) देशविरत-विरताविरत, (६) प्रमत्तसंयत, (७) अप्रमत्तसंयत, (८) अपूर्वकरण, (९) अनिवृत्तिकरण, (१०) सूक्ष्मसांपराय, (११) उपशान्तमोह, (१२) क्षीणमोह, (१३) सयोगकेवली और (१४) अयोगकेवली।[4] इन चौदह गुणस्थानों मे प्रथम तीन का अन्तर्भाव बहि-

---

१ षड जीववर्णा. परम प्रमाणं कृष्णो धूम्रो नीलमथास्यमध्यम्।
रक्त पुनः सह्यतरं सुख तु हारिद्रवर्णं सुसुख च शुक्लम्।
—महाभारत, शान्तिपर्व, २८०।३३

२ कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्। —योगदर्शन, ४।७

३. दीघनिकाय, ३।२५०, लेश्याकोश, पृ० २५४-५७

४. गुणस्थानो का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) मिथ्यादृष्टि—इस अवस्था मे दर्शन मोहनीय कर्म की प्रबलता के कारण सम्यक्त्व गुण आवृत होने से तत्त्वरुचि प्रकट नही होती, यह मिथ्यात्व तीन प्रकार का है—संशयित, अभिगृहीत और अनभिगृहीत।

(२) सास्वादन—सम्यक्त्व का क्षणिक आस्वादन होने से ही इस गुणस्थान को सास्वादन अथवा सासादन कहा जाता है। जो जीव सम्यक्त्व-रत्न रूपी

पर्वत के शिखर से गिरकर मिथ्यात्वभाव की ओर मुड़ गया है, परन्तु (सम्यक्त्व के) नष्ट हो जाने पर भी जिसने अभी साक्षात् रूप मे मिथ्यात्व मे प्रवेश नही किया है, वह मध्यवर्ती अवस्था सासादन गुणस्थान है।

(३) सम्यक् मिथ्यादृष्टि—दही और गुड के मेल के स्वाद की तरह सम्यक्त्व एवं मिथ्यात्व का मिश्रित भाव। इस गुणस्थान मे आत्मा न तो सत्य का दर्शन करने मे समर्थ होती है, न मिथ्यात्व का ही।

(४) अविरतसम्यक्दृष्टि—इस गुणस्थानवर्ती पुरुष को आत्मचेतना रूप धार्मिक दृष्टि तो प्राप्त हो जाती है, क्योकि कषायो की अनंतानुबंधी का उपशम, क्षय या क्षयोपशम हो जाता है; किन्तु अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय बना रहता है। ऐसा व्यक्ति न तो इंद्रिय-विषयो से विरत होता है और न त्रस-स्थावर जीवो की हिंसा से विरत होता है। केवल तत्त्वार्थ का श्रद्धान करता है।

(५) देशविरत—इस गुणस्थान मे पूर्णत: तो नही, आंशिक रूप से चारित्र का पालन होता है। इसी गुणस्थानवर्ती व्यक्ति को श्रावक कहा जाता है।

(६) प्रमत्तसंयत—इस गुणस्थान मे स्थित साधक महाव्रती हो जाता है, लेकिन प्रमाद आदि दोषो का थोडा-बहुत अश उसमे शेष रह जाता है, इस कारण उसे प्रमत्त संयत कहते हैं।

(७) अप्रमत्तसंयत—इस अवस्था मे साधक का व्यक्त-अव्यक्त सम्पूर्ण प्रमाद नि शेप हो गया होता है, फिर भी वह न तो मोहनीय कर्म का उपशम करता है और न क्षय करता है, मात्र आत्मध्यान मे लीन रहता है। यह साधक ग्यारहवें गुणस्थान तक चढकर गिर भी सकता है।

(८) अपूर्वकरण—यह अवस्था आत्मगुण-शुद्धि अथवा लाभ की अवस्था है, क्योकि इस अवस्था मे ही साधक प्रमाद पर विजय प्राप्त चारित्रबल की विशिष्टता प्राप्त करता है। उसकी साधना मे नये नये अपूर्व भाव प्रकट होते हैं।

(९) अनिवृत्तिकरण (निवृत्तिबादर)—इस अवस्था मे साधक चारित्र-मोहनीय कर्म के शेप अशो का उपशमन करता है। इस गुणस्थानवर्ती के निरंतर एक ही परिणाम होता है।

(१०) सूक्ष्म सापराय—साम्पराय का अर्थ कषाय है। इस गुणस्थानवर्ती साधक

रात्मा[1] मे होता है, क्योकि इन अवस्थाओ में जीव विविध कषायो से रंजित रहता है। चौथे से लेकर बारहवे गुणस्थान का अन्तर्भाव अन्तरात्मा मे होता है, क्योकि इन अवस्थाओं में आत्मा का उत्थान-पतन-

---

मे कुसुम्भ के रंग की भाँति सूक्ष्म राग रह जाता है। इन्हें सूक्ष्म कषाय भी कहते हैं।

(११) उपशान्त मोह—इस गुणस्थान मे सम्पूर्ण मोह का उपशम या क्षय हो जाता है, इसलिए इस गुणस्थानवर्ती साधक को उपशातकषाय कहते हैं। लेकिन कभी मोह के उदय से यह साधक सूक्ष्म-सराग दशा मे चला जाता है।

(१२) क्षीणमोह—इस गुणस्थान मे सम्पूर्ण मोह का क्षय हो जाता है, जिससे नीचे गिरने का कोई भय नहीं रहता। इस गुणस्थानवर्ती को क्षीणकषाय निर्ग्रन्थ कहते हैं।

(१३) सयोगकेवली—इस गुणस्थान मे सर्वज्ञत्व की प्राप्ति होती है, लेकिन इसमे काया की सूक्ष्म क्रिया विद्यमान रहती है। इसे जीवन-मुक्त अवस्था भी कहते हैं।

(१४) अयोगकेवली—इस अन्तिम चौदहवें गुणस्थान मे आत्मा विकास की चरम अवस्था पर पहुँच जाती है, क्योकि इस अवस्था मे शारीरिक, मानसिक एव वाचिक प्रवृत्तियो का सर्वथा अभाव हो जाता है। ऊर्ध्वस्वभाव वाला यह अयोगी केवली या परम शुद्ध आत्मा अशरीरी रूप मे लोक के अग्रभाग पर जाकर अवस्थित हो जाता है।

—स्थानाग, १४; कर्मग्रन्थ, भा०२,२

१ (क) वहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरातर.।
चित्तदोपात्मविभ्रान्ति परमात्माऽतिनिर्मल ॥

—समाधितंत्र, ५

(ख) योगसार, ६

अर्थात् आत्मा के तीन प्रकार हैं—शरीरादिक जड वस्तुओ मे भ्रम से आत्मा समझनेवाला वहिरात्मा है जवकि चित्त को चितरूप से, दोषो को दोष रूप से और आत्मा को आत्मारूप से अनुभव करनेवाला साधक अन्तरात्मा है और सर्व कर्ममल से रहित जो अत्यन्त निर्मल है वह परमात्मा है।

उत्थान होता रहता है। तेरहवे और चौदहवें गुणस्थान का अन्तर्भाव परमात्मा मे किया गया है, क्योकि इन अवस्थाओ में जीव परमात्म अर्थात् चरम अवस्था को प्राप्त कर लेता है।[1]

आठ दृष्टियाँ—आत्मा के क्रमिक विकास—चौदह गुणस्थानो—को ध्यान मे रखकर आचार्य हरिभद्र ने योग की आठ दृष्टियो का वर्णन किया है। उनके अनुसार दृष्टि उसको कहते हैं, जिससे समीचीन श्रद्धा के साथ बोध हो और इससे असत् प्रवृत्तियो का क्षय करके सत् प्रवृत्तियाँ प्राप्त हों।[2] ये दृष्टियाँ आठ हैं—(१) मित्रा, (२) तारा, (३) बला, (४) दीप्रा, (५) स्थिरा, (६) कान्ता, (७) प्रभा और (८) परा।[3] इन दृष्टियो मे प्रथम चार ओघदृष्टि में अन्तर्भुक्त हैं, क्योकि इनमे वृत्ति ससाराभिमुख रहती है। अर्थात् जीव का उत्थान-पतन होता रहता है। शेष चार दृष्टियाँ योगदृष्टि मे समाहित हैं, क्योकि इनमे आत्मा की प्रवृत्ति आत्मविकास की ओर अग्रसर होती है। पाँचवी दृष्टि के बाद जीव सर्वथा उन्नतिशील बना रहता है, उसके गिरने की संभावना नही रहती। इस प्रकार ओघदृष्टि असत्दृष्टि और योगदृष्टि सत्दृष्टि अर्थात् मोक्षोन्मुख मानी गयी है। दूसरे शब्दो में प्रथम चार दृष्टियो को अवेद्य-सवेद्य पद[4] अथवा प्रतिपाति[5] तथा अतिम चार दृष्टियो

---

१ (क) अन्ये तु मिथ्यादर्शनादिभावपरिणतो बाह्यात्मा, सम्यग्दर्शनादिपरिणतस्त्वन्तरात्मा, केवलज्ञानादिपरिणतस्तु परमात्मा। तत्राद्य गुण स्थानेत्र बाह्यात्मा, तत. पर क्षीणमोहगुणस्थान यावदन्तरात्मा। ततः परन्तु परमात्मेति। —अध्यात्म-परीक्षा, १२५;
(ख) आध्यात्मिक विकासक्रम, पृ० ४०

२. सच्छ्रद्धासगतोबोधो दृष्टिरित्यभिधीयते।
असत्प्रवृत्तिव्याघातात् सत्प्रवृत्तिपदावहः॥ —योगदृष्टिसमुच्चय, १७

३. मित्रा-तारा-बला-दीप्रा स्थिरा-कान्ता-प्रभा-परा।
नामानि योगदृष्टीना लक्षण च निबोधत॥ —वही, १३

४. वही, ७०

५. प्रतिपातयुताश्चाद्याश्चतस्रोनोत्तरास्तथा।
सापायऽपि चैतास्तत्प्रतिपातेन नेतरा:॥ —वही, १९

को सवेद्यापद[1] अथवा अप्रतिपाति कहा गया है। इन आठ दृष्टियो में जीव को किस प्रकार का ज्ञान अथवा सविशेष तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है, उसको आठ दृष्टान्तो के द्वारा समझाया गया है—(१) तृणाग्नि, (२) कण्डाग्नि, (३) काष्ठाग्नि, (४) दीपकाग्नि, (५) रत्न की प्रभा, (६) नक्षत्र की प्रभा, (७) सूर्य की प्रभा एवं (८) चद्र की प्रभा।[2] जिस प्रकार इन अग्नियो की प्रभा उत्तरोत्तर तीव्र और स्पष्ट होती जाती है, उसी प्रकार इन आठ दृष्टियो में भी सविशेष-बोध की प्राप्ति स्पष्ट होती जाती है।

इन आठ दृष्टियो के संदर्भ में योगदर्शन मे प्रतिपादित यमनियमादि तथा खेद, उद्वेगादि आठ दोषो के परिहार[3] का वर्णन भी किया जाता है। यहाँ आठ दृष्टियो का सक्षिप्त वर्णन किया जाता है।

(१) **मित्रा दृष्टि**—इस दृष्टि में दर्शन की मंदता, अहिंसादि यमों का पालन करने की इच्छा और देव-पूजादि धार्मिक अनुष्ठानो में अखेदता होती है।[4] यद्यपि इस दृष्टि में साधक को ज्ञान तो प्राप्त होता है, तथापि उस ज्ञान से स्पष्ट तत्त्वबोध नही होता, क्योकि मिथ्यात्व अथवा अज्ञान इतना घना होता है कि वह दर्शन, ज्ञान पर आवरण डाल देता है। फिर भी साधक सर्वज्ञ को अन्त.करणपूर्वक नमस्कार करता है, आचार्य एवं तपस्वी की यथोचित सेवा करता है तथा औषधदान, शास्त्रदान, वैराग्य, पूजा, श्रवण-पठन, स्वाध्याय आदि क्रियाओ-भावनाओ का पालन-चिन्तन करता है। माध्यस्थादि भावनाओं का चिन्तन करने और मोक्ष की कारणभूत सामग्रियो को जुटाते रहने

---

१ जिसमे वेद्य विषयों का यथार्थस्वरूप जाना जा सके और उसमें अप्रवृत्ति बुद्धि पैदा हो वह वेद्य-सवेद्यपद है और जिसमे बाह्य वेद्य विषयो का यथार्थस्वरूप मे सवेदन और ज्ञान न किया जा सके वह अवेद्यसवेद्यपद है।

२ तृणगोमयकाष्ठाग्निकण दीपप्रभोपमा।
रत्नताराकंचंद्राभा क्रमेणेक्ष्वादि सन्निमा॥ —योगावतारद्वात्रिंशिका, २६

३ यमादियोगयुक्ताना खेदादिपरिहारतः।
अद्वेषादिगुणस्थान क्रमेणैषा-सता-मता॥ —योगदृष्टिसमुच्चय, १६

४ मित्राद्वात्रिंशिका, १

के कारण इसे योगबीज भी कहा गया है।[1] इस दृष्टि को तृणाग्नि की उपमा दी गयी है। इस दृष्टि मे साधक अपनी आत्मा के विकास की इच्छा तो करता है, परन्तु पूर्वजन्म के सस्कारो अर्थात् कर्मो के कारण वैसा कर नही पाता।

(२) तारा दृष्टि—इस दृष्टि मे साधक मोक्ष की कारणभूत सामग्रियो अर्थात् योगबीज की पूर्णतः तैयारी करके सम्यक्बोध प्राप्त करने में समर्थ होता है। साथ ही, इस दृष्टि मे साधक को शौचादि नियमो का पालन करते हुए आत्महित का कार्य करने में उद्वेग नही होता और उसकी तात्त्विक जिज्ञासा जाग्रत होती है।[2] इस अवस्था मे मिथ्यात्व के कारण साधक अथवा योगी को कण्डाग्नि की तरह क्षणिक सत्य का बोध होता है। इस अवस्था मे गुरुसत्सग के कारण साधक की अशुभ प्रवृत्तियाँ बन्द हो जाती हैं और ससारसम्बन्धी किसी भी प्रकार का भय नही रहता। फलतः वह धर्म-कार्यादि मे अनजाने भी अनुचित वर्तन नही करता।[3] वह इतना सावधान रहता है कि अपने द्वारा किये गये व्रत, पूजनादि क्रियाकलापो से दूसरो को तनिक भी दु ख न हो।[4] इस प्रकार साधक वैराग्य की तथा ससार की असारता सम्बन्धी योग-कथाओ को सुनने की इच्छा रखते हुए बड़े लोगो के प्रति समताभाव रखता है और उनका आदर-सत्कार करता है।[5] अगर पहले से उसके मन मे योगी, सन्यासी, साधु आदि के प्रति अनादर का भाव हो तो भी वह इस अवस्था मे अनादर के बदले प्रेम और सद्भावना का व्यवहार

---

१ योगदृष्टिसमुच्चय, २२–२३, २६–२८

२. तारायां तु मनाक् स्पष्ट, नियमश्च तथाविधः।
अनुद्वेगो-हितारम्भे, जिज्ञासा तत्त्वगोचरा॥ वही, ४१

३ भय नाऽतीव भवज कृत्यहानिर्न चोचिते।
तथानाभोगतोऽप्युच्चैर्न चाप्यनुचितक्रिया॥ —वही, ४५

४. वही, ४६

५ (क) भवत्यस्यामविभिन्नाप्रीतियोगकथासु च।
यथाशक्त्युपचारश्च बहुमानश्च योगिषु॥ —ताराद्वात्रिंशिका, ६
(ख) अध्यात्मतत्त्वलोक, ४६

करता है। वह संसार की विविधता तथा मुक्ति के सम्बन्ध मे चिन्तन-मनन करने मे असमर्थ होकर भी सर्वज्ञ द्वारा निर्दिष्ट अथवा उपदिष्ट कथनों पर श्रद्धा रखता है।[१] हाँ, इस अवस्था में साधक को सम्यग्ज्ञान न होने से अच्छी-बुरी चीजों में अन्तर करने का ज्ञान नहीं होता। फलतः जो स्वभाव आत्मा का नहीं है, उसीको भूल से आत्मस्वरूप मान बैठता है। इसी अज्ञान के कारण वह सर्वज्ञ के कथित तत्त्वो पर श्रद्धा रखता है। इस प्रकार इस दृष्टि मे साधक योगलाभ प्राप्त करने की उत्कट आकांक्षा रखते हुए भी अज्ञान के कारण अनुचित कार्यों मे लगा रहता है। मतलब यह कि सत्कार्य में लगे रहने पर भी साधक में अशुभ प्रवृत्तियाँ रहती हैं।

(३) बला दृष्टि—इस दृष्टि मे योगी सुखासन-युक्त होकर काष्ठाग्नि जैसा तेज एवं स्पष्ट दर्शन प्राप्त करता है। उसे तत्त्वज्ञान के प्रति अभिरुचि उत्पन्न होती है तथा योगसाधना में किसी प्रकार का उद्वेग नही होता।[२] दूसरे शब्दो में, जिस प्रकार सुन्दर युवक सुन्दर युवती के साथ नाच, गाना सुनने मे दत्तचित्त होकर अतीव आनन्द की प्राप्ति करता है, उसी प्रकार शान्त स्थिर परिणामी योगी भी शास्त्र-श्रवण देवगुरु-पूजादि मे उत्साह अथवा आनन्द की प्राप्ति करता है।[३] प्रथम दो दृष्टियो मे साधक की मनोस्थिरता उतनी सुदृढ नही हो पाती है जितनी इस दृष्टि में। इसका कारण यह है कि चारित्रपालन का अभ्यास करते-करते साधक की वृत्तियाँ एकाग्र हो जाती हैं और तत्त्वचर्चा मे भी वह स्थिर हो जाता है। यहाँ तक कि साधक विविध आसनो का सहारा लेकर चारित्र-विकास की सारी क्रियाओ को आलसरहित होकर सम्पादित करता है, जिनसे बाह्य पदार्थों के प्रति तृष्णा अथवा आसक्ति कम हो जाती है और वह धर्म-क्रिया मे निरत हो जाता है।[४] भले ही तत्त्व-

---

१. योगदृष्टिसमुच्चय, ४७–४८

२ सुखासनसमायुक्तं बलाया-दर्शनं दृढ।
परा च तत्त्व-शुश्रूषा न क्षेपो योगगोचर ॥ —वही, ४९

३. कान्तकान्तासमेतस्य दिव्यगेयश्रुतौ यथा।
यूनो भवति शुश्रूषा तथास्या तत्त्वगोचरा ॥ —वही, ५२

४. असाधु तृष्णात्वरयोरभावावात् स्थिर सुखं चासनमाविरस्ति।
—अध्यात्मतत्त्वलोक, ९८

चर्चा सुनने को मिले अथवा न मिले; परन्तु उसकी भावना इतनी निर्मल एवं पवित्र हो जाती है कि उसकी इच्छा मात्र से ही उसका कर्मक्षय होने लगता है।[१] शुभ परिणाम के कारण समताभाव का विकास होता है, फलस्वरूप वह अपनी प्रिय वस्तुओं का भी आग्रह नहीं रखता।[२] उसे जैसी भी वस्तु जीवन-यापन के लिए मिल जाती है, उसीमें वह सन्तुष्ट रहता है। इस प्रकार इस दृष्टि मे साधक की वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं, सुखासनो द्वारा मन स्थिर हो जाता है, समताभाव का उदय हो जाता है और आत्मशुद्धि बढती जाती है।

(४) दीप्रा दृष्टि—यह दृष्टि प्राणायाम एव तत्त्वश्रवण से संयुक्त होती है और सूक्ष्मभावबोध से रहित। इसमे उत्थान नामक दोष अर्थात् चित्त की अशान्ति भी नही रहती है।[3] बताया जाता है कि दीपक के प्रकाश की भाँति इस दृष्टि का दर्शन स्पष्ट और स्थिर होता है। फिर भी हवा के झोके से जिस प्रकार दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार तीव्र मिथ्यावरण के कारण यह दर्शन भी नष्ट हो जाता है। प्राणायाम नामक यौगिक क्रिया के संयोग से इस दृष्टि मे शारीरिक तथा मानसिक स्थिरता आती है। जिस प्रकार प्राणायाम न केवल शरीर को ही सुदृढ बनाता है, बल्कि आन्तरिक नाडियो के साथ-साथ मन के मैल को भी धोता है, ठीक उसी प्रकार इस दृष्टि मे रेचक प्राणायाम को तरह वाह्य परिग्रहादि विषयो मे ममत्व-बुद्धि तो रहती है, लेकिन पूरक प्राणायाम की तरह विवेकशक्ति की वृद्धि भी होती है और कुम्भक प्राणायाम की तरह ज्ञान केंद्रित होता है। इसे भावप्राणायाम भी कहा गया है।[४] इस पर जिस साधक ने अधिकार प्राप्त कर लिया है, वह बिना संशय

---

१. श्रुताभावेऽपि भावेऽस्या. शुभभावप्रवृत्तित.।
फल कर्मक्षयाख्य स्यात् परबोध निर्बंधनम् ॥—योगदृष्टिसमुच्चय, ५४

२. परिष्कारगत. प्रायो विघातोऽपि न विद्यते।
अविघातश्च सावद्य परिहारान्महोदय. ॥—वही, ५६

३. प्राणायामवती दीप्रा, न योगोत्थानवत्यलम्।
तत्त्वश्रवण-सयुक्ता, सूक्ष्मबोध-विवर्जिता ॥—वही, ५७

४ रेचनाद्बाह्य भावनामन्तर्भावस्य पूरणात्।
कुम्भनान्निश्चितार्थस्य प्राणायामश्च भावत. ॥—ताराद्वात्रिंशिका, १९

के प्राणो से भी ज्यादा धर्म पर श्रद्धा रखने लगता है। वह धर्म के लिए प्राण त्याग सकता है, लेकिन प्राण की रक्षा के लिए धर्म का त्याग नही।[1] अर्थात् इस दृष्टि से सम्पन्न साधक चारित्र मे यम-नियमो का पालन सम्यक्‌रूप से करता है और वाधा या संकट उपस्थित होने पर व्रतो के पालन से मुँह नही मोडता।

इस दृष्टि में साधक अपने चारित्र्य का विकास तो करता है लेकिन पूर्ण आत्मज्ञान की प्राप्ति करने लायक नही। वह वाह्य पदार्थों की क्षणिकता और सांसारिक सुखशान्ति के मर्म को भी पहचान लेता है। इसलिए वह जगत्, आत्मा तथा पुण्य-अपुण्य के सवध मे जानने के लिए गुरु, मुनि आदि के पास जाने को उत्सुक रहता है। फिर भी तीव्र मिथ्यात्व के कारण वह कर्मक्षय करने मे समर्थ नही होता और न सम्यग्दर्शन प्राप्त करने मे ही समर्थ होता है। इस प्रकार यह दृष्टि भी मिथ्यात्वमय[2] ही होती है।

उपर्युक्त चार दृष्टियो को ओघदृष्टि अथवा मिथ्यात्व की कारणभूत कहा गया है, क्योकि इन दृष्टियो मे पूर्वसचित कर्मो के कारण, धार्मिक व्रत नियमो का यथाविधि पालन करने से भी सम्यग्ज्ञान नही होता और न वोध ही हो पाता है। यदि तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो जाय तो भी वह स्पष्ट नही हो सकती।[3] मिथ्यात्व की इसी सघनता के कारण इन दृष्टियो के जीवो को अवेद्य-संवेद्य पद[4] कहा गया है, क्योकि अज्ञानवश जीव अपना आचरण मूढवत् करता है, जिसके कारण अनेक दु:ख उत्पन्न होते हैं। दूसरे शब्दो में इस अवेद्य-सवेद्य पद को भवाभिनन्दि भी कहा गया है और वताया गया है कि इस अवस्था मे जीव अपरोपकारी, मत्सरी,

---

१ प्राणेभ्योऽपि गुरुर्धर्म. सत्यामस्यामसशयम्।
प्राणास्त्यजतिधर्मार्थं न धर्मं प्राणसकटे॥—योगदृष्टिसमुच्चय, ५८

२. मिथ्यात्वमस्मिंश्च दृशां चतुष्केऽवतिष्ठते ग्रन्थ्यविदारणेन।
—अध्यात्मतत्वलोक, १०८

३ नैतद्वतोऽयं तत्त्वत्त्वे कदाचिदुपजायते। —योगदृष्टिसमुच्चय, ६८

४. अवेद्यसवेद्यपदाभिधेयो मिथ्यात्वदोपाशय उच्यते स्म।
उग्रोदये तत्र विवेकहीना अधोगतिं मूढधियो व्रजन्ति।
—अध्यात्मतत्त्वलोक, १०९

भयभीत, मायावी, सासारिक प्रपचो मे रत और प्रारम्भिक कार्यो मे निष्फल होता है।[1] वह ससार के भोगो मे उत्कट इच्छा रखने के कारण जन्म, जरा, मरण, व्याधि, रोग, वियोग अनर्थ आदि अनेक प्रकार के कष्टो को भी भोगता है।[2] इद्रियो की तृप्ति एव घोर भोगविलास मे लीन रहने के कारण तृष्णा, वासना आदि भावनाए और बढती जाती हैं तथा उनके परिहार की प्रवृत्ति नही होती है।[3] इस प्रकार सासारिक पदार्थों के अनेक रूपो को समझना तथा सचित एव संचयमाण कर्मो को नष्ट करना आवश्यक माना गया है, क्योकि इन कर्मों का छेद करने तथा सांसारिक कारणो को जानने पर ही सूक्ष्मतत्त्व की प्राप्ति होती है।[4] इन अवस्थाओ मे सद्गुरु के निकट श्रुतज्ञान सुनना, सत्सग के परिणाम एवं योग द्वारा आत्म विकास की वृद्धि करना आवश्यक माना गया है, क्योकि इससे जहा ससाराभिमुखता का विच्छेद होता है वहां अवेद्य-संवेद्य पद भी नष्ट होता है[5] तथा दु.ख या कषायो पर क्रमश. विजय प्राप्त करता हुआ जीव मोक्षाभिमुख बनता है।

संक्षेप मे, ये चार दृष्टियाँ मिथ्यात्व-अवस्था की हैं और इन अवस्थाओ के जीव यम, नियमो तथा अन्य धार्मिक अनुष्ठानों के विधिवत् पालन करने से शान्त, भद्र, विनीत, मृदु एवं चारित्र सपन्न बनते हैं तथा मिथ्यात्व को क्रमशः विनष्ट करके अध्यात्मसाधना मे विकसित होते हैं।[6]

(५) **स्थिरा दृष्टि** इस दृष्टि मे से मुक्त जीव दर्शन प्रत्याहार से युक्त

---

१. क्षुद्रो लाभरतिर्दीनो मत्सरी भयवान् शठ ।
अज्ञो भवाभिनन्दि स्यान्निष्फलारभसगत । —योगदृष्टिसमुच्चय, ७६

२. वही, ७८-७९

३. भोगागेषु तथैतेषां, न तदिच्छा परिक्षये। —वही, ८१

४. भवाम्भोधि समुत्तारात् कर्मवज्रविभेदत. ।
ज्ञेय व्याप्तेश्चकार्त्स्न्येन सूक्ष्मत्व नायमत्र तु । —वही, ६६

५. अवेद्यसंवेद्यपद सत्सगागमयोगत. ।
तद्वुर्गतिप्रद जैयं परमानन्द मिच्छता । —ताराद्वात्रिंशिका, ३२

६. शान्तो विनीतश्च मृदुः प्रकृत्या भद्रस्तथा योग्यचरित्रशाली ।
मिथ्यादृगप्युच्यते एवं सूत्रे विमुक्तिपात्रं स्तुतधार्मिकत्व ।
—अध्यात्मतत्त्वलोक, १२०

कृत्य, अभ्रान्त, निर्दोष एवं सूक्ष्मबोधवाला होता है,[1] क्योकि प्रत्याहार के कारण इस दृष्टि में साधक की मानसिक स्थिति संतुलित रहती है अर्थात् वह बाह्य भोग-विलास की ओर से अथवा अपनी इंद्रियो के विषयो से मुक्त होकर मात्र चारित्र-विकास पर ही अपने को केंद्रित करता है। फलतः उसकी भ्रान्तियाँ मिट जाती हैं, सूक्ष्मबोध अथवा भेद-ज्ञान हो जाता है, इद्रियाँ सयमित हो जाती हैं, धर्म-क्रियाओं में आनेवाली बाधाओ का परिहार हो जाता है और परमात्म स्वरूप को पहचानने का प्रयत्न करने लगता है।[2] इस दृष्टि की उपमा रत्न की कान्ति से दी गयी है जो स्थिर, सौम्य, शान्त और दीप्त होती है।

(६) कान्तादृष्टि · इस दृष्टि का स्वरूप तारो के आलोक के समान स्थिर, शान्त और चिर प्रकाशवान् होता है इस दृष्टि मे धारणा नामक योग के सयोग से योगी को सुस्थिर अवस्था प्राप्त होती है, परोपकार एवं सद्विचारों से उसका हृदय प्लावित होता है तथा उसके दोष अर्थात् चित्त की विकलता नष्ट हो जाती है।[3] पूर्व की दृष्टियो मे जहा साधक अपने चारित्रिक सयम के द्वारा केवल कर्मग्रंथियो को छेदने में प्रयत्नशील था, वहा इस दृष्टि मे साधक चारित्र-विकास की अपूर्वता प्राप्त कर लेता है, चित्त की सारी मलिनताओ को दूर कर देता है और उसकी प्रत्येक क्रिया अहिंसा-वृत्ति की परिचायिका बन जाती है। फलत. इद्रियों के चचल विषयो के शान्त हो जाने तथा धार्मिक सदाचारो के सम्यक् परिपालन से उसका स्वभाव क्षमाशील बन जाता है वह जहां भी जाता है, वहा सभी प्राणियों का प्रियपात्र बन जाता है।[4]

---

१ स्थिराया दर्शन नित्यं प्रत्याहारवदेव च।
कृत्यमभ्रान्तमनघं सूक्ष्मबोधसमन्वितम्। —योगदृष्टिसमुच्चय, १५२

२ एव विवेकिनो धीराः प्रत्याहारपरास्तथा।
धर्मबाधापरित्याग-यत्नवन्तश्च तत्त्वत। वही, १५६

३. कान्तायामेतदन्येषा प्रीतये धारणा परा।
अतोऽत्र नान्यमुन्नित्यं मीमासाऽस्ति हितोदया।
—योगदृष्टिसमुच्चय, १६०

४. अस्यां तु धर्ममाहात्म्यात्समाचारविशुद्धितः।
प्रियो भवति भूतानां धर्मैकाग्रमनास्तथा। —वही, १६१

इस प्रकार पूर्ववर्ती दृष्टियों की प्राप्ति के अतिरिक्त इस दृष्टि मे साधक को शान्त, धीर एवं परम आनन्द की अनुभूति होने लगती है, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति से उसे स्व-पर वस्तु का बोध हो जाता है तथा ईर्ष्या, क्रोध, मत्सर आदि दोषो का सर्वथा परिहार हो जाता है। अतः यह दृष्टि साधक के शान्त एव निर्मल चित्त की प्राप्ति मे सहायक होती है और आगे की दृष्टियों की पूर्णता मे प्रमुख भूमिका निभाती है।

(७) **प्रभादृष्टि :** इस दृष्टि में यौगिक ध्यान को अग के रूप में स्वीकार किया गया है, जिसके फलस्वरूप यह दृष्टि योगी को आत्मस्वरूप के चिन्तन में प्रेरित करती है। इस दृष्टि मे सूर्य के प्रकाश की तरह अत्यत सुस्पष्ट दर्शन की प्राप्ति होती है। किसी भी प्रकार का रोग नही होता तथा प्रतिपाति नामक गुण का आविर्भाव होता है,[१] जो साधक-योगी के पतन की ओर न जाने का स्पष्ट संकेत है इस अवस्था मे साधक को इतना आत्मविश्वास हो जाता है कि वह कषायो मे लिप्त होते हुए भी अलिप्त-सा रहता है, रोगादि क्लेशो से पीड़ित होने पर भी विचलित नही होता। अर्थात् भोग सामग्रियो की प्रचुरता रहने पर भी वह उनको अगीकार नही करता है अथवा उनको क्षुद्र समझता है। ध्यान के कारण योगी के मानसिक अन्तर्द्वंद्व मे कमी आ जाती है, उसकी समत्वबुद्धि विकसित होने लगती है तथा वह दृढता से आत्मचिन्तन मे लीन हो जाता है, जहाँ वह पहले अज्ञानतावश किसी भी दु ख को दूसरो के अधीन तथा किसी भी सुख को अपने अधीन समझता था;[२] वहा अब शान्त एवं क्षमाभाव से शत्रु, मित्र, अन्य धर्मों के शास्त्रो आदि को समभाव एवं आदर की दृष्टि से देखने लगता है, क्योकि इस दृष्टि मे उसे सम्यग्दर्शन हो जाता है और वह सुख-दु:ख, अच्छा-बुरा आदि भावनाओ से ऊपर उठकर आत्मसुख की प्राप्ति मे लग जाता है। ऐसी स्थिति मे उसकी विषम वृत्ति के बदले प्राणियो मे समता अर्थात् असगानुष्ठान उदित होता है, इच्छाओ का नाश हो जाता है और वह सदाचार का पालन करते

---

१. ध्यान-प्रियाप्रभा येन नास्यां रुगत एव हि।
तत्त्वप्रतिपत्तियुता विशेषेण शमान्विता।

—योगदृष्टिसमुच्चय, १६८

१. सर्वं परवश दु खं सर्वमात्मवश सुखम्।
एतदुक्तसमासेन लक्षण सुखदु खयो। —सद्दृष्टिद्वात्रिंशिका, १९

हुए मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर होता है अर्थात् यही से उसके मोक्षमार्ग का प्रारभ हो जाता है।[1]

इस सदर्भ में असगानुष्ठान के चार प्रकारो का उल्लेख कर देना उचित होगा। असंगानुष्ठान के चार प्रकार ये हैं—(१) प्रीति, (२) भक्ति, (३) वचन और (४) असगानुष्ठान।[2] स्त्री का पालन-पोषण करने मे जैसे रागभाव होते हैं, वैसे ही राग अर्थात् कषायो से युक्त व्यापारो को प्रीति-अनुष्ठान कहा गया है। जैसी भक्ति अथवा स्नेह मां-बाप और गुरु की सेवा करने मे होता है, वैसी ही भक्ति आचारादि क्रियाओ मे होना भक्ति-अनुष्ठान है। शास्त्रयुक्त आचार-विचारादि वचनानुष्ठान हैं, तथा इसी वचनानुष्ठान मे स्वाभाविक प्रवृत्ति को असंगानुष्ठान कहा गया है।[3] अतः इन अनुष्ठानो के संयोग से योगी स्वभावतः बाह्य वस्तुओ के प्रति ममतारहित होकर आत्मकल्याण की ओर मुडता है और सिद्धि प्राप्त करता है। इस प्रकार वह क्रमश केवलज्ञान प्राप्त करता है। अन्ययोग मे इस अवस्था को प्रशांतवाहिता, विसभाग-परिक्षय, शैववर्त्म और ध्रुवाध्वा[4] भी कहा गया है और बतलाया गया है कि यह आत्मा को उत्कृष्ट दशा है, जहां जीव को सच्चे सुखानंद की प्राप्ति होती है।

(८) परादृष्टि : यह दृष्टि समाधिनिष्ठ, सगादि दोषो से रहित, आत्म-प्रवृत्तियो की कारिका, जागरूक तथा उत्तोर्णाशयवाली होती है।[5] वस्तुतः यह सर्वोत्तम तथा अन्तिम अवस्था है। इसमें परमतत्त्व का साक्षात्कार होता है। इसलिए इसे चंद्रप्रभा की तरह शान्त एवं सौम्य माना गया है। यह दृष्टि समाधि की अवस्था मानी गई है, जिसमे मन के सभी व्यापार अवरुद्ध हो जाते हैं और आत्मा केवल आत्मा के रूप को

---

१. सत्प्रवृत्तिपद चेहाऽसगानुष्ठान सज्ञितम्।
महापथप्रयाणं यदनागामिपदावहम्। —योगदृष्टिसमुच्च, १७३

२. तत्प्रीतिभक्तिवचनासंगोपददं चतुर्विधं गीतम्।
तत्त्वाभिज्ञैः परमपदसाधन सर्वमेवैतत्। —षोडशक, १०।२

३. वही, ११।३-७

४. प्रशांतवाहितासंज्ञं विसभागपरिक्षयः।
शिववर्त्म ध्रुवाध्वेति योगिभिर्गीयते ह्यद। —योगदृष्टिसमुच्चय, १७४

५. समाधिनिष्ठा तु परा, तदा संगविवर्जिता।
सात्मीकृतप्रवृत्तिश्च तदुत्तीर्णाशयेति च। —वही, १७६

ही देखती है, क्योकि ध्यान मे जहाँ ध्येय का आलम्बन होता है, वहा समाधि मे ध्येय, ध्याता तथा ध्यान इस त्रिपुटी का अंश भी नही रहता। यह अवस्था आसक्तिहीन और दोषरहित होती है। इस अवस्था वाले योगी को सासारिक वस्तुओ के प्रति न मोह होता है, न आसक्ति और न उसमे किसी प्रकार के दोष ही रह जाते हैं। वह मोक्ष की इच्छा भी नही करता है, क्योकि इच्छा का होना परिग्रह है और इस दृष्टि से इच्छा कषाय-मूलक भी है। इस प्रकार अनाचार तथा अतिचार से वर्जित होने के कारण साधक योगी क्षपकश्रेणी[१] अथवा उपशमश्रेणी[२] द्वारा आत्मविकास करता है।[३] आठवें गुणस्थान के द्वितीय चरण से योगी प्रगति करते हुए क्षपकश्रेणी द्वारा चार घातिया कर्मों को नष्ट करके पूर्ण कर्म-संन्यासयोग प्राप्त करता है और बिना किसी बाधा के केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है।[४]

इस प्रकार समस्त कषायो के क्षीण होने के कारण योगी को अनेक लब्धियाँ प्राप्त होती हैं और वह मुमुक्षु जीवो के कल्याणार्थ उपदेश देता है। इस क्रम मे योगी निर्वाण पाने की स्थिति मे योग-सन्यास नामक योग प्राप्त करता है,[५] जिसके अन्तिम समय में शेष चार अघातियाकर्मों को नष्ट करके वह पांच अक्षरों के उच्चारण मात्र समय मे शैलेशी अवस्था

---

१ जो साधक तीव्र सवेग आदि प्रयत्नो द्वारा राग, द्वेष एव मोह को क्रमश निर्मूल करते करते उत्तरोत्तर समता की शुद्धि साधता है, वह क्षपकश्रेणी है। इस श्रेणी मे साधक एक ही प्रयत्न मे मुक्ति पा जाता है।

२ जो साधक अपने संक्लेशों को अर्थात् कर्मों का मूलत क्षय न करके उनका केवल उपशम ही करता है अर्थात् सर्वथा निर्मूल नही कर पाता वह उपशमश्रेणी है। कर्ममल शेष रहने से मोक्ष की प्राप्ति उसी जन्म मे नही होती, वल्कि उसे जन्मान्तर लेना पड़ता है।

३ निराचारपदोह्यस्यामतिचारविवर्जित ।
आरूढारोहणा भाव गति वत्त्वस्य चेष्टितम् । —योगदृष्टिसमुच्चय, १७७

४. द्वितीयाऽपूर्वकरणे मुख्योऽयमुपजायते ।
केवलश्रीस्ततश्चास्य निःसपत्ना सदोदया । —वही, १८०

५. क्षीणदोषोऽथ सर्वज्ञ. सर्वलब्धिफलान्वितः ।
पर परार्थं सपाद्य ततो योगान्तमश्नुते । —योगदृष्टिसमुच्चय, १८२

को प्राप्त करता है अर्थात् मुक्ति पाता है। मुक्त हो जाने पर वह पुनः न उस अवस्था में आता है और न ससार मे। अर्थात् मुक्त अवस्था मे वह अनन्तशक्ति एव अनन्तवीर्य धारण करके आत्मसुख में लीन हो जाता है। उस अवस्था मे मन के कोई व्यापार नही होते, न इच्छाएँ होती है, न व्याधियाँ होती हैं और न किसी प्रकार का कर्म-कषाय रह जाता है। अत. शरीर नष्ट होने पर मोक्षावस्था मे जीव का अभाव नही होता परन्तु वहा भी वह शुद्ध ज्ञानमय तथा चेतनामय होकर रहता है।[1]

इस सदर्भ मे यह भी उल्लेख कर देना आवश्यक होगा कि आगमिक गुणस्थानो और हारिभद्रीय उपर्युक्त वर्गीकरण मे कोई अन्तर नही है, क्योकि पहले चार मे पहला गुणस्थान, पाचवी और छठी मे चौथा, पाचवा और छठा गुणस्थान, सातवी मे सातवा और आठवा गुणस्थान तथा अन्तिम में आठ से चौदह गुणस्थान अन्तर्भूत हैं।

योगबिन्दु के अनुसार आध्यात्मिक विकास की पाँच सीढियाँ भी इन्ही गुणस्थानो अथवा आठ दृष्टियों का ही सक्षिप्त रूप हैं। ये क्रम या सीढ़ियाँ इस प्रकार हैं[2]—(१) अध्यात्म, (२) भावना, (३) ध्यान, (४) समता और (५) वृत्तिसक्षय। ये पाँच सीढियाँ मोक्ष प्राप्ति मे उत्तरोत्तर श्रेष्ठ समझी गयी हैं। इन क्रमो द्वारा चारित्र का क्रमश विकास होता है, जिनमे विविध प्रकार के आचार अथवा अष्टाग योग की प्रणालियाँ प्रयुक्त होती हैं। अर्थात् आत्मविकास के क्रम मे योगी किन-किन साधनो एवं परिस्थितियो से गुजरता है, उनका सक्षिप्त वर्णन इनमे हुआ है। यहाँ इनका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

(१) **अध्यात्म**—अपनी शक्ति के अनुसार अणुव्रत, महाव्रत को स्वीकार करके मैत्री आदि चार भावनाओ का भली भाँति चिन्तन-मनन करना ही अध्यात्म है[3]। अर्थात् अध्यात्म शब्द को यहाँ यौगिक एव रूढ दोनो अर्थों मे प्रयुक्त किया गया है। यौगिक अर्थ मे आत्मा का उद्देश्य

---

१ वही, १८४-८५

२. अध्यात्मंभावनाध्यान समतावृत्तिसंक्षय.।
मोक्षेणयोजनाद्योग एप श्रेष्ठो यथोत्तरम्। —योगबिन्दु, ३१

३. औचित्याद्व्रतयुक्तस्य, वचनात्तत्त्वचिन्तनम्।
मैत्र्यादिभावसंयुक्त, मध्यात्म तद्विदो विदु। —योगभेदद्वात्रिंशिका,

पंचाचार अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप एवं वीर्य में होता है और रूढार्थ मे आत्मा का उद्देश्य बाह्य व्यवहार से प्राप्त हुए मन का मैत्री, प्रमोद, माध्यस्थ और कारुण्य भावनाओ मे अभ्यर्थित्त होता है।[1]

(२) **भावना**—इसके अन्तर्गत योगी को उपर्युक्त भावनाओ का मन, वचन एव काय से चिन्तन करना होता है, जिससे अशुभ कर्मो की निवृत्ति होती है तथा सद्भावनाओ अथवा समताभाव की वृद्धि होती है।[२] (विशेष जानकारी के लिए देखें पूर्व अध्याय)।

(३) **ध्यान**—चित्त को बाह्य द्रव्यो से हटाकर किसी एक सूक्ष्म पदार्थ मे एकाग्र करना ध्यान है।[३] (विशेष विवरण के लिए पाचवां अध्याय देखें)।

(४) **समता**—व्यवहार मे इष्ट एवं अनिष्ट अथवा शुभाशुभ परिणामो के प्रति तटस्थ वृत्ति रखना ही समता है,[४] क्योकि इसके द्वारा सभी प्राणियों के प्रति समान रूप से प्रेम होता है तथा साधक निर्भय होता है। इससे कर्मबन्ध ढीले पड़ जाते हैं। इस प्रकार यह आध्यात्मिक विकास क्रम मे साधक की चरम सीमा मानी गई है।

(५) **वृत्तिसंक्षय**—मन एवं शरीर से उत्पन्न चित्तवृत्तियों को जड़ मूल से नष्ट करना वृत्ति-संक्षय है।[५] अर्थात् समस्त कर्मो का अवरोध

---

१. अध्यात्मोपनिषद्, १।२

२ अभ्यासोवृद्धिमानस्य, भावना बुद्धिसंगत ।
निवृत्तिरशुभाभ्यासं-भूदाववृद्धिश्च तत्फलम् । —योगभेदद्वात्रिंशिका, ९;
योगबिन्दु, ३५९

३. उपयोगे विजातीय, प्रत्ययाव्यवधानयाम् ।
शुभेककप्रत्ययो ध्यानं, सूक्ष्माभोगसमन्वितम् ।
—योगभेदद्वात्रिंशिका, ११;
योगबिन्दु, ३६१

४. व्यवहारकुदृष्ठयोच्चै, रिष्टानिष्टेपु वस्तुषु ।
कल्पितेषु विवेकेन, तत्त्वधी समतोच्यते । —योगभेदद्वात्रिंशिका, २२

५. विकल्पस्पन्दरूपाणा वृत्तीनामजन्यजन्मनाम् ।
अपुमभोवतोरोधः प्रोच्यते वृत्तिसंक्षय ।
—वही, २५, योगबिन्दु, ३६५

करता हुआ योगी केवलज्ञान प्राप्त कर शैलेशी अवस्था मे पहुँचता है, जहां वह सभी प्रकार की बाधाओ से अतीत सदानन्दमयी मोक्षावस्था को प्राप्त करता है।[1]

इस प्रकार जैनयोग मे योग का प्रारम्भ, पूर्वसेवा से माना गया है क्योकि पूर्वसेवा से लेकर समता तक जो धार्मिक अनुष्ठान साधक करते है, वे धर्म-व्यापार होने के कारण योग के उपाय[2] मात्र हैं। परन्तु वृत्ति-संक्षय मोक्षावस्था होने के कारण मुख्य योग कहा जाता है। फिर अपुनर्बंधक, जो मिथ्यात्व को त्याग कर सम्यक्त्व की ओर अभिमुख होता है, वह व्यवहार से तात्त्विक है और सकृदबन्धक (जो एक बार मिथ्यात्व को प्राप्त करके फिर से मुक्त होता है) द्विबंधक (जो दो बार मिथ्यात्व मे पडकर मुक्त होता है) अतात्त्विक है। अर्थात् अध्यात्म; भावना, अपुनर्बन्धक एव सम्यग्दृष्टि व्यवहारनय से तात्त्विक है और देशविरत एव सर्वविरत निश्चयनय से तात्त्विक हैं। अप्रमत्त, सर्वविरत आदि गुणस्थानो मे ध्यान तथा समता उत्तरोत्तर तात्त्विक रूप से होती है। वृत्तिसक्षय तेरहवें एव चौदहवें गुणस्थान मे होता है।[3]

इस तरह इन पाचो को अर्थात् अध्यात्म से लेकर ध्यानपर्यन्त के चारो स्वरूपो को सम्प्रज्ञातयोग मे और वृत्तिसक्षय की असम्प्रज्ञातयोग मे दर्शाया गया है। इसलिए चौथे से बारहवे गुणस्थान तक सम्प्रज्ञात योग को और तेरहवें से चौदहवें गुणस्थान मे असम्प्रज्ञात समाधि को समझना चाहिए।

---

१. अतोऽपि केवलज्ञान शैलेशीसपरिग्रह: ।
मोक्षप्राप्तिरनाबाधा सदानन्दविधायिनी । —योगबिन्दु, ३६६

२ उपायत्वेऽत्र पूर्वपामन्त्य एवात्रशिष्यते ।
तत्पचमगुणस्थानादुपायोऽवोगति । —योगभेदद्वात्रिंशिका, ३१

३. योगभेदद्वात्रिंशका, १६; आध्यात्मिकविकासक्रम, पृ० ४८

: ७ : योग का लक्ष्य : लब्धियाँ एवं मोक्ष

जैसा कि पहले बताया गया है, योगी तप, आसन, प्राणायाम, समाधि, ध्यान आदि द्वारा योग-सिद्धि करता है अथवा मोक्षाभिमुख होता है। साधना के क्रम में योग साधक चिरकाल से उपार्जित पापो को वैसे ही नष्ट कर देता है, जैसे इकट्ठी की हुई बहुत-सी लकड़ियो को अग्नि क्षण भर मे भस्म कर देती है[1]। योगसाधना के ही क्रम में अनेक चमत्कारिक शक्तियो का भी उदय होता है, जिन्हे लब्धियाँ कहते हैं। ये लब्धियाँ अलौलिक शक्तियों से सम्पन्न होती हैं, तथा सामान्य मानव को आश्चर्य मे डालने वाली भी। वस्तुत· जिस साधक का अन्तिम उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति ही होता है, वह भौतिक या चमत्कारिक लब्धियो के व्यामोह मे नही फँसता। जैसे-जैसे योगी का मन निर्मल होता जाता है वैसे-वैसे उसमे समता, वैराग्य, सहनशीलता, परोपकार आदि सद्भावनाएँ जाग्रत होती जाती है। लेकिन जो साधक रागद्वेषादि भावनाओ के वश होकर रौद्र ध्यान द्वारा लब्धियाँ (शक्तियाँ) पाने की अभीप्सा रखते है वे आतमसिद्धि के मार्ग से च्युत होकर संसार मे भ्रमण करने लगते हैं। अत. लब्धियाँ मोक्षाभिमुख योगी के लिए बाधक ही सिद्ध होती हैं। इसलिए योगियो को आदेश है कि वे तप का अनुष्ठान किसी लाभ, यश, कीर्ति अथवा परलोक मे इन्द्रादि देवो जैसे सुख अथवा अन्य ऋद्धियाँ प्राप्त करने की इच्छा से न करें।[2] इस प्रकार योग-साधना का ध्येय शुद्ध आत्मतत्त्व की प्राप्ति करना है और लब्धियाँ उस योगमार्ग के बीच आई हुई फलसिद्धि हैं, जो आत्मतत्त्व की प्राप्ति करने मे बाधक भी बन सकती हैं।

---

१. क्षिणोति योग पापानि, चिरकालार्जितान्यपि।
प्रचितानि यथैधांसि, क्षणादेवाशुशुक्षणि.।—योगशास्त्र, १।७

२. णो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, णो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा।
णो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए, तवमहिट्ठिज्जा नण्णत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा। —दशवैकालिक सूत्र, ९।४

योगसाधना के दौरान प्राप्त होने वाली लब्धियो का वर्णन वैदिक, बौद्ध एवं जैनयोग मे क्रमश' विभूति, अभिज्ञा तथा लब्धियो के रूप मे मिलता है और कहा है कि लब्धियो का उपयोग लौकिक कार्यो मे करना वाछित नही है।

वैदिक योग में लब्धियाँ :

उपनिषद् मे स्पष्ट उल्लेख है कि लब्धियो से निरोगता, जरा-मरण का न होना, शरीर का हल्कापन, आरोग्य, विषय-निवृत्ति, शरीर-कान्ति, स्वर-माधुर्य, मलमूत्र की अल्पता, आदि प्राप्त होती है।[1] इसी प्रकार विभिन्न प्रकार की लब्धियो का वर्णन उपनिषदो, गीता, पुराण एवं हठयोगादि ग्रंथो मे है, जिनका विवेचन-विश्लेषण करना यहाँ अभीष्ट नही है। यहाँ केवल योगदर्शन मे वर्णित लब्धियो का परिचय ही अभिप्रेत है।

योगदर्शन में यम, नियम आदि जो योग के आठ अंग कहे गये हैं, उनमें से प्रत्येक अग की साधना से आभ्यन्तर एव बाह्य दोनो प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

यम से प्राप्त लब्धियो अर्थात् विभूतियो के विषय मे बताया गया है कि अहिंसाव्रत को पालन करने वाले साधक के सान्निध्य मे हिंस्र पशु भी अपना क्रूर स्वभाव छोड देते है, सत्यव्रती का वचन कभी मिथ्या नही होता, अस्तेयव्रत से रत्नसमृद्धि प्राप्त होती है। ब्रह्मचर्य से वीर्यसंग्रह का लाभ होता है तथा अपरिग्रह से जन्म के स्वरूप का बोध हो जाता है।[2]

नियम से प्राप्त लब्धियो के विषय मे कहा है कि अन्तर्बाह्य शौच के पालन से अपने शरीर के प्रति जुगुप्सा तथा अलिप्तता का भाव उदित होता है और चित्त की शुद्धि, आनन्द, एकाग्रता एव इन्द्रियजय तथा आत्मदर्शन की योग्यता प्राप्त होती हैं। सन्तोष से उत्कृष्ट सुख, तप से शरीर एव इन्द्रियों की शुद्धि, स्वाध्याय से अपने इष्ट देवता का साक्षा-

---

१ न तस्य रोगो न जरा न मृत्यु प्राप्तस्य योगाग्निमय शरीरम्।
लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं, वर्णप्रसाद स्वरसौष्ठव च।
गन्ध शुभोमूत्रपुरीषमल्प, योगप्रवृत्ति प्रथमां वदन्ति।
—श्वेताश्वतर, २।१२-१३

२ योगदर्शन, २।३५, ३६; ३७; ३८, ३९।

स्कार और ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है। आसन द्वारा सर्दी एवं गर्मी की बाधा उत्पन्न नहीं होती।[1] प्राणायाम से विवेक-ज्ञानावरण का क्षय एवं विविध प्रकार की धारणा के लिए मन की तैयारी होती है। प्रत्याहार से समस्त इन्द्रियो पर विजय प्राप्त होती है।[2] इसी प्रकार अतीत-अनागत का ज्ञान, विभिन्न प्राणियो की बोलियों की पहचान दूसरो की चित्तवृत्ति का ज्ञान, शरीर की दीप्ति एव हलकापन, आकाश-गमन आदि की प्राप्ति के साथ-साथ सर्वज्ञता भी प्राप्त होती है।[3]

इस प्रकार योगदर्शन में अनेक विभूतियो या लब्धियो का विस्तृत वर्णन प्राप्त है, जिनकी सिद्धियाँ जन्म, औषध, मन्त्र, तप, समाधि[4] आदि से प्राप्त होती हैं।

बौद्ध-योग में लब्धियाँ :

बौद्ध परम्परा मे लब्धियो का वर्णन अभिज्ञा नाम से मिलता है। बौद्ध योग के अनुसार अभिज्ञाएँ अर्थात् लब्धियाँ दो प्रकार की होती है—लौकिक और लोकोत्तर।[5] लौकिक अभिज्ञाओ के अन्तर्गत ऋद्धिविध, दिव्यस्रोत, चैतीपर्येज्ञान-पूर्वनिवासानुस्मृति एव चित्योत्पाद अभिज्ञाएँ हैं जिनसे क्रमशः आकाशगमन, पशु पक्षी की बोलियो का ज्ञान, परचित-विज्ञानता, पूर्वजन्मो का ज्ञान तथा दूरस्थ वस्तुओं का दर्शन होता है। लोकोत्तर अभिज्ञा की प्राप्ति तब होती है, जब साधक अर्हत् अवस्था को प्राप्त करके पुन. जनसाधारण के समक्ष निर्वाण-मार्ग को बतलाने के लिए उपस्थित होता है।

जैन योग में लब्धियाँ :

वैदिक एवं बौद्ध योग की ही भाति जैन योग मे भी तप समाधि, ध्यानादि द्वारा अनेक प्रकार की लब्धियां प्राप्त करने का वर्णन मिलता

---

१. वही, २।४०-४१, ४२, ४३, ४४, ४५, ४६।
२. वही, २।४९, ५३, ५४।
३. वही, ३।१५,१६, १७, १८, २६, ४०, ४१' ४२, ४५, ४८, ५०।
४. जन्मोपधिमंत्रतप. समाधिजा. सिद्धयः। योगदर्शन, ४।१
५. विशुद्धिमार्ग, मार्ग १, पृ० ३४।

है। अन्य जैन योग ग्रन्थों की अपेक्षा ज्ञानार्णव[1] एवं योगशास्त्र[2] में लब्धियो का विवेचन स्पष्ट एव विस्तृत रूप मे हुआ है। इन दोनो ग्रंथों में विस्तार पूर्वक विभिन्न प्रकार की लब्धियो और चमत्कारिक शक्तियों का वर्णन है जेसे जन्म-मरण का ज्ञान, शुभ-अशुभ शकुनो का ज्ञान, परकायाप्रवेश, कालज्ञान आदि। ध्यातव्य है कि इन लब्धियों की प्राप्ति जैनयोग साधना का वाह्य अग है, आन्तरिक नही, क्योकि योग-साधना का मूल उद्देश्य कर्म एव कषायादि का क्षय करके सम्यक् दर्शन ज्ञान तथा सिद्धि रूप मे मोक्ष प्राप्त करना है। जैनदर्शन के अनुसार लब्धि-प्राप्ति के लिए कुछ करने की आवश्यकता नही, वे तो प्रासगिक फल के रूप में स्वतः निष्पन्न या प्रकट होती है। अतः साधक अथवा योगी इन लब्धियों से युक्त होकर भी कर्मो के क्षय का ही उपाय करते हैं[3] तथा मोक्षपथिक बनते हैं। वे लब्धियो मे अनासक्त रहकर आत्म साधना मे लगे रहते हैं।

लब्धियों के प्रकार :

जैन योग ग्रथो में लब्धियो के प्रकारो के विषय मे विभिन्न प्रतिपादन हैं। भगवतीसूत्र मे जहां दस प्रकार की लब्धियो का उल्लेख

---

१. देखें ज्ञानार्णव, प्रकरण २६

२. योगशास्त्र, प्रकाश ५; ६

३. जोगाणुभावओ चिय पाय न य सोहणस्स वि य लाभो।
लद्धीण वि सम्पत्ती इमस्स जं वन्निया समए ॥
रयणाई लद्धीओ अणिमाईयाओ तह चित्ताओ।
आमोसहाइयाओ तहा तहा जोगवुड्ढीए ॥
एईय एस जुत्तो सम्मं असुहस्स खवगमो नेओ।
इयरस्स बन्धगो तह सुहेणमियं मोक्खगामित्ति ॥ —योगशतक, ८३-८५
वैक्रियध्व्योदयो ज्ञानतपश्चरणसंपदः।
शुभाशुभोदयध्वंस फलमस्या रसस्मृतः। कथाद्वात्रिंशिका, १४

है,[1] वहां तिलोयपण्णती[2] में ६४, आवश्यक[3] निर्युक्ति मे २८, षटखण्डागम[4] मे ४४, विद्यानुशासन में ४८, मंत्रराजरहस्य[5] मे ५० एव प्रवचनसारोद्धार[6] मे २८ लब्धियो का वर्णन है। प्रवचन सारोद्वार प्ररूपित २८ लब्धियो का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) आमोसहि—(आमर्ष औषधि) इस लब्धि के प्रभाव से साधक के शरीर स्पर्श मात्र से रोगी स्वस्थ हो जाता है।

(२) विप्पोसहि—(विप्रुपौषधि) इस लब्धि के प्रभाव से योगी का मलमूत्र औषधि का काम करता है।

(३) खेलोषधि—इस लब्धि के प्रभाव से योगी की श्लेष्मा से सुगंध आती है और उससे रोग-निवृत्ति होती है।

(४) जलोषधि—इस लब्धि के प्रभाव से योगी के कान, मुख, नाक आदि के मैल से रोग शान्त होते हैं।

(५) सर्वोषधि—इसके द्वारा मलमूत्रादि, नख, केश आदि में सुगन्ध आती है और उनसे रोग दूर होते है।

(६) सभिन्नस्रोती—इस लब्धि के प्रभाव से योगी शरीर के प्रत्येक अङ्ग द्वारा सुनने मे समर्थ होता हैं और सभी इन्द्रियाँ एक दूसरे का कार्य करने लगती हैं।

(७) अवधिलब्धि-यह अवधिज्ञानी मुनि को प्राप्त होती हैं और वह भूत-भविष्य का कथन कर सकता है।

(८) ऋजुमति—यह लब्धि मन.पर्यायज्ञानी योगी को प्राप्त होती है जिसके द्वारा वह संज्ञी जीवो के मनोगत भावो को सामान्य रूप से जानने में समर्थ होता है।

---

१ दसविधा लद्धी पणत्ता, तंजहा-नाण लद्धी, दसणलद्धी, चरितलद्धी, चरिताचरितलद्धी, दाणलद्धी, लाभलद्धी, भोगलद्धी उवभोगलद्धी, वीरियलद्धी, इंदियलद्धी। —भगवतीसूत्र, ८।२

२. तिलोयपण्णती, भाग १।४।१०६७-९१

३ आवश्यनिर्युक्ति ६९-७०

४. षट्खण्डागम, खण्ड ४, १।९

५. श्रमण, वर्ष १६६५, अक १-२, पृ० ७३

६ प्रवचनसारोद्धार, २७०, १४९२-१५०८

(९) **विपुलमति**— यह लब्धि मनःपर्यायज्ञानी योगी को ही प्राप्त होती है और इसके द्वारा भी संज्ञी जीवो के मनोगत भावो को सहजतया जाना जाता है।

(१०) **चारणलब्धि**—इस लब्धि को आकाशगामिनी भी कहते हैं। इस लब्धि से आकाश मे आने-जाने की विशिष्ट शक्ति प्राप्त होती है। इसके दो भेद हैं—जघाचारण एव विद्याचारण।

(११) **आशीविशलब्धि**—इससे शाप देने की शक्ति प्राप्त होती है।

(१२) **केवललब्धि**—चार घातियकर्मो अर्थात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अन्तराय कर्मो के क्षय होने से केवलज्ञानरूपी लब्धि प्राप्त होती है, जिससे तीनो लोको को स्पष्ट देखा जाता है।

(१३) **गणधरलब्धि**—इस लब्धि से गणधरपद की प्राप्ति होती है जिससे साधक तीर्थंकरो के प्रधान शिष्य एवं गण के नायक बनते हैं।

(१४) **पूर्ववरलब्धि**—इस लब्धि से अन्तर्मुहूर्त मे चौदहपूर्वो का ज्ञान प्राप्त होता है।

(१५) **अर्हत्लब्धि**—इसके द्वारा अर्हत्पदकी प्राप्ति होती है।

(१६) **चक्रवर्तीलब्धि**—इस लब्धि से चक्रवर्ती पद की प्राप्ति होती है। चौदह रत्नो के धारक तथा छः खण्ड पृथ्वी के स्वामी को चक्रवर्ती कहते हैं।

(१७) **बलदेवलब्धि**—इस लब्धि से द्वारा बलदेवपद की प्राप्ति होती हैं।

(१८) **वासुदेवलब्धि**—इस लब्धि के वासुदेवपद की प्राप्ति होती है।

(१९) **क्षीरमधुसर्पिरास्त्रवलब्धि**—इस लब्धि के द्वारा योगी के वचन मे दूध, मधु, तथा घी की मधुरता, मिठास तथा स्निग्धता आती है।

(२०) **कोष्ठकबुद्धिलब्धि**—इस लब्धि के द्वारा योगी गुरुमुख से एक ही बार स्मृत, श्रवित एव पठित ज्ञान को अक्षरश ग्रहण कर लेता है तथा चिरकाल तक भूल नही पाता है।

(२१) **पदानुसारिणी**—इस लब्धि के प्राप्त होने पर योगी श्लोक का एक पद सुनकर ही उसके आगे या पीछे के पदो को जान लेता है।

(२२) **बीजबुद्धिलब्धि**—सुने हुए ग्रन्थ का एक बीजाक्षर जानने से ही अश्रुत पद एव अर्थो को जानलेना ही बीजबुद्धिलब्धि है।

(२३) **तेजोलेश्या**—मुख से निकली हुई ज्वाला के प्रभाव से दूरस्थ, सूक्ष्म तथा स्थूल पदार्थो को भस्म करने की शक्ति तेजोलेश्या है।

(२४) आहारकलब्धि—वाद अथवा चर्चा मे निरुत्तर अथवा पराजित होने पर, उसका सशय निवारण करने के लिए अथवा तीर्थंकरों का दर्शन करने के लिए योगी अपने शरीर से एक हाथ का पुतला निकालते है जो तीर्थंकर के पास जाता है और लौटकर योगी के शरीर मे प्रविष्ट हो जाता है। इस लब्धि को आहारकलब्धि कहते हैं।

(२५) शीतललेश्यालब्धि—अत्यन्त करुणाभाव से प्रेरित होकर तेजोलेश्या से रक्षार्थ शीतललेश्या को छोडने की शक्ति प्राप्त होना शीतललेश्यालब्धि है।

(२६) वैक्रियलब्धि—इस लब्धि के प्रभाव से शरीर को छोटा-बड़ा, भारी-हल्का किया जाता है।

(२७) अक्षीणमहानसलब्धि—इस लब्धि के प्रभाव से भिक्षा या भोजन सामग्री तब तक समाप्त नही होती जब तक लब्धिधारी योगी स्वयं आहार न कर ले।

(२८) पुलाकलब्धि—इस लब्धि के द्वारा योगी को ऐसी शक्ति प्राप्त होती है कि वह अपने दण्ड से पुतले को निकाल कर शत्रु सेना को पराजित कर सकने मे समर्थ होता है। यह शक्ति अदृश्य रहती है।

प्रवचनसारोद्धार में वर्णित केवलीलब्धि के स्थल पर आवश्यक नियु क्ति मे दो स्वतन्त्र लब्धियो का उल्लेख है—केवलज्ञानलब्धि और केवलीलब्धि : प्रवचनसारोद्धार मे मनःपर्याय के दो भेद के आधार पर विपुलमति एवं ऋजुमति इन दो लब्धियो का वर्णन हुआ है, जब कि आवश्यकनियु क्ति के अनुसार इन दोनो के बदले मन पर्याय नामक एक ही लब्धि का उल्लेख है। प्रवचनसारोद्धार मे उल्लिखित क्षीरमधुर सर्पिरास्रव नामक एक लब्धि के बदले आवश्यकनियु क्ति मे मध्वास्रव, सर्पिरास्रव तथा क्षीरास्रव इन तीन लब्धियो का उल्लेख है। प्रवचन-सारोद्धार की चारणलब्धि आवश्यकनियु क्ति में 'आकाशगमित्व' की संज्ञा से अभिहित है। प्रवचनसारोद्धार मे वर्णित गणधर तथा शीतललेश्या नाम की लब्धियाँ आवश्यकनियु क्ति मे नही पाई जाती।

वस्तुत. लब्धियाँ यौगिक साधना से ही उत्पन्न होती हैं, फिर भी इन लब्धियो के व्यामोह से योगी को अलग ही रहने का आदेश है, क्योकि योगी का लक्ष्य आत्मसाक्षात्कार करना अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति होता है, न कि लब्धियो के द्वारा चमत्कार प्रदर्शित करना। हाँ, इन लब्धियों का

उपयोग योगी अपने आत्मगुणो के विकास के लिए अनासक्तभाव से कर सकता है।

वैदिक योग में कैवल्य अथवा मोक्ष

उपनिषद्, गीता, पुराण, योगदर्शन, योगवासिष्ठ आदि वैदिक ग्रन्थों मे वताया गया है कि जव योगी चित् को पूर्णतः विशुद्ध वना लेता है, तव केवल्य अथवा मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष-प्राप्ति के अनेक उपाय भी निर्देशित हैं, जिनका उल्लेख यथास्थान (चौथे, पाँचवें अध्याय में) किया गया है। फिर भी यहाँ मोक्ष की स्थिति एवं प्राप्ति के सम्बन्ध में सक्षिप्त विवेचन करना उचित होगा। अमृतविन्दूपनिषद्[1] में मनावरोध को मोक्ष का उपाय वतलाते हुए योग के अभ्यास से ज्ञान प्राप्त करने[2] तथा मुक्ति प्राप्त करने का उल्लेख है। ध्यानविन्दूपनिषद्[3] एवं योगचूडामण्युपनिषद्[4] के अनुसार कुण्डलिनी शक्ति के जाग्रत होने पर मोक्षद्वार का भेदन होता है। योगदर्शनानुसार जीवात्मा का सृष्टि के साथ कर्ता व भोक्तापन का सम्वन्ध अथवा पुरुष व प्रकृति का संयोग ही दुःख का कारण है।[5] आगे कहा है कि द्रष्टा या पुरुष और मन के सयोग का कारण अविद्या है,[6] और उस अविद्या के वन्धन को तोडने के लिए योग के अनेक उपाय हैं। वासना, क्लेश और कर्म ही ससार है अथवा ससार के कारण हैं। अत. इन वासनाओ को पूर्णतः नष्ट करके स्व-स्वरूप मे अवस्थित हो जाना ही मोक्ष अथवा कैवल्य है।[7] दूसरे शब्दों मे वासना का क्षय ही मोक्ष अथवा जीवन्मुक्ति है,[8] अथवा मन और पुरुष की

---

१. अमृतविन्दूपनिषद् १।५

२ योगात्सजायते ज्ञानं ज्ञानाद्योग. प्रवर्तते।

—त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, १९

३. ध्यानविन्दूपनिषद्, ६५-६९

४. योगचूडामण्युपनिषद्, ३६-४४

५ योगदर्शन, २।१७

६. तस्य हेतुरविद्या।—वही, २।२४

७. तदा द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानम्। वही, १।३

८ वासना प्रक्षयो मोक्ष· सा जीवन्मुक्तिरिष्यते। —विवेकचूडामणि, ३१८

समान शुद्धि ही कैवल्य है।[१] मोक्ष, वाणी तथा मन से अर्थात् तर्क-वितर्क से परे अथवा अगोचर है।[२]

मोक्ष के प्रसग में जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त का भी उल्लेख हुआ है।[३] जीवन्मुक्त वह अवस्था है, जिसमे शरीर नाश के पूर्व केवल प्रारब्ध कर्मो का भोग ही शेष रहता है। पुन. शरीर नष्ट होने पर, जब जन्म की सम्भावना ही नही रहती, उस स्थिति को विदेहमुक्त कहा गया है। सांख्यदर्शनानुसार[४] योगी जब संचित तथा क्रियमाण कर्मो को नष्ट कर देता है तथा प्रारब्ध कर्मो का भोग समाप्त हो जाता है अर्थात् सत्व, रज एवं तम के कार्य बन्द हो जाते है, तब उस योगी को विदेहमुक्त कहते है। ऐसी ही स्थिति मे पुरुष दु खो से ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृति के द्वारा कैवल्य प्राप्त करता है।

बौद्ध-योग में निर्वाण

बौद्ध-योग मे कर्म को संसार की जड बताते हुए कहा है कि वह कभी पीछा न छोड़ने वाली मनुष्य की छाया के समान है[५] अर्थात् कर्मो से विपाक प्रवर्तित होता है और स्वयंविपाक कर्म सम्भव है तथा कर्म से ही पुनर्जन्म अथवा संसारचक्र प्रारम्भ होता है।[६] इसलिए कर्म अथवा संसार से विमुक्त होने के लिए बौद्धयोग मे आचारतत्व, अष्टांगिक मार्ग के अन्तर्गत शील एव समाधि का सतत अभ्यास करने का निर्देश है,[७] जिनके द्वारा निर्वाण की प्राप्ति होती है।

---

१ सत्वपुरुषयो शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति। —योगदर्शन, ३।५५

२ यतो वाचो निवर्त्तन्ते आप्राप्य मनसा सह।
आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चेनेति। —तैत्तिरीयोपनिषद्, २।४।१

३. योगकुण्डल्युपनिषद्, १।३३-३५, ध्यानविन्दूपनिषद्, ८६-९०, योगशिखोपनिषद्, १५७-६०, योगवासिष्ठ, ३।९।१४-२५

४. साख्यकारिका, ६६-६८

५. मिलिन्दप्रश्न, ३।२।१६

६. कम्मा विपाका वत्तन्ति विपाको कम्म सम्भवो।
कम्मा पुनब्भवो होति एव लोको पवत्ततीति। —विसुद्धिमग्ग

७. विसुद्धिमग्ग, १६।६८

बौद्ध-योग के अनुसार निर्वाण एक आध्यामिक अनुभव है, जिसकी प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक विकास अर्थात् चितशुद्धि अपेक्षित है, क्योकि चित्तशुद्धि अथवा जीवन की विशुद्धि ही निर्वाण है।[१] निर्वाण की अवस्था मे, कोई चित्तमल नही रहता अर्थात् यह सम्पूर्ण कर्मक्षयो के कारण होने वाली अन्तिम भूमिका है। यही कारण है कि जो साधक अथवा योगी इस अवस्था मे पहुँचता है, उसे किसी भी प्रकार की आकांक्षा नही रहती, संसार में पुन लौटने का भय नही होता तथा वह परमसुख या आनन्द प्राप्त करता है।[२]

निर्वाण की स्थिति और स्वरूप के सम्बन्ध में स्वयं बुद्ध ने कोई निर्णायक उत्तर न देकर उसे अव्याकृत कहा है। लेकिन उनके बाद आचार्यो ने दीप-निर्वाण का आधार लेकर निर्वाण विषयक अनेक प्रश्नो का समाधान किया है। मिलिन्दप्रश्न के अनुसार निर्वाण का स्वरूप इस प्रकार है—तृष्णा के निरोध से उपादान का, उपादान के निरोध से भव का, भव के निरोध से जन्म का और पुनर्जन्म रुक जाने से बूढा होना, मरना, शोक, दु ख, बेचैनी, परेशानी आदि सभी प्रकार के दु ख समाप्त हो जाते हैं।[३] तृष्णा, राग-द्वेष, मोह आदि ससार की जड तथा साधक (योगी) के मन को चञ्चल बनाने के कारण हैं, जिनसे विविध प्रकार के कर्मों का आस्रव होता है। अतः राग-द्वेष, मोह आदि का क्षय कर देना ही निर्वाण है।[४] दूसरे शब्दो मे जिस प्रकार तेल और बत्ती के रहने पर दीपक जलता है और उनके अभाव मे वह बुझ जाता है, उसी प्रकार शरीर छूटने पर अर्थात् मरने के बाद अनासक्ति के कारण अनुभव की गई ये वेदनायें शान्त पड़ जाती हैं।[५] निर्वाण की स्थिति मे दु ख का लेश भी नही रहता,[६] बल्कि वह स्थिति आनन्द की अत्यधिक पराकाष्ठ

१ विसुद्धीति सब्बमलविरहित अच्चन्तपरिसुद्ध निब्बाण वेदितब्य ।
—विसुद्धिमग्ग, १।

२. निब्बानं परम सुखं । —धम्मपद, १५।८

३. मिलिन्दप्रश्न, पृ० ८९

४. छेत्वा रागञ्च दोसञ्च ततो निब्बानामेहिसि । —धम्मपद, २५।१०

५ बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ५०१

६. मिलिन्दप्रश्न; पृ० ३८६

है। वह स्थिति इन्द्रियो, काल आदि से परे है और केवल मन द्वारा जानी जा सकती है।[1]

वैदिक योग की ही भाँति बौद्धयोग मे भी निर्वाण के दो प्रकार वर्णित हैं—(१) सोपाधिशेष अर्थात् जीवन्मुक्ति तथा (२) अनुपाविशेष अर्थात् विदेहमुक्ति। उपाधि का अर्थ यहाँ स्कन्ध है। पाँच स्कन्धो के शेष हो जाने पर सोपाधिशेष निर्वाण की प्राप्ति होती है और इन स्कन्धो का निरोध हो जाने पर अनुपाधिशेष निर्वाण प्राप्त किया जाता है।[2]

जैन योग में मोक्ष :

जैन योग मे मोक्ष का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। मानव आत्मविकास की क्रमशः सीढ़ियो को पार करता हुआ शुद्ध आत्म स्वरूप की स्थिति तक पहुँचता है। आत्मसाक्षात्कार अर्थात् आत्मविकास की वह परम स्थिति ही मोक्ष है। इसे पाने के लिये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र की एकरूप परिपूर्णता अपेक्षित है, जो योग का ही आनुषंगिक रूप है। क्योकि रागादिभावो से युक्त होने पर आत्मा चतुर्गतियो मे भ्रमण करता है और जब यह भ्रमण यानी मन का व्यापार रुक जाता है तब समस्त कर्मो का आवागमन रुक जाता है और आत्मा स्वभावत निजस्वरूप मे स्थित हो जाता है।[3] तेरहवें गुणस्थान अथवा सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति ध्यान मे योग (क्रिया) की प्रवृत्ति रहने के कारण केवलज्ञान की प्राप्ति होते हुए भी मुक्ति नही होती। अत: जब सम्पूर्ण योग (क्रिया) निरोध रूप चारित्रपूर्ण होता है, तभी मुक्ति होती है।[4] इस प्रकार ससार-बन्धन एवं उसके कारणो का सर्वथा अभाव तथा आत्मविकास की पूर्णता ही मोक्ष है अर्थात् सवर एव निर्जरा द्वारा कर्मो का सम्पूर्ण उच्छेद ही मोक्ष है[5] क्योकि संवर द्वारा जहाँ आत्मा में नये

---

१ वही, पृ० ३३२

२. विसुद्धिमग्ग, १६।७३

३. भणिदे मणुवावारे भमंति भूयाइ तेसु रायादी।
ताण विरामे विरमदि सुचिरं अप्पा सरुवम्मि। —ज्ञानसार, ४६

४. स्थानांग-समवायांग, पृ० १५९

५. (क) मोक्षः कर्मक्षयो नाम भोगसक्लेश वर्जित.।—पूर्वसेवाद्वात्रिंशिका, २२
(ख) वन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम्।
कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्ष.। —तत्वार्थसूत्र, १०।२-३,
(ग) आप्तपरीक्षा, ११६

कर्मों का प्रवेश सर्वथा रुक जाता है वहाँ निर्जरा से सचितकर्मों का पूर्णतः क्षय हो जाता है और तभी जीव (आत्मा) अनन्त सुख का अनुभव करता है।

ससार वन्धन का कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग (प्रवृत्ति) है और इन्ही कारणो से जीव अपनी विवेकशक्ति को खोकर भ्रान्ति की अवस्था मे ससार की सभी वस्तुओ को अपनी समझने लगता है, जो ससार भ्रमण का हेतु है। मोहनीय कर्म के क्षय से तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म के क्षय से जीव को केवलज्ञान प्राप्त होता है।[1] केवलज्ञान की यह अवस्था ही जीव की अरिहन्त अवस्था है और इस अवस्था में मन, वचन और काय के योग में से सूक्ष्मकाय-योग का व्यापार चलता रहता है। अतः अरिहन्त ससारावस्था को पार करके भी संसार मे रहते हैं और इसीलिए उन्हे जीवन्मुक्त कहा जा सकता है। इस अवस्था को पार करने के लिए चार अघातिया कर्मो का पूर्णत क्षय करना होता है और जब आत्मा अर्थात् जीव अन्तिम शुक्लध्यान में सूक्ष्मकाययोग अर्थात् अल्प शारीरिक प्रवृत्ति का भी सर्वथा त्याग कर देता है तब वह अचल, निरापद, शान्त, सुख स्थान को पा जाता है जिसे शैलेशी अवस्था कहते हैं। यह सुमेरु-पर्वत के समान निश्चल अवस्था अथवा सर्व संवर रूप योग-निरोध अवस्था है। इस शैलेशी अवस्था मे आत्मा अत्यन्त विशुद्ध रहती है और वहाँ किसी भी प्रकार की इच्छा-अनिच्छा का सम्बन्ध ही नही होता।

इस सन्दर्भ मे, यह ध्यातव्य है कि आत्मा स्वयं ही कर्ता-धर्ता, गुरु[2] अर्थात् अपने प्रति स्वयं उत्तरदायी है। सम्पूर्ण कर्मो का नाश होने पर आत्मा स्वय ही सिद्धावस्था को प्राप्त होती है तथा एक समय मात्र में ऋजुगति से ऊर्ध्वगमन कर लोकाकाश के अग्रभाग मे स्थित हो जाती है[3] जहाँ किसी प्रकार का रागभाव[4] न होने के कारण सर्वदा समता-

---

१ मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्। —तत्वार्थसूत्र, १०।१

२ नयत्यात्मानमात्मेव जन्म निर्वाणमेव च।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थत.। —समाधितन्त्र, ७५

३ (क) तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्। —तत्त्वार्थसूत्र, १०।५
(ख) कर्मबन्धनविध्वंसादूर्ध्वव्रज्या स्वभावत.।
क्षणेनैकेन मुक्तात्मा जगच्चूडाग्रमृच्छति। —तत्त्वानुशासन, २३१

४ द्वेषस्याभावरूपत्वाद् द्वेषश्चैक एवहि।
रागात् क्षिप्र क्रमाच्चात परमानन्दसभवः। —पूर्वसेवाद्वात्रिंशिक, ३२

भाव से परमानन्द का अनुभव करती हुई अचल रहती है।[1] ऐसी स्थिति मे, मुक्त होने के कारण, आत्मा का कर्म द्वारा शरीर निर्माण नही होता,[2] लेकिन उसका आकार प्राय. उस शरीर जितना ही रह जाता है, जिसे त्याग कर वह मुक्त हुआ है।[3]

इसी सिलसिले मे यह उल्लेख करना भी समीचीन होगा कि आत्मा जब तक ससार-बन्धन में रहती है तब तक वह नामकर्म के उदय के कारण सकोच-विस्तार शरीर धारण करती है और मुक्त होने पर, अशरीरी बन जाती है। लेकिन आत्मा जिस अन्तिम शरीर के द्वारा मोक्ष प्राप्त करती है, उसका १।३ भाग (मुख, नाक, पेट आदि खाली अगो मे) पोला होता है, बाकी २।३ भाग मे उस जीवात्मा के उतने प्रदेश उस सिद्ध स्थान मे व्याप्त हो जाते हैं, जिसे अवगाहना कहते हैं।[4] इस तरह अनन्त जीव उस लोकाकाश के प्रदेशो मे विराजमान होने पर भी परस्पर अव्याघात रहने से, एक दूसरे से, मिलकर अभिन्न नही हो जाते। प्रत्येक जीव का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम रहता है। ऐसी ही आत्मा ससार मे पुनरागमन नही करती क्योकि वह वीतराग, वीत-मोह और वीतद्वेष होती है। एक दीपक के प्रकाश मे जैसे अनेक दीपो का प्रकाश समा जाता है, उसी तरह एक सिद्ध के क्षेत्र मे अनन्त सिद्धों को अवकाश देने की जगह होती है। सिद्धो मे अगुरुलघु का गुण भी होता है, जिसके कारण न वह लोहे के समान गुरुता के कारण नीचे आने को विवश होता है और न रूई की तरह हलका होने से वायु का अनु-सरण ही करता है।[5]

इस प्रकार सिद्धात्मा शरीर, इन्द्रिय, मनविकल्प एवं कर्मरहित होकर अनन्तवीर्य को प्राप्त होता है और नित्य आनन्द स्वरूप मे लीन

---

१. मुक्त्युपायेषु नो चेष्टामलनायैव यतत.। —मुक्त्यद्वेषप्राधान्यद्वात्रिंशिका. १

२ शरीर न स गृह्लाति भूय. कर्म-व्यपायत.।
कारणस्यात्यये कार्यं न कुत्रापि प्ररोहति। —योगसारप्राभृत, ७।१९

३ तत्त्वानुशासन, २३२-३३

४ उत्तराध्ययन सूत्र, ३६।६४

५. वृहद्द्रव्यसग्रह, १४

हो जाता है।[1] आत्मा की यह सिद्धावस्था कर्ममुक्त, निराबाध, संक्लेश रहित एवं सर्वशुद्ध होती है,[2] जहाँ निद्रा, तन्द्रा, भय, भ्रान्ति, राग, द्वेष, पीड़ा, संशय, शोक-मोह, जरा, जन्म-मरण, क्षुधा, तृष्णा, खेद, मद, उन्माद, मूर्च्छा, मत्सर आदि दोष नही रहते हैं। इस अवस्था मे आत्मा मे न संकोच का भाव होता है न विस्तार का। आत्मा सदा एक अवस्था में रहती है।[3] वह अनन्तवीर्य एवं लब्धियो की प्राप्ति करके एक अनिर्वचनीय सुखानुभूति का अनुभव करती है। यह सुखानुभूति पार्थिव सुखानुभूति से सर्वथा भिन्न है, जो मुक्त आत्मा को ही प्राप्त होती है।

सभी प्रकार के ससार बन्धनो से मुक्त सिद्ध आत्मा के विभिन्न योग-परम्पराओ में अनेक नाम हैं। ब्राह्मणो ने जहाँ उस सिद्धात्मा को ब्रह्म कहा है, वहाँ वैष्णव, तापस, जैन, बौद्ध, कौलिक आदि ने क्रमश. उसे विष्णु, रुद्र, जिनेन्द्र, बुद्ध, कौल कहा है।[4] वस्तुत. सिद्धावस्था अथवा निर्वाण अनेक नामो से अभिहित होकर भी एक ही तत्त्व का बोधक है।[5]

जैन दर्शनानुसार ईश्वर वह है, जो न इस सृष्टि की रचना करता है और न कृपालु ही है, बल्कि वह अपने ही आत्मस्वरूप मे लीन रहने वाली एक स्वतन्त्र सत्ता है, जो सर्वथा मुक्त होती है। अतः जितने भी जीव मुक्त हो जाते हैं वे सभी ईश्वर अथवा परम-आत्मा हैं। ये सख्या में अनन्त हैं।

---

१ निष्कल. करणातीतो निर्विकल्पो निरजनः।
अनन्तवीर्यतापन्नो नित्यानन्दाभिनन्दितः। —ज्ञानार्णव ३९।६८

२ एकान्तक्षीणसक्लेशो निष्ठितार्थस्ततश्च सः।
निराबाध सदानन्दो मुक्तावात्माऽवतिष्ठते। —योगबिन्दु, ५०४

३ ज्ञानार्णव, ३९।६६-६७

४ (क) ब्राह्मणैर्लक्ष्यते ब्रह्मा विष्णु पीताम्बरैस्तथा।
रुद्रस्तपस्विभिर्दृष्ट एष एव निरजन।
जिनेन्द्रो जल्प्यते जैनै बुद्ध कृत्वा च सौगतै।
कौलिकै कौल आख्यात स एवाय सनातन।—योगप्रदीप, ३३।३४

(ख) योगदृष्टिसमुच्चय, १३०

५ ससारातीततत्त्व तु पर निर्वाणसज्ञितम्।
तद्ध्येकमेव नियमात् शब्दभेदऽपि तत्त्वात.। —योगदृष्टिसमुच्चय, १२८

इस प्रकार निर्वाण-प्राप्त अथवा सिद्धावस्था-प्राप्त आत्मा अपने आप मे लीन रहने वाला चिदात्मा है, जो न सृष्टिकर्ता है न विनाशकर्ता है और न ससार का रक्षक ही है। सिद्ध जीव पन्द्रह प्रकार के होते हैं।[1]

१. **जिनसिद्ध अथवा तीर्थंकरसिद्ध**—तीर्थंकर पद प्राप्ति के बाद जो जीव मोक्ष प्राप्त करता है उसे जिनसिद्ध अथवा तीर्थंकरसिद्ध कहते हैं।

२. **अजिनसिद्ध अथवा अतीर्थंकरसिद्ध**—विना तीर्थंकर हुए मोक्ष प्राप्त करनेवाले को अजिनसिद्ध अथवा अतीर्थंकरसिद्ध कहते हैं।

३. **तीर्थसिद्ध**—तीर्थंकर की मुक्ति के बाद उनके तीर्थ में मोक्ष प्राप्त करनेवाले जीव को तीर्थसिद्ध कहते हैं।

४. **अतीर्थसिद्ध**—तीर्थङ्कर होने के पूर्व सिद्धि प्राप्त करनेवाले जीव को अतीर्थसिद्ध कहते हैं।

५. **गृहस्थलिंगसिद्ध**—गृहस्थ-अवस्था में मुक्ति प्राप्त करनेवाले जीव को गृहस्थसिद्ध कहते हैं।

६. **अन्यलिंगसिद्ध**—तापस अथवा परिव्राजक अवस्था में मुक्ति पाने वाले जीव को अन्यलिंगसिद्ध कहते हैं। अर्थात् निर्ग्रन्थों के अतिरिक्त तापस, परिव्राजक, संन्यासी भी मोक्ष के अधिकारी हैं।

७. **स्वलिंगसिद्ध**—सर्वज्ञ भगवान् के कथित जैनमुनि के वेश में जो जीव मोक्ष प्राप्त करते हैं, उन्हे स्वलिंगसिद्ध कहते हैं।

८ **स्त्रीलिंगसिद्ध**—स्त्री शरीर से मुक्ति पाने वाले जीव को स्त्रीलिंगसिद्ध कहते हैं।

९. **पुरुषलिंगसिद्ध**—पुरुष शरीर से जा जीव मोक्ष प्राप्त करे उसे वह पुरुषलिंगसिद्ध कहते हैं।

१० **नपुंसकलिंगसिद्ध**—नपुसक शरीर से जो जीव मोक्ष को प्राप्त करते हैं उन्हे नपुंसकलिंगसिद्ध कहते हैं।

---

१ (क) जिणअजिणतित्थतित्था गिहिअन्नसलिंगथीनरनपुंसा।
पत्तेयसयबुद्धा बुद्धबोहिक्कणिक्काय। —नवतत्त्वप्रकरण, ५२,

(ख) प्रज्ञापनासूत्र १।९

११. प्रत्येकबुद्धसिद्ध—जो जीव निसर्गत. पौद्गलिक वस्तुओ की क्षणभंगुरता देखकर वैराग्य को प्राप्त करता है और उसके फलस्वरूप केवलज्ञान प्राप्ति के उपरान्त मोक्ष प्राप्त करता है उसे प्रत्येकबुद्धसिद्ध कहते हैं।

१२. स्वयंबुद्धसिद्ध—जो जीव विना गुरूपदेश के अथवा विना किसी वाह्य निमित्त के पूर्वभव के श्रुतादि के अभ्यास के कारण केवलज्ञान को प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करता है, उसे स्वयबुद्धसिद्ध कहते हैं।

१३. बुद्धबोधित्वसिद्ध—गुरु के उपदेश से ससार की असारता की तीव्र भावना से वैराग्य एवं कैवल्यज्ञान को प्राप्त करके मोक्ष पाने वाले जीव को वुद्धबोधित्वसिद्ध कहते हैं।

१४. एकसिद्ध—एक समय मे एक ही जीव मोक्ष प्राप्त करता है तथा उस समय कोई दूसरा जीव सिद्ध नही होता, वैसे जीव को एकसिद्ध कहते हैं।

१५ अनेकसिद्ध—एक समय में अनेक जीव भी मोक्ष प्राप्त करते हैं, ऐसे जीवो को अनेकसिद्ध कहते हैं।

●

उपसंहार

भारतीय चिन्तन की समस्त धाराएँ मनुष्य के आध्यात्मिक विकास में विश्वास रखती हैं और मोक्ष को स्वीकार करती हैं। यही कारण है कि चार्वाक को छोड़कर समस्त भारतीय दार्शनिको के लिए 'योग' अनिवार्य तत्त्व बन गया है, इसीलिए सब ने मोक्ष-प्राप्ति के साधन के रूप मे इसकी महत्ता का प्रतिपादन किया है। यह एक निर्विवाद सत्य है कि योग-पद्धति की अक्षुण्ण धारा भारतीय परम्परा और संस्कृति के साथ गतिशील रही है। हाँ, समय-समय पर इसके बाह्य क्रिया-कलापो मे परिवर्तन एवं परिवर्द्धन भी होते रहे हैं, फिर भी मूलतत्त्व में किसी प्रकार का परिवर्तन नही आ पाया है।

वेद मे जहाँ समाधि के अर्थ मे प्रयुक्त 'योग' शब्द के अस्तित्व का दर्शन होता है तथा ईश्वर से अभय, अमरज्योति तथा विवेक प्राप्ति के लिए प्रार्थना की गई है, वहाँ पातञ्जल योगदर्शन में इसे चित्तवृत्ति के निरोध का कारण माना गया है, क्योंकि चित्तवृत्तियों के निरोध का अर्थ उन्हे सभी मनोविकारो से हटाकर मोक्षमार्ग की साधना मे लगाना ही है अर्थात् यहाँ योग का सम्बन्ध मोक्ष-प्रापक धर्म-व्यापार के रूप मे स्वीकृत है। जैन योग परम्परा के प्रारम्भ मे योग शब्द पातञ्जलि द्वारा प्रयुक्त योगार्थ से साम्य नही रखता, क्योकि जैन परम्परा मे मूलतः मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को योग माना गया है अर्थात् वीर्यान्तिराय कर्म का क्षयोपशम या क्षय होने पर मन, वचन एवं काय के निमित्त से आत्म-प्रदेशो का चञ्चल होना ही योग है। आगे चलकर योग शब्द पातञ्जल योगदर्शनसम्मत अर्थ के निकट आता गया। यम-नियमादि का पालन परिणामो की शुद्धि के लिए ही किया जाता है तथा इनका उद्देश्य मन, वचन एवं काय द्वारा अर्जित कर्मो की शुद्धि करना ही है। इस दृष्टि मे समिति, गुप्ति आदि चारित्र का पालन करना उत्तम योग है, क्योकि इनसे संयम मे वृद्धि होती है और योग भी आत्मा की विशुद्धावस्था का ही मार्ग है। इसके द्वारा जीव को सर्वोत्कृष्ट अवस्था प्राप्त होती है।

इसके अतिरिक्त समाधि, तप, ध्यान, संवर आदि शब्द भी 'योग' के अर्थ मे व्यवहृत होते हैं और योगसाधना के समर्थ अंग भी हैं।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग (प्रवृति) ही आस्रव हैं और इन प्रवृतियों का निरोध ही सवर है। इस प्रकार संवर शब्द भी योग-दर्शन के 'योग' शब्द का ही पर्याय माना जा सकता है। जैन योगानुसार तप उस विधि को कहते हैं जिससे वद्ध कर्मों का नाश होता है अथवा वह क्रिया है जिससे आत्मा का परिशोधन होता है। तप शारीरिक एवं मानसिक विकारो को नष्ट करता है, अतः विकारो को नष्ट करने की प्रक्रिया से स्वतः चित्तवृतियों का निरोध हो जाता है। इस दृष्टि से जैनो का 'तप' शब्द भी 'योग' के ही अर्थ को व्यंजित करता है। किसी एक विपय पर चित्त को स्थिर करने को ध्यान कहते हैं तथा उससे निर्जरा एव संवर दोनो ही सिद्ध होते हैं। इस दृष्टि से ध्यान भी योग का ही पर्यायवाची ठहरता है। समाधि की अवस्था मे साधक आत्मस्वरूप मे लीन होता है और यह क्रिया प्रवृत्तियो के निरोध के विना सम्भव नही। इसलिए 'समाधि' शब्द भी योग के अर्थ मे ही आता है।

जैन योग की आधारगत विशेषताएँ—योग का आधार आचार है, क्योकि आचार से ही योगी के संयम मे वृद्धि होती है, समता का विकास होता है और अन्ततः इसी से साधक आध्यात्मिक ऊँचाई पर पहुँचता है। इसीलिए जैनयोग में चारित्र अथवा आचार को विशेप स्थान प्राप्त है। जैन योगानुसार श्रमण के साथ ही साथ श्रावक भी व्रती होते हैं। इसीलिए आचार की दो कोटियाँ निर्धारित हैं—एक साधु अथवा श्रमण-विपयक और दूसरी गृहस्थ अथवा श्रावक-विषयक। श्रमण का आचार पूर्णत. त्यागमय होता है, श्रावक का आचार आंशिक; श्रमण का ध्येय सम्पूर्णभावेन आध्यात्मिक विकास होता है, जबकि श्रावक व्यावहारिक जीवन यापन मे आध्यात्मिक समाधान चाहता है। वैदिक परम्परा मे भी गृहस्थ-जीवन के साथ सन्यास आश्रम को महत्त्व प्राप्त है और उनकी अलग-अलग आचारसंहिताएँ निर्धारित हैं। बौद्ध परंपरा मे भी भिक्षु और उपासक की अलग-अलग आचार संहिताओ का विधान है। जैन आचार में विशेषतः श्रमण के नियमो-उपनियमो का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन हुआ है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। योग-साधना के लिए किसी न किसी रूप मे सम्यक् आचारपालन की अपेक्षा होती ही है।

पञ्च महाव्रत—पातंजल योगदर्शनानुसार अष्टांगमार्ग का उद्देश्य मन, इन्द्रियो तथा शरीर की शुद्धि करना है और यम के अन्तर्गत

उसके भेदो का निरूपण भी आचार के अणुव्रत आदि जैसे ही हैं। नियम के भेदो के अन्तर्गत ईश्वरप्रणिधान को छोड़कर शौच, संतोष, तप और स्वाध्याय जैन एवं बौद्ध योग मे कथित आचार के समान ही हैं। पातञ्जल योगदर्शन मे वर्णित व्रत जाति, देश, काल से परे सार्वभौमिक तथा अविच्छिन्न हैं और जैनयोग मे प्रयुक्त महाव्रत आदि भी इसी व्रत के समान देश, काल और जाति से परे सार्वभौम हैं। पातञ्जल योगदर्शन मे यम के पाँच भेद, बौद्ध दर्शन मे व्यवहृत पञ्चशील और जैनधर्म में प्ररूपित पञ्चमहाव्रत प्रकारान्तर से एक ही सिक्के के भिन्न-भिन्न पहलू हैं। तीनो परम्पराओ के वे पद एक ही अर्थ के द्योतक है।

अहिंसा की प्रमुखता—जैन आचार के अन्तर्गत अणुव्रत, महाव्रत आदि के द्वारा अनेक प्रकार की हिंसा, परिग्रह आदि का त्याग प्रतिपादित है, क्योकि हिंसा से हिंसा बढती है तथा योगधारणा की प्रक्रिया मे वैराग्य, समता-भाव आदि का विकास नही हो पाता। जैन योगानुसार हिंसा के प्रकारो का प्रतिपादन अत्यन्त सूक्ष्म एव विशद्रूप मे हुआ है। वह हिंसा भले ही प्रत्यक्ष हो या अप्रत्यक्ष; स्वयंकृत हो अथवा अन्यकृत अथवा अनुमोदित, मानसिक हो अथवा वाचिक अथवा शारीरिक। हिंसा के कारण किसी न किसी प्रकार रागद्वेषादि दुर्भावनाएँ बढ़ती ही हैं तथा उनका चिन्तन योगसाधना को विचलित कर देता है। अतः अहिंसा का प्रतिपालन अनिवार्य माना गया है। इसी प्रकार जैन आचार मे सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का वर्णन है, जिनसे योग साधना उन्नत होती है। वैदिक परम्परा मे भी अहिंसा आदि व्रतो की अनिवार्यता मानी गई है, लेकिन उसी परम्परा के अन्तर्गत तन्त्रसाधना में मद्य, मांस, मधु आदि का सेवन विहित माना गया है! बौद्ध परम्परा मे हिंसा वर्जित है लेकिन कालान्तर मे तन्त्र का प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगता है। अतः वैदिक और बौद्ध दोनो परम्पराओ की अपेक्षा जैनयोग मे हिंसा का सर्वथा त्याग एक अपनी विशिष्टता है।

ब्रह्मचर्य की अनिवार्यता—जब तक मन वासनाओ से निवृत्त नहीं हो जाता है तब तक न चित्त की स्थिरता प्राप्त हो सकती है, न धर्मध्यान हो सकता है और न योग ही सध सकता है। इसीलिये वासनाओ से विमुक्ति अथवा ब्रह्मचर्य आवश्यक माना गया है। ब्रह्मचर्य के सन्दर्भ मे भी अहिंसा की ही भाँति जैन आचार मे तीन योग तथा तीन करण

का विधान है, जिनसे किसी भी प्रकार साधक का मन वासनाओं के प्रति आसक्त न हो। यद्यपि वैदिक परम्परा मे भी अनिवार्य रूप से ब्रह्मचर्य का महत्त्व है, लेकिन तन्त्रयोग में भोग को ही योग का साधन माना गया है। तन्त्रवादियों की दृष्टि मे तर्क दिया जाता है कि इंद्रियों की प्रवृत्तियो का हठात् एवं कृत्रिम निरोध अस्वाभाविक एवं अप्राकृतिक है। योग के साथ भोग का सामंजस्य होना चाहिए। इन वासनामयी इन्द्रियो की तृप्ति होनी ही चाहिए, ताकि योगी का मन साधना में रमे। इसके साथ ही साथ यह भी स्वीकार किया गया है कि मैथुन-क्रिया में कामुकता नही होनी चाहिए और न आसक्ति हो। अत तन्त्रवादियों के अतिरिक्त वैदिक परम्परा मे ब्रह्मचर्य की अनिवार्यता विहित है। बौद्ध परम्परा मे ब्रह्मचर्य का प्रमुख स्थान है। इस सन्दर्भ मे यह स्वीकार किया गया है कि मन की स्थिरता बिना इन्द्रियों के निरोध के नही हो सकती। इसीलिए ब्रह्मचर्य का स्थान पञ्चशील के अन्तर्गत है। जैन परम्परा ब्रह्मचर्य का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन करती है और उसमें सम्पूर्ण रूप मे ब्रह्मचर्य पालन की अनिवार्यता है।

तप का महत्व—जैन योग-आचार के अन्तर्गत इन्द्रियो को नियन्त्रित करने के क्रम मे देहदमन अर्थात् तप-मार्ग का निर्देश है, क्योंकि विषयों के मूल का उच्छेदन तप से होता है। जैन मतानुसार तप के दो भेद हैं—(१) बाह्य एवं (२) आभ्यंतर। इन दोनो में बताया गया है कि शारीरिक अर्थात् इन्द्रिय दमन के साथ-साथ मानसिक अथवा भावात्मक दमन भी हो।

इन्द्रिय दमन के लिए अनेकविध तप का वर्णन वैदिक योग परम्परा मे हुआ है। गीता में तप के अन्तर्गत सत्य, ब्रह्मचर्य, अनासक्ति, अपरिग्रह आदि का विधान है। जैन परम्परा मे सत्य, ब्रह्मचर्य आदि का विधान अणुव्रत तथा महाव्रत के अन्तर्गत हुआ है। गीता एवं जैन परम्परा में निर्देशित है कि किसी इच्छा अथवा लोभ अथवा कीर्ति के निमित्त तप करना उचित नही है। जैन तप के प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, ध्यान तथा कायोत्सर्ग आदि प्रकारान्तर से गीता मे वर्णित शरणागति, गुण, लोकसग्रह, योग आदि के अर्थ मे प्रयुक्त हुए हैं। वैदिक परम्परा के चान्द्रायण आदि अनेक तप जैनतप के कायोत्सर्ग से साम्य रखते हैं जिनमें कायक्लेशपूर्वक शक्तिअर्जित करने का विधान है। यद्यपि बौद्ध परम्परा मे

तप का निषेध है, लेकिन दूसरे शब्दो में तप के अनेक आवश्यक अंगो का विधान भी है, जिनका उद्देश्य अकुशल अर्थात् पाप कर्मों को नष्ट करना है। बौद्ध तप मे विहित अतिभोजन का त्याग तथा एक समय भोजन का विधान जैन तप मे उल्लिखित ऊनोदरी तप ही है। बौद्ध तप के अन्तर्गत रस-शक्ति का निषेध जैन तप का रस-परित्याग ही है। भिक्षा-चर्या तथा विविक्तशय्यासन तो दोनो परम्पराओ मे समान ही है। इतना ही नही, प्रायश्चित्त, सेवाभाव, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि क्रियाओ का निरूपण जैन एवं बौद्ध तप मे समान रूप से हुआ है। इस प्रकार प्रवृत्तियो को संयमित करने एवं शारीरिक क्रियाओं को नियंत्रित करने के लिए तीनो परम्पराओ मे तप का विधान है और कहा गया है कि तप के लिए शून्यागार, जंगल, नदी का किनारा, निर्जन या एकांत स्थान उपयुक्त हो सकते है। तंत्रयोग मे तप अथवा ध्यान का स्थान श्मशान है अथवा वह शव के ऊपर किया जाना विहित है।

गुरु की महत्ता—योगसाधना एकाकी रूप से कभी नही हो सकती, यद्यपि आध्यात्मिक मार्ग स्वानुभव की चीज है, परन्तु जब तक आत्म-सिद्धि के अनेक उपायो का परिचय किसी के द्वारा नही होता, तब तक साधक योगी को आध्यात्मिक मार्ग पर चलना सुलभ प्रतीत नहीं होता। इसीलिए योग-मार्ग मे आरूढ होने के पहले दीक्षा-संस्कार का विधान करीब-करीब सभी योग परम्पराओ मे है तथा गुरु का महत्त्व स्वीकार किया गया है। गुरु जहा नवशिक्षितो का मार्ग दर्शन करता है, यौगिक विधि-विधानों का निर्देशक होता है वहां लब्धियो के प्रति अभिमुख योगियो को चेतावनी देकर सही मार्ग पर लाने का उपक्रम भी करता है।

प्राणायाम की अनावश्यकता—पातंजल योगदर्शन प्राणायाम का उल्लेख करता है, लेकिन योगसाधना के लिए उसे उपयुक्त नही मानता है। हठयोग, नाथयोग आदि प्राणायाम को महत्त्व देते हैं। हठयोग में तो इसके अन्तर्गत नाडियो के द्वारा शरीर शुद्धि की क्रिया को महत्त्व-पूर्ण माना गया है। नाथयोग यद्यपि शरीर-शुद्धि के निमित्त प्राणा-याम को महत्त्व देता है, तथापि उसे अन्तिम साध्य के रूप मे स्वीकार नही करता। बौद्ध परम्परा में तंत्रयान प्राणायाम को प्रमुख मानता है, इसीलिए तंत्रयान के ग्रन्थो मे उसकी विस्तृत चर्चा हुई है। जैनयोग के अन्तर्गत प्राणायाम का विशेष अर्थ भावशुद्धि के निमित्त हुआ है, लेकिन

योग-साधना की दृष्टि से उसे अनावश्यक माना गया है, क्योंकि इसके क्रम मे श्वासोच्छ्वास पर प्रतिबंध करना पडता है तथा उसकी प्रक्रिया पूरी करने मे शक्ति एव समय खर्च होता है अर्थात् प्राणायाम करते समय योगी तप-ध्यान मे अपने स्वरूप का चिन्तन-मनन नही कर पाता, तथा बलात् मन को शान्त करने के कारण योगी आन्तरिक पीड़ा का अनुभव करता है तथा चंचल बना रहता है।

ध्यान का वैशिष्ट्य—ध्यान योग का प्रमुख साधन है, जिससे मन को एक बिन्दु पर केन्द्रित किया जाता है। इसका विधान तीनो योग-परम्पराओ मे हुआ है। योगदर्शनानुसार समाधि ही साधना की अन्तिम अवस्था है, जिसके द्वारा योगी चरम लक्ष्य पर पहुँचने में सफल होता है। उपनिषद् एवं गीता में कर्मयोग, भक्तियोग आदि के साथ-साथ ध्यान-योग के महत्त्व को भी स्वीकार किया गया है। बौद्ध योग में ध्यान की अनेक प्रक्रियाओ का उल्लेख है, जिनका सम्यक् सम्पादन अपेक्षित माना गया है। जैनयोग मे तो ध्यान का अपना एक विशिष्ट स्थान है। वस्तुत. जैनयोगानुसार ध्यान जहाँ मन की चंचल वृत्तियो को नियत्रित करके मन को स्थिर करता है वहाँ कर्मों की निर्जरा करके साधना को पूर्णता प्रदान करता है। ध्यान के चार प्रकारों मे आर्त्त और रौद्र ये दोनों अशुभ ध्यान हैं तथा धर्म एवं शुक्ल ध्यान शुभ है। ध्यान के ये प्रकार एक तरह से मनोवैज्ञानिक हैं, जिनसे मन की कुटिल तथा जटिल समस्याएं सहजतया शान्त होती हैं तथा शुभ विचारो में तारतम्य आ जाता है। ध्यान के अन्तर्गत जप का विधान भी है, जिसके द्वारा मत्रों पदों, शब्दों के माध्यम से ध्यान सिद्ध किया जाता है।

इस प्रकार तीनो परम्पराओं मे ध्यान का उद्देश्य आत्मा की पहचान या साक्षात्कार करना है। जैनयोग मे निर्दिष्ट शुक्लध्यान के प्रथम दो भेदों की योगदर्शन और बौद्धयोग के ध्यान से समानता है, साथ ही वैदिक योग परम्परा मे प्रयुक्त अध्यात्म प्रसाद और ऋतंभरा तथा जैन परम्परा के सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति मे प्राय. अर्थसाम्यता मालूम पडती है। जैन परम्परा सम्मत शुक्लध्यान मे अरिहत अवस्था अर्थात् केवलज्ञान की प्राप्ति होती है और योगदर्शनानुसार असम्प्रज्ञात समाधि में केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। जैन योग के समुच्छिन्न-क्रिया प्रतिपत्ति भी योगदर्शनसम्मत असम्प्रज्ञात समाधि जैसी है जहाँ सम्पूर्ण सस्कार विनष्ट हो जाते है और जीव विमुक्त हो जाता है।

कर्म-निर्जरा—जैन योग मानता है कि मुक्ति के लिए सम्पूर्ण कर्मो का नाश अनिवार्य है। विना सम्पूर्ण कर्म नाश के आत्मसाक्षात्कार अर्थात् आत्मा की प्राप्ति सम्भव नही है, क्योकि कर्म और आत्मा का सवध वहुत ही गाढ़ा है, कर्म के ही कारण आत्मा संसार में अनादिकाल से भटकती है। कर्मो का क्षय मोक्ष के लिए आवश्यक है। जैन योगानुसार कर्मो का कर्ता एव भोक्ता आत्मा ही है, इसीलिए आत्मा की मुक्ति की अवस्था मे कर्म से निर्लिप्त रहने का विधान है। कर्मफल भोगने में ईश्वर की कोई आवश्यकता नही है। इसके विपरीत वैदिक परम्परा में कर्मफल देनेवाला ईश्वर है। साख्य कर्मफल अथवा कर्म-निष्पत्ति में जैन-योग की ही भाँति ईश्वर-जैसे किसी कारण को नही मानता। ससार का कारण जैन मान्यतानुसार कर्म ही है, अनन्त आत्माओ के कर्म अलग-अलग हैं और उन कर्म के फलो को भोगनेवाली वे आत्माएँ भी अलग-अलग हैं। मुक्ति के लिए इन कर्मो का सम्पूर्ण क्षय करना आवश्यक है। सांख्यमत मे प्रकृति-पुरुष का संयोग ही वन्ध है और वह अनादि है। इसके अनुसार मोक्ष प्रकृति का होता है, पुरुष का नही। पातंजल योग-दर्शनानुसार बंध और मोक्ष पुरुष का ही होता है। बौद्धयोग के अनुसार नाम और रूप का अनादि सवध ही संसार है और उसका वियोग ही मोक्ष है। इस प्रकार कषाय अथवा अविद्या, माया, मिथ्यात्व आदि का नाश और आत्म-साक्षात्कार अथवा आत्मस्वरूप की पहचान ही मोक्ष है।

क्रमिक आध्यात्मिक विकास की विलक्षणता—आत्मा मोक्ष अथवा मुक्ति की अवस्था की प्राप्ति एकाएक नही करती है, वल्कि क्रमक्रम से अपने को विकसित करते हुए पूर्णता प्राप्त करती है। अत. योगी अथवा साधक का चारित्रिक अथवा आध्यात्मिक अथवा आत्मिक विकास क्रमश: होता है। आत्मविकास के इस क्रम का समर्थन तीनो परम्पराएँ करती हैं। उपनिषद् में क्रम-मुक्ति का स्पष्ट उल्लेख है। पातजल योगदर्शन एव योगवासिष्ठ में इस आध्यात्मिक विकास को भूमिका की संज्ञा से अभिहित किया गया है, वौद्ध योग-परम्परा मे इसे अवस्था कहा गया है तथा जैन-योग मे इसे गुणस्थान अथवा दृष्टि कहा है। जैन परम्परा में आध्यात्मिक विकास का वर्णन अति स्पष्टता एव सूक्ष्मता से हुआ है। आत्मविकास की क्रमिक अवस्था में अज्ञान अथवा मिथ्यात्व ही बाधक है और इसी के कारण आत्मा कर्मो से जकड़ी रहती है। ज्यों-ज्यों कर्मो

का व्युच्छेद होता है, त्यो-त्यो आत्मा अपने गुणों से अवगत होती जाती है और उसे सत्य एव असत्य वस्तु की पहचान भी होती जाती है। आठ कर्मों मे से चार घातिया कर्मो का व्युच्छेद करके आत्मा सर्वज्ञ की स्थिति को प्राप्त करती है, इसे अरिहंत अवस्था कहते हैं। यह अरिहत आत्मा अन्य मुमुक्षु जीवो को आध्यात्मिक मार्ग का उपदेश करती है तथा सम्पूर्ण लोक के वर्तमान, भूत तथा भविष्यत् काल को युगपत देखती-जानती है। इस अवस्था को पातजल योग-दर्शन मे सर्वज्ञ अवस्था कहा गया है, जो सम्प्रज्ञात समाधि के बाद प्रारम्भ होती है। लेकिन बौद्ध योग मे इस सर्वज्ञवाद का प्रतिवाद किया गया है और तर्क दिया गया है कि कोई भी व्यक्ति सर्वज्ञ होने का दावा नही कर सकता, क्योकि सर्व वस्तुओ का युगपत् ज्ञान कोई भी नही रख सकता।

मोक्ष—सर्वज्ञ अथवा अरिहत अवस्था के बाद आत्मा सिद्धावस्था को प्राप्त होती है, जहाँ शेष चार अघातिया कर्मो का भी क्षय हो जाता है। इस अवस्था मे शरीर की श्वासोच्छ्वास आदि सूक्ष्म क्रियाएँ भी रुक जाती है और आत्मा लोक के अग्रभाग मे पहुँच जाती है, जहा उसका अपना स्वतंत्र और शाश्वत अस्तित्व रहता है। वह जन्म-मरण से छूट जाती है।

मनुष्य की पूर्ण प्रतिष्ठा—वैदिक योग ईश्वर की स्वतंत्र सत्ता मे विश्वास रखता है। जैनयोग वैसा नही मानता है, क्योकि उसकी मान्यता है कि प्रत्येक जीव या आत्मा ही ईश्वर या परमात्मा बन सकता है। अज्ञान अथवा मिथ्यात्व के कारण ही जीव अपनी शक्ति को पहचान नही पाता। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति से जब वह आत्म-साक्षात्कार कर पाने मे समर्थ होता है, तब ही वह मोक्ष प्राप्त करता है। इस प्रकार योग द्वारा साधक आत्म-शक्ति की पहचान करता है और किसी बाहरी शक्ति को आत्मसात् नही करता। योग साधना के क्रम मे योगी को अनेक लब्धियो की प्राप्ति होती है, लेकिन वह उनका प्रयोग अपनी लोभवृत्ति की पुष्टि के लिए नही करता। योग के क्रम मे परचित-मनोविज्ञान की भी प्राप्ति होती है जिसके द्वारा योगी दूसरो के मन की बात समझ सकने मे समर्थ होता है। इस परज्ञान को ही जैनयोग मे मन पर्यायज्ञान कहा गया है।

योग की विभिन्न परम्पराओ मे विभिन्न मार्गो का अवलम्बन किया जाता है। कोई ज्ञानयोग की प्रमुखता मानता है तो कोई क्रियायोग

की, तो कोई भक्तियोग की। गीता मे विभिन्न योग-मार्गों का वर्णन है। वेदान्तदर्शन ज्ञानयोग पर जोर देता है। बौद्ध-परम्परा मे ज्ञान के साथ क्रियायोग का समन्वय किया गया है, परन्तु जैन योग मे क्रिया-योग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, समतायोग, ध्यानयोग आदि सभी को अपेक्षा भेद से स्वीकार किया गया है।

पारिभाषिक शब्दों की विशिष्टता—जैन-योग मे प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दो का भी अपना विशेष महत्व है, क्योकि इनका प्रयोग जैन परम्परा के वाङ्मय मे ही उपलब्ध है। जैसे 'पुद्गल' शब्द को लें। जैनयोग के अनुसार इस शब्द का अर्थ जड वस्तु है, लेकिन बौद्ध योग में इसका प्रयोग आत्मा एव चेतन के अर्थ मे है। परीषह, आस्रव एव कायोत्सर्ग शब्द जैन परम्परा के अपने शब्द हैं, जिनका उपयोग अन्यत्र नही मिलता।

इस प्रकार जैन योग अन्य योग परम्पराओ से साम्य रखते हुए भी अपनी कुछ ऐसी विशिष्टताओं का प्रतिपादन करता है, जिनका सम्बन्ध उसकी अपनी आधार-भूमि से है। चूँकि जैनयोग का मूल आधार श्रमण संस्कृति है, इसीलिए स्वभावत इसकी योगविषयक प्रक्रिया मे चारित्रिक और आध्यात्मिक गठन एव उन्नयन की पृष्ठभूमि अन्य परम्पराओ से अधिक स्थिर और सुविस्तृत है।

सहायक ग्रन्थ-सूची

(अ)

अंगुत्तरनिकाय, प्रथम भाग, अनु० भदन्त आनंद कौसल्यायन, प्रका० महाबोधि सभा, कलकत्ता, ई० स० १९५७

अथर्ववेद-सैक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, भाग ४२, मैक्समूलर, ऑक्सफोर्ड प्रेस, लंदन, १८९७

अध्यात्मकमलमार्तण्ड, राजमल्ल, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, सन् १९४४

अध्यात्मतत्त्वलोक, न्यायविजय, हेमचन्द्राचार्य जैन सभा, पाटन, ई० स०१९४२

अध्यात्मोपनिषद्, यशोविजय, केशरबाई ज्ञान भण्डार स्थापक, जामनगर, वि० सं० १९९४

अध्यात्मसार, यशोविजय, केशरबाई ज्ञान भण्डार स्थापक, जामनगर, वि०सं० १९९४

अध्यात्मरहस्य, पं० आशाधर, वीरसेवामंदिर ट्रस्ट, दिल्ली, सन् १९५७

अध्यात्म विचारणा, प० सुखलाल संघवी, गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद, ई०स० १९५८

अभिधर्मकोश, वसुबन्धु, काशी विद्यापीठ, वाराणसी, वि०सं० १९८८

अभिधान चिन्तामणि, हेमचंद्र, देवचंद्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, सूरत, १९४६

अभिधान राजेन्द्रकोश, भा० १-७, विजयराजेन्द्र सूरि, अभिधान राजेंद्र प्रचारक सभा, रतलाम, १९३४

(आ)

आचारांगसूत्रम्, प्रथम श्रुतस्कन्ध, अ० भा० श्वे० स्था० जैन शास्त्रोद्धार समिति, सन् १९५७

आत्मसाक्षात्कार (मराठी), अनु० चंद्रकला हाटे, पाप्युलर प्रकाशन, बम्बई, १९६६ ई०

आत्मरहस्य, रतनलाल जैन, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, १९४८ ई०

आत्मानुशासन, गुणभद्र, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, वि०सं० १९८६

आदिपुराण, (महापुराण) भा०१, जिनसेनाचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९५१

आध्यात्मिक विकास क्रम, प० सुखलाल संघवी, गुर्जर ग्रन्थ रत्न कार्यालय, अहमदावाद, सन् १९२८
आप्तपरीक्षा स्वोपज्ञवृत्ति, मुनि विद्यानन्द, प्रकाशक जैन साहित्य प्रसारक, बम्बई, वी० नि० सं० २४५७
आरोग्य, वर्ष २२, अंक २, अगस्त, १९६८, गोरखपुर
आरुणिकोपनिषद् (एक सौ आठ उपनिषद्), सपा० वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, प्रकाशक पाडुरग जावजी, बम्बई, चतुर्थ सस्करण सन् १९३२
आवश्यकनिर्युक्तिदीपिका, भा० १, भाष्यकार माणिक्यशेखर सूरि, जैन ग्रथमाला, सूरत, सन् १९३९
आवश्यकनिर्युक्ति, हरिभद्र, आगमोदय समिति, बम्बई, सन् १९१६
आर्हत्दर्शनदीपिका, मगलविजयजी, यशोविजय जैन ग्रथमाला, वी०सं० २४५८

(इ)

इष्टोपदेश, पूज्यपाद स्वामी, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, सन् १९५४

(उ)

उतराध्ययनसूत्रम्, भा० २-३, अनु० आत्माराम जी महाराज, जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, प्रथमावृत्ति, १९४२
उपासकाध्ययन, सोमदेवसूरि, संपा-कैलाशचंद्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, ई० सन् १९६४
उपासकदशागसूत्रम्, अनु० आत्मारामजी महाराज, संपा० इन्द्रचद्र शास्त्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, सन् १९६४

(ए)

ऐतरेय उपनिषद् (१०८ उपनिषद्), प्रकाशक पाडुरंग जावजी, बम्बई

(औ)

औघनिर्युक्ति, द्रोणाचार्यवृत्तिसहित, आगमोदय समिति, मेहसाना

(ऋ)

ऋग्वेद सहिता, सपा० श्री० दा० सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, औंध, सतारा, सन् १९४०

(क)

कठोपनिषद् (१०८ उपनिषद्), प्रकाशक-पाडुरग जावजी, बम्बई, सन् १९२२
कर्तव्यकौमुदी भा० २, रचयिता मुनि श्रीरत्नस्वामी, प्रकाशक भैरोदान जेठमल सेठिया, बीकानेर, सन् १९२५

कबीर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई सन् १९५०

कबीर की विचारधारा, गो० त्रिगुणायत, साहित्यनिकेतन, कानपुर, स० २००९

कर्मग्रन्थ भा० १-५ देवेंद्रसूरि आत्मानन्द जैन मण्डल, आगरा, १९२२

(ग)

गीता का व्यवहार दर्शन, रामगोपाल मोहता, किताब महल प्रकाशन, इलाहाबाद, १९५१

गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), नेमिचद्र, अनु० मनोहर शास्त्री, परम श्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, द्वितीय आवृत्ति, १९२८

गोम्मटसार (जीवकाण्ड), नेमिचद्र, अनु० खूबचंद्र शास्त्री, परमश्रुत प्रभावक मडल, बम्बई, १९२७

गोस्वामी, (खण्ड १, वर्ष २४, अक १२), गोस्वामी कार्यालय, प्रयाग, १९६०

(च)

चरित्तसार, चामुण्डरायविरचित, प्रकाशक माणिकचद्र दिगम्बर जैन ग्रथ-माला, बम्बई, वी० स० २४४३

(छ)

छान्दोग्य उपनिषद्, (१०८ उपनिषद्), सपा० वा०ल० शास्त्री, प्रका० पाडुरंग जावजी, बम्बई, १९३२

छहढाला, प० दौलतराम, दिगम्बर जैन स्वाध्याय मदिर, सोनगढ, वी० नि० सं० २४८७

(ज)

जिनसहस्रनामस्तोत्र, प० आशाधर, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि०स० २०१०

जीतकल्पसूत्रम्, जिनभद्रगणि, प्रकाशक बबलचंद्र केशवलाल मोदी, अहमदाबाद, वी० नि० स० २४६६

जैन आचार, मोहनलाल मेहता, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान, वाराणसी, १९६६

जैन दृष्टिसे योग, मो०गि० कापडिया, महावीर, जैन विद्यालय बम्बई, १९५४

जैनदर्शन, न्यायविजयजी हेमचद्राचार्य जैन सभा, पाटन, सन् १९५६

जैनदर्शन, महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रथमाला, वाराणसी, सन् १९५५

जैनदर्शन, मोहनलाल मेहता, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९५९

जैन-धर्म, पं० कैलाशचंद्र शास्त्री, भा०दि० जैन संघ, मथुरा, वी०नि०सं० २४७४
जैन-धर्म का प्राण, पं० सुखलाल संघवी, सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली, १९६५
जैन साहित्य का इतिहास (पूर्वपीटिका), कैलाशचद्र शास्त्री, गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वी० नि० स० २४८६
जैन साहित्य का वृहद् इतिहास (भा० १), पं० बेचरदास दोशी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान, वाराणसी, १९६६
जैन साहित्य का वृहद् इतिहास (भा०३), मोहनलाल मेहता, प्रका० वही, सन् १९६७
जैन साहित्य का वृहद् इतिहास (भा० ४), मोहनलाल मेहता एवं ही० रा० कापडिया, प्रका० वही, सन् १९६८

(त)

तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (स्वोपज्ञभाष्य); तत्त्वानुशासन, सिद्धसेन गणी, भा० २, प्रकाशक जीवनचंद साकरचंद झवेरी, सूरत, ई० स० १९३०
तत्त्वार्थराजवार्तिक, अकलकदेव, भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, सन् १९४४
तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वाति, विवेचक प० सुखलाल सघवी, भारत जैन महामण्डल वर्धा सन् १९५२ (द्वि०आ० पार्श्वनाथ विद्यालय शोधसस्थान, वाराणसी, सन् १९७६)
तत्त्वार्थसूत्रम्, टीका हरिभद्र, श्रेष्ठी ऋषभदेवजी, केसरीमलजी, जैन श्वेताम्बर सस्था, रतलाम, १९३६
तैत्तिरीयउपनिषद् (१०८ उपनिषद्), सपा० वा०ल० शास्त्री, प्रकाशक पाडुरग जावजी, बम्बई, १९३२
तत्रसार, अभिनव गुप्त, महाराजा जम्मू एण्ड काश्मीर स्टेट श्रीनगर, सन् १९१८
तत्रालोक, अभिनवगुप्त, महाराजा जम्मू एण्ड काश्मीर स्टेट श्रीनगर, सन् १९१८
तपोरत्न महोदधि, संपादक भक्तिविजयजी, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सवत् २००२

(द)

दर्शन और चिन्तन, पं० सुखलाल सघवी, जैन सस्कृति सशोधन मण्डल, बनारस, १९५७
दशवैकालिकसूत्र, श्री शय्यंभवसूरि, अगरचद भैरोदान सेठिया जैन सस्था, बीकानेर, वी० नि० सं० २४७२

दशाश्रुतस्कन्ध (टीका सहित आत्माराम जी०म०), जैनशास्त्रमाला कार्यालय, लाहोर, १९३६
द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका, यशोविजय, जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर
दीघनिकाय, संपा० जगदीश काश्यप एव राहुल साकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, प्रथम संस्करण, १९३६

(ध)

धम्मपद, धर्मरक्षित, मास्टर खेलाडी लाल ऐण्ड सन्स, बनारस, १९५३
धर्मबिन्दु, हरिभद्र सूरि, आगमोदय समिति, बम्बई, ई०स० १९२४
ध्यानबिन्दूपनिषद्, (१०८ उपनिषद्), संपा० वा०ल० शास्त्री, प्रकाशक पाडुरग जावजी, बम्बई, सन् १९३२
ध्यानशतक, जिनभद्र क्षमाश्रमण, विनयसुन्दर चरणग्रन्थमाला, जामनगर, वि०स० १९९७
ध्यानशास्त्र, रामसेनाचार्य, सपादक जुगलकिशोर मुख्तार, वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट, दिल्ली, सन् १९६३

(न)

नमस्कारस्वाध्याय (संस्कृत), जैन साहित्य विकास मण्डल, बम्बई, सन् १९६२
नवतत्त्वप्रकरण, विवेचक भगवानदास हरखचद, श्री हेमचद्राचार्य जैन ग्रथमाला, अहमदाबाद, सन् १९२८
नवपदप्रकरण, यशोपाध्यायरचित, प्रकाशक जीवनचद साकरचद झवेरी, बम्बई, सन् १९२७
नवपदार्थ, आ० भिक्षु, हिन्दी अनुवाद श्रीचद्र रामपुरिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, सन् १९६१
नाथ सम्प्रदाय, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नैवेद्य निकेतन, वाराणसी सन् १९६६
न्यायदर्शन (वात्स्यायन भाष्य), अनु० द्वारिकादास शास्त्री, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, सन् १९६६
नियमसार, कुन्दकुन्दाचार्य, सेण्ट्रल जैन पब्लिकेशन हाउस, लखनौ, सन् १९३१

(प)

पंचसंग्रह चद्रर्षिमहत्तर, भा० २, संपादक, विजयप्रेमसूरि, प्रका० मुक्ताबाई ज्ञान-मन्दिर, डभोई, गुजरात, सन् १९३७
पचास्तिकाय, कुन्दकुन्द; रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई, वी० स० २४३१

पंचाध्यायी, राजमल्ल, संपा० पं० देवकीनन्दन शास्त्री, गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, बनारस, वी० नि० सं० २४७६

पद्मनन्दि पचविंशति, अनु० बालचंद्र, जैन संस्कृति सरक्षक संघ, शोलापुर, सन् १९६२

परमात्मप्रकाश, योगिन्दुदेव, परमश्रुत प्रभावक मडल, बम्बई, १९२७

परमार्थसार, अभिनवगुप्त, रिसर्च डिपार्टमेंट जम्मू ऐण्ड काश्मीर, सं० १९७२

प्रमेयरत्नमाला, अनु० जयचन्द्र, अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला समिति, बम्बई

प्रवचनसार, कुन्दकुन्दाचार्य, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, सन् १९३५

प्रवचनसारोद्धार (भा० १-२), नेमिचन्द्रसूरि, देवचद लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई, सन् १९२२

प्रशमरति-प्रकरण, उमास्वाति, सं० राजकुमार जैन, परमश्रुत प्रभावक मंडल; बम्बई, सन् १९५०

प्रश्नोपनिषद् (१०८ उपनिषद्, वा० ल० शास्त्री, प्रका० पाडुरग जावजी बम्बई, १९३२

प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, क्षेमराज, ऑर्किओलाजिकल ऐण्ड रिसर्च डिपार्टमेंट, श्रीनगर, सन् १९११

प्रज्ञापनासूत्र, मलयगिरि, अनु० भगवानदास हर्षचन्द्र, शारदा भवन, जैन सोसाइटी, अहमदाबाद, सम्वत् १९९१

प्रज्ञापारमिता (भा० १) हरिभद्र, सम्पा० बी० भट्टाचार्य, ओरिएन्टल इन्स्टिट्यूट, सन् १९३२

प्राभृतसग्रह, कुन्दकुन्दाचार्य, कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैन संस्कृति सरक्षक संघ, शोलापुर, वि० सं० २०१६

पुरुषार्थसिद्धयुपाय, अमृतचन्द्र, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, वी० नि० सं० २४३१

पाहुडदोहा, रामसिंहमुनि, सम्पा० हीरालाल जैन, कारजा जैन पब्लिकेशन सोसाइटी, वि० स० १९९०

(ब)

बोधिचर्यावतार, शान्तिदेव, बुद्धविहार, लखनौ, ई० स० १९५५

बौद्धदर्शन और वेदान्त, चन्द्रधर शर्मा, स्टूडेण्ट्स फ्रेण्डस्, इलाहाबाद, सन् १९४९

बौद्धदर्शन, वलदेव उपाध्याय, प्रथम संस्करण, शारदा मन्दिर प्रकाशन, काशी, सन् १९४६

बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन (भा० १-२) भरतसिंह उपाध्याय, बंगाल हिन्दी मण्डल, कलकत्ता, स० २०११

बौद्धधर्मदर्शन, आ० नरेन्द्रदेव, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सन् १९५६ स० २४४६

बृहद्कल्प, अमोलक ऋषि, हैदराबाद-सिकन्दराबाद जैन संघ, वी०नि०स० २४४६

बृहदारण्यक (१०८ उपनिषद्), प्रका० पाण्डुरंग जावजी, वम्बई, १९३२

ब्रह्मविन्दूपनिषद्, वही

(भ)

भगवद्गीता, सुरेशचन्द्र मुखोपाध्याय, कन्ट्रोलर आफ चैरिटीज, अवागढ, सन् १९२३

भगवतीसूत्र, घासीलाल जी महाराज, प्रका० अ० भा० श्वे० स्थान० जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, १९६१

भागवतपुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर, सवत् २०१३

भारतीय दर्शन, वलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, काशी, १९५७

भारतीय दर्शन (भा० १), राधाकृष्णन्, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, सन् १९६६

भारतीय संस्कृति मे जैन धर्म का योगदान, डा० हीरालाल जैन, मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल, १९६२

भारतीय संस्कृति और साधना (भा० २), गोपीनाथ कविराज, विहार राष्ट्र-भाषा परिषद्, पटना, १९६३

(म)

मज्झिमनिकाय, राहुल साकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९३३

मनोनुशासन, आ० तुलसी, जैन भारती, वर्ष २, अक २, जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता प्रकाशन, सन् १९६९

महाभारत, गीताप्रेस, गोरखपुर, सवत् २०२१

मिलिन्दप्रश्न, नागसेन, वर्मी धर्मशाला, सारनाथ, वाराणसी, सन् १९३७

मुण्डकोपनिषद् (१०८ उपनिषद्), सम्पा० वा० ल० शास्त्री, प्रका० पाडुरग जावजी, वम्बई, सन् १९३२

मूलाचार, वट्टकेर, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, वम्बई, वी० नि० स० २४४९

मूलाराधना, शिवाचार्य (बलात्कारगण), जैन पब्लिकेशन, कारजा, १९३५

(य)

यशस्तिलकचम्पू, सोमदेवसूरि, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, सन् १९०१

योगकुण्डल्योपनिषद् (१०८ उपनिषद्), प्रका० पाडुरंग जावजी, बम्बई, ई० १९३२

योगचूडामणि उपनिषद् वही

योगांक (विशेषांक), कल्याण, भा० १०, अंक १-३, गीताप्रेस, गोरखपुर, सन् १९३५

योगतत्त्वोपनिषद् (१०८ उपनिषद्), प्रका० पांडुरग जावजी बम्बई, सन् १९२२

योगदर्शन, पतजलि, गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् २०११

योगदर्शन (व्यासभाष्य), ब्रह्मलीन मुनि, सूरत, सन् १९५८

योगदर्शन, सम्पूर्णानन्द, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, लखनौ, ई९ १९६५

योगदृष्टिसमुच्चय, हरिभद्र विजयकमल केशर ग्रन्थमाला, खम्भात, वि० सं० १९९२

योगप्रदीप, मंगलविजय, हेमचन्द्र सावचन्दशाह, कलकत्ता, वी० स० २४६६

योगप्रदीप, अज्ञात, जैन साहित्य विकास मण्डल, बम्बई, ई० १९६०

योगविन्दु, हरिभद्र, जैन धर्म प्रचारक सभा, भावनगर, सन् १९११

योगविन्दु, हरिभद्र,जैन ग्रन्थ प्रसारक सभा, अहमदावाद, सन् १९४०

योगमनोविज्ञान, शान्तिप्रकाश आत्रेय, दी इण्टरनेशनल स्टैण्डर्ड पब्लिकेशन, वाराणसी, सन् १९६५

योगवासिष्ठ, सम्पादक वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, प्रका० तुकाराम जावजी, द्वितीय आवृत्ति, बम्बई, सन् १९१८

योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त, भीखनलाल आत्रेय, तारा पब्लिकेशन, वाराणसी, सन् १९६५

योगविंशिका तथा पातजल योगदर्शनवृत्ति, यशोविजय, संपा० पं० सुखलाल संघवी, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, सन् १९२२

योगसार, अज्ञात, जैन साहित्य विकास मण्डल, बम्बई, सन् १९६०

योगसार, योगिन्दुदेव, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, सन् १९३७

योगसार प्राभृत, अमितगति, सपा० जुगलकिशोर मुख्तार, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, सन् १९६८

योगशतक, हरिभद्र, संपा० इन्दुकला झवेरी, गुजरात विद्या सभा, अहमदावाद, सन् १९५६
योगशास्त्र : एक परिशीलन, अमरमुनि, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, सन् १९६३
योगशास्त्र, हेमचन्द्र, ऋषभचन्द जौहरी, किशनलाल जैन, दिल्ली, सन् १९६३
योगशास्त्र, हेमचन्द्र, अनु० केशरविजय जी, विजय केशर ग्रंथमाला, बम्बई, वि० स० २४५०
योगशास्त्र, हेमचंद्र, संपा० गो० जी० पटेल, जैन साहित्य प्रकाशन समिति, अहमदावाद, १९३८
योगी सम्प्रदाय विकृति, अनु० चद्रनाथ योगी, प्रका० शिवनाथ योगी, शाहीवाग, अहमदावाद, सन् १९२४
योग समन्वय, सच्चिदानन्द सरस्वति महाराज, विश्व शान्ति सघ, दिल्ली, सन् १९५१
योगशिखोपनिषद् (१०८ उपनिषद्), प्रका० पाडुरंग जावजी, बम्बई, सन् १९३२

(र)

रत्नकरण्ड श्रावकाचार, समतभद्र, प्रका० माणिकचंद दि० जैन ग्रंथमाला वम्बई, वी० सं० २४५१

(ल)

लाटीसहिता, राजमल्ल, संपा० दरबारीलाल, माणिकचद दि० जैन ग्रथमाला, वम्बई, वि० सं० १९८४
लेश्याकोश, मोहनलाल वाठिया—चोरडिया, डोवरलेन, कलकत्ता, सन् १९६६

(व)

वसुनन्दि श्रावकाचार, सम्पा० हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९५२
विंशतिविंशिका, हरिभद्र, सपा० डा० अभ्यकर, आर्यभूषण मुद्रणालय, पूना, सन् १९३२
विशुद्धिमार्ग (भा० १-२), बुद्धघोष, महाबोधि सभा, सारनाथ, सन् १९५६
विसुद्धिमग्ग, बुद्धघोष, भारतीय विद्या भवन, सन् १९४० ई०
विशेषावश्यक (भा० १-२), जिनभद्र, संपा० दलसुखभाई मालवणिया, ला० द० भारतीय स० विद्यामदिर, अहमदावाद, सन् १९६६ तथा ६८
विशेषावश्यकभाष्य (भा० ६), जिनभद्र, यशोविजय जैन ग्रंथमाला, वीनि० सं० २४३९

वैदिक योगसूत्र, हरिशंकर जोशी, चौखम्बा प्रकाशन, बनारस, १९६७
वैशेषिकदर्शन, कणाद, सपा० शंकरदत्त शर्मा, मुरादाबाद, सन् १९२४

(श)

शाण्डिल्योपनिषद् (१०८ उपनिषद्), संशा० वा० ल० शास्त्री, प्रका० पाण्डुरंग जावजी, बम्बई, सन् १९३२
शान्तसुधारस, अनु० मनसुखभाई की० मेहता, प्रका० भगवानदास म० मेहता, भावनगर, वी० स० २४६२
श्वेताश्वतरोपनिषद् (१०८ उपनिषद्), प्रका० पांडुरंग जावजी, बम्बई, ई० १९३२
शैवमत, डा० यदुवंशी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सन् १९५५

(ष)

षट्खण्डागम (खण्ड ४, पुस्तक ९), सपा० डा० हीरालाल जैन, शि० ल० जैन साहित्योद्धारक फंड कार्यालय, अमरावती, ई० १९४९
षोडशक प्रकरण, हरिभद्र, जैनानन्द पुस्तकालय, गोपीपुरा, सूरत, वी० सं० २४६२

(स)

सभाष्य तत्त्वार्थाधिगमसूत्र, उमास्वाति, मणिलाल रेवाशंकर झवेरी, बम्बई, १९३२
समवायांग, स्थानांगसूत्र, संपा० पं० दलसुखभाई मालवणिया, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, १९५५
समवायांग, सपा० मुनि कन्हैयालाल, आगम अनुयोग प्रकाशन, दिल्ली, सन् १९६६
समयसार, कुन्दकुन्द, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५०
समाधितंत्र, पूज्यपाद, सपा० जुगलकिशोर मुख्तार, वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट सरसावा, सन् १९३९
समाधिमरणोत्साहदीपक, सकलकीर्ति, अनु० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री, वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट प्रकाशन, दिल्ली, सन् १९६४
सरमत का सरभंग सम्प्रदाय, धर्मेन्द्र शास्त्री, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, सन् १९५९
स्कन्दपुराण (भा० १), राजा विनेंद्र स्ट्रीट, कलकत्ता, सन् १९६०

सर्वार्थसिद्धि, पूज्यपाद, सपा० पं० फूलचद्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, सन् १९५५

सर्वदर्शनसंग्रह, माधवाचार्य, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, सन् १९६४

स्मृतियाँ (भा० १–२), संपा० रामशर्मा, सस्कृति संस्थान, बरेली, सन् १९६६

संयुक्तनिकाय, जगदीश काश्यप, महाबोधि सभा, सारनाथ, सन् १९५४

सागारधर्मामृत (भाग १–२), पं० आशाधर, सरल जैन ग्रथ भण्डार, जबलपुर, वि० सं० २४८२

सांख्यकारिका, कृष्णमुनि, स्वामी नारायण ग्रथमाला, वडताल, गुजरात, सन् १९३७

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, सपा० डा० ए० एन० उपाध्ये, रायचन्द्र आश्रम अगास, सन् १९६०

स्थानागसूत्र, सपा० घासीलाल जी महाराज, अ० भा० श्वे० स्थान जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, १९६४–६५

सावयधम्मदोहा

सुत्तनिपात, अनु० भिक्षु धर्मरत्न, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९५१

सूत्रकृताग (प्रथम खण्ड), संपा० डा० पी० एल० वैद्य, मोतीलाल प्रकाशन, पूना, १९२८

सेकोद्देशटीका (नाद पाद), ओरिएण्टल इंस्टिट्यूट, बड़ौदा, १९४१

(ह)

हठयोगप्रदीपिका, थिऑसॉफिकल् पब्लिकेशन हाउस, अड्यार, सन् १९४९

हरिवंशपुराण, जिनसेनाचार्य, सपा०, पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९६२

हिन्दी विश्वकोश (भाग ९), नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सन् १९६७

हैमधातुमाला, गुणविजय, जैन ग्रंथ प्रकाशक सभा, द्वितीयावृत्ति, अहमदाबाद, सन् १९३०

(क्ष)

क्षुरिकोपनिषद् (१०८ उपनिषद्), प्रका० पाडुरंग जावजी, बम्बई, सन् १९३२

(त्र)

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् (१०८ उपनिषद्)—प्रकाशक पाडुरंग जावजी, बम्बई, सन् १९३२

(ज्ञ)

ज्ञानसार, पद्मसिंह, टीका० त्रिलोकचन्द, मू० कि० कापडिया, दिगंबर जैन पुस्तकालय, सूरत, वी० स० २४७०

ज्ञानार्णव शुभचन्द्र, संपा० प० बालचन्द्र शास्त्री, जैन संस्कृति सघ, सोलापुर सन् १९७७ तथा सपा०पन्नालाल बाकलीवाल, परम श्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, १९२७

ज्ञानेश्वरी (मराठी), संपा० श० वा० दाण्डेकर, प्रसाद प्रकाशन, पूना, सन् १९५३

०

REFERENCES

Abhinavagupta, An Historical and Philosophical Study, K. C. Panday, Chwakhamba Bhavan, Varanasi, 1963

Ethical Doctrines in Jainism, K. C. Sogani, Jain Samskriti Sanrakshaka Sangha, Sholapur, 1967.

Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol. 12, Edited J Hastings, New-York, 1921.

Gorakhnath and the Kanafata Yogis, G. W. Briggs, Y. M. C. A. Publishing House, Calcutta, 1938.

History of Ancient India, R. S. Tripathi, Motilal Banarasidass Varanasi, 1960.

Indian Philosophy, Vol. I, Radhakrishan, Gorge Allen and Unwin Ltd (Revised), London, 1929

Jain Yoga, R Williams, Oxford University Press, London, 1963.

Jain Ethics, Dayanand Bhargava, Motilal Banarasidass, Delhi, 1968.

Jain Psychology, Mohanlal Mehata, Sohanlal Jain Dharm Pracharak Samiti, Amritsar, 1955.

Modern Review, August, Calcutta, 1932.

Mohen-Jodaro And the Indus Civilization, Vol I, Sir J. Marshall, London, 1931.

Mysticism in World Religion, Sidney Spencer, Penguina Books Ltd, England, 1963.

Siddha Siddhant Paddhati and other works of Nath Yogis, K Mallik, Poona Oriental Book House, 1954.

Studies in Jain Philosophy, N. Tatia, Jain Cultural Research Society, Banaras, 1951.

The Heart of Jainism, Mrs. S. Stevenson, Oxford University Press, London, 1915.

The Key of Knowledge, C. R. Jain, Allahabad, 1928.

The Brahma Sutra, Radhakrishnan, Gorge Allen and Unwin Ltd., London, 1960.

Tibetan Yoga and Secret Doctrines, Edited, W. Y. Evans Wentz 2nd ed, Oxford University Press, London, 1958.

Viveka Chudamani, Samkaracharya, Advaita Ashram, Almora, 1932.

Yoga System of Patanjali, J. H. Woods, Motilal Banarasidass, Banaras, 1966.

Yoga Philosophy, S. N. Dasgupta, Calcutta University, 1930.

Yoga Philosophy V R. Gandhi, Agamoday Samiti, Bombay, 2nd, ed, 1924.

Yoga Immortality and Freedom, Translated from French by Willard R. Trask, Pantheon Books, New York, 1951.

Yoga, Ernest Wood, Penguin Book Ltd., (Reprint), England, 1965.

Yoga-sastra (Shiva Samhita and Gherand Samihita) ed. B D. Basu, Sacred Book of the Hindus, 2nd ed., Allahabad 1925.

Yogic Poweres And God Realisation, V. M. Bhatt, Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay, 1964.

शब्दानुक्रमणिका